श्रीमद्भगवद्गीता-धर्मदर्शन-भाष्यम्

भाषा-विवरणोपेतम् (तृतीयो भागः)

गीताप्रमाणं हिन्दूधर्म-निर्वचनम्

गीता का दूसरा अध्याय

(श्लोक ३९-७२) - 3

(भाष्य के रूप में हिन्दूधर्म का प्रामाणिक निर्वचन)

लेखक

डा॰ गिरिधारी लाल चतुर्वेदी

बृजरानी पब्लिकेशन, छत्ताबाजार, मथुरा

डा. गिरिधारीलाल चतुर्वेदी की पुस्तक 'श्रीमद्भगवद्गीता-धर्मदर्शन-भाष्यम्', अधुनातन सन्दर्भों में हिन्दूधर्म का प्रामाणिक विवरण है. गीताभाष्य-परम्परा को इससे एक सर्वथा नया आयाम मिला है. भाष्य के साथ हिन्दी विवरण भी दिया गया है, जिससे पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ जाती है. संस्कृत भाषा में, सम्भवतः हिन्दी में भी, धर्मदर्शन के क्षेत्र में यह प्रथम कोटि का मौलिक योगदान है, इसमें कोई सन्देह नहीं है.

डा. शिवशेखर मिश्र
प्रौफेसर एवं पूर्व विभागाध्यक्ष,
संस्कृतविभाग, लखनऊविश्वविद्यालय

श्रीमद्भगवद्गीता के ऊपर अब तक लिखे गये शतशः ग्रन्थों के मध्य *श्रीमद्भगवद्गीता-धर्मदर्शन-भाष्य* अपना अलग से वैशिष्ट्य रखता है. इसमें गीता से सम्बद्ध पारम्परिक समस्याओं से हट कर उन विषयों को उद्घाटित किया गया है जिनका आज के हिन्दूधर्म और उसकी समस्याओं के साथ गहरा सम्बन्ध है. इस प्रयास के द्वारा भगवद्गीता जैसे शाश्वत महत्त्व के ग्रन्थ का वर्ण्यविषय की दृष्टि से नवीनीकरण के साथ धर्मदर्शन की गहनतम समस्याओं के ऊपर आधुनिक दृष्टि से पुनर्विचारणा का अवसर प्राप्त होता है. इस महान प्रयास के लिए इसके लेखक श्री चतुर्वेदीजी की जितनी प्रशंसा की जाय, पर्याप्त नहीं होगी. वे सर्वथा हमारे साधुवाद के पात्र हैं.

डा. सत्यप्रकाश सिंह,
निदेशक, धर्मीहिन्दुजा अन्तर्राष्ट्रीय भारतीयविद्या
शोधसंस्थान, दिल्ली

डा. चतुर्वेदि-महाभागेन विरचितं श्रीमद्भगवद्गीता-धर्मदर्शन-भाष्यमवधानेन परिशीलितम्. परम्परायां प्राप्तस्य शास्त्रस्य वर्तमानसन्दर्भे क्रोडीकृतानां विवेचनानाञ्च साधुपरीक्षणं कृत्वा तुलनात्मकधिया धर्मदर्शनश्रितभाष्यं निर्मितमित्यविकलं तत्त्वमुदञ्चति. नानाविकल्पाक्षेपनिरसनपुरः सरमध्यवसायमण्डितमिदं गीताभाष्यपरम्परायामभिनवदृष्ट्याचुम्बितां पद्धतिमाश्लिष्यति. ग्रन्थस्यास्य विश्वस्मिन् समादरो भविष्यतीति मदीयः प्रत्ययः.

डा.अमरनाथपाण्डेयः
पूर्वाचार्याध्यक्षः, संस्कृतविभागः
काशीविद्यापीठम्, वाराणसी

श्रीमद्भगवद्गीता-धर्मदर्शन-

भाष्यम् (भाग-3)

त्वदीय वस्तु गोविन्द

तुभ्यमेव समर्पये

श्रीमद्भगवद्गीता-धर्मदर्शन-भाष्यम्

भाषा-विवरणोपेतम् (तृतीयो भागः)

गीताप्रमाणं हिन्दूधर्म-निर्वचनम्

गीता का दूसरा अध्याय

(श्लोक ३९-७२)

(भाष्य के रूप में हिन्दूधर्म का प्रामाणिक निर्वचन)

लेखक

डा. गिरिधारी लाल चतुर्वेदी

बृजरानी पब्लिकेशन, छत्ताबाजार, मथुरा

बृजरानी पब्लिकेशन
२७६, गली सेठ भीकचंद
छत्ता बाजार, मथुरा
सहयोग : नीताप्रकाशन, नई दिल्ली

वितरक :

१. इण्डियन बुक डिपो,
अमीनाबाद, लखनऊ

२. मोतीलाल बनारसीदास
चौक, वाराणसी

प्रथम संस्करण : २००९

मूल्य रु. ३५०/-

सर्वाधिकार लेखक में सुरक्षित

आत्मनिवेदन

गीता के दूसरे अध्याय पर भाष्य के रूप में लगभग ७०० पृष्ठ का ग्रन्थ तैयार हुआ. ग्रन्थ का विषय गंभीर है और यह यथोचित मनन का विषय बन सके, अतः इसका दो भागों में प्रकाशन किया जा रहा है. पहले भाग में प्रारम्भ के ३८ श्लोकों पर विचार हुआ. इसके विषय थे : **'आत्मनिवेदन'**, **'गीता का दूसरा अध्याय : एक भूमिका'**, **'आर्यधर्म-समारम्भ'**, **'सांख्य-बुद्धिविचार'**, तथा **शास्त्रबुद्धिविचार**.

दूसरे भाग में ३९ से ७२ तक के श्लोकों की व्याख्या है. इसके प्रमुख शीर्षक हैं, **योगबुद्धिविचार** तथा **स्थितप्रज्ञ-प्रकरण**. इस प्रकार **'श्रीमद्भगवद्गीता धर्मदर्शनभाष्यम्'** के तीन भागों में गीता के प्रथम दो अध्यायों की व्याख्या सम्पन्न हुई है.

परम्परा में योग पर अनेक दृष्टियों से विचार हुआ है. शरीर तथा मन की व्याधियों के उपचार के रूप में योग की सम्भावनाओं ने आधुनिक विचारकों को विशेष रूप से आकर्षित किया है. वर्तमान में इस पर बहुत कुछ लिखा गया है. लेकिन आस्था के उद्धार में योग की भूमिका पर बहुत कम विचार हुआ है, शायद बिल्कुल ही नहीं. गीता में योग-विचार का यह मौलिक पक्ष है, जिसे ***'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'*** इन शब्दों में सूत्रबद्ध किया गया है. यह ध्यान देने की बात है कि यहां योग को धर्म कहा है. योग किस रूप में धर्म है, वह महाभय क्या है जिससे यह त्राण देता है, इन प्रश्नों पर यहां निकट से विचार हुआ है.

संसार में सबसे बड़ा भय आस्था के विघटन और बिखराव का है. मुखर होती अनास्था और उसके कारण आस्था के सम्भावित बिखराव को रोकने के लिए कुछ धर्मावलंबी आतंक, हिंसक प्रदर्शनों और मौत के फतवों का सहारा लेते हैं. सन्देह एवं अनास्था के विरुद्ध योग आस्था की सुरक्षा का सभ्य एवं अधिक प्रभावी विकल्प प्रस्तुत करता है. गीता के योग-चिन्तन का धर्मदर्शन के क्षेत्र में यह असाधारण योगदान है. इसका महत्त्व इसलिए और भी बढ़ जाता है क्योंकि अनन्त बिखरावों के बीच योग हिन्दूधर्म को एकीभाव की सिद्धि का मार्ग दिखाता है. गीता के पारम्परिक पाण्डित्य का ध्यान इस ओर नहीं गया तो इसलिए कि वे चिन्तन के हिन्दू-सन्दर्भ

के प्रति बहुत हद तक उदासीन थे. इस भाष्य में गीता के योगदान के इस अछूते पक्ष पर विस्तार से विचार हुआ है.

स्थितप्रज्ञ आस्था का आदर्श पुरुष है, सांख्य और योग दोनों का निर्विशेष आदर्श. यह एक फकीरी आदर्श है जिसे संसार के सभी धर्मों ने अपने अपने ढंग से स्वीकार किया है. इसकी चर्चा दूसरे अध्याय को सुतर्कित उपसंहार देती है, साथ ही धर्मदर्शन के एकमेवाद्वितीय शास्त्र के रूप में गीता के स्वरूप को रेखांकित करती है.

गीतार्थ का विवरण, उसके माध्यम से हिन्दूधर्म की व्याख्या और उसके क्रम में धर्मदर्शन की आधारभूत समस्याएं इस ग्रन्थ में विचार का विषय बनी हैं. इसके अलावा, इस ग्रन्थ की दो विशेषताएं हैं जो इसे वर्तमान एवं पारम्परिक हिन्दूधर्मचिन्तन से अलग करती हैं. पहली यह कि इसमें सामान्य रूप से कही बातों को सैद्धान्तिक आधारों में प्रतिष्ठित करते हुए एक व्यापक धर्मदर्शन की परिकल्पना की गई है. दूसरी विशेषता यह है कि यह ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता पर संस्कृत-भाष्य के रूप में है. इसका प्रयोजन धर्माचार्यों, पंडितों और कथावाचकों को आस्था की अधुनातन चुनौतियों की चेतना में जागृत करना है, जिनमें से अधिकांश, सामने उपस्थित हिन्दू-यथार्थ को नकारते हुए आज भी यह मानने में जुटे हैं कि संस्कृत चिन्तनपरम्परा के लिए विजातीय होने के कारण हिन्दूधर्मचिन्ता अप्रामाणिक है. इस पुस्तक को पढ़ कर पारम्परिक पाण्डित्य यदि अपने ऐतिहासिक सन्दर्भ और पहचान से उत्पन्न दायित्वों के प्रति थोड़ा सा भी जागरूक होता है तो मैं अपने इस अध्यवसाय को सफल मानूंगा.

गिरधारीलाल चतुर्वेदी,
२७१, बिड़लाहाल, राणाप्रताप मार्ग,
मोतीमहल, लखनऊ-२२६००१

कार्तिक १५, संवत्-२०६५

■ ■ ■

विषयानुक्रमणिका

आत्मनिवेदन -- ... १-२

विषयानुक्रमणिका -- ... ३-२०

चतुर्थ-परिच्छेदः

योगबुद्धिविचारः (श्लो. ३९-५३) २१-२०९

परिच्छेद-समारम्भः २१-२८

प्रथम एककः (श्लो. ३९-४०) २९-५२

भाष्यम् २९-३३

हिन्दी व्याख्या : ३३-५२

एकक विमर्श : ३३

१. **विभागवचन विचार :** ३३-३७

१.१. '*एषा तेऽभिहिता सांख्ये*' की व्याख्या : ... ३३-३४

१.२. विभागवचन में 'बुद्धि' पद का अर्थ : स्वामी रामसुखदासजी की व्याख्या : ... ३४

१.३. स्वामीजी की व्याख्या का आकलन : ... ३४-३७

२. **गीता में 'समभाव', 'कर्मयोग', 'बुद्धियोग' और 'नैष्कर्म्य' शब्दों के अर्थ :** ... ३७-४१

२.१. इनके व्याख्यान की दो पद्धतियां, सक्रम और सघन(वर्तुल) ... ३७

२.२. व्याख्या का रैखिक(सक्रम) कल्प : उक्त पारिभाषिक शब्दों के बीच इसका अनुसंधान : ... ३७-३९

२.३. सघन(वर्तुल) व्याख्याकल्प : ... ३९-४०

२.४. आदर्श व्याख्याकल्प : ... ४०-४१

३. योगधर्म की प्रशस्ति : ... ४१-४२
३.१. एक अभूतपूर्व मूल्यदर्शन से परिचय : ... ४१
३.२. फलश्रुतियों का एकीकृत संज्ञान : ... ४१-४२
३.३. प्रस्तुत फलश्रुतियों के बीच तारतम्य : ... ४२
४. फलश्रुति-विचार : तन्मुखेन कर्मयोग के स्वरूप का निर्वचन : ... ४२-४५
४.१. नैवं पापमवाप्स्यसि : ... ४२-४३
४.२. कर्मबन्धं प्रहास्यसि : ... ४३
४.३. नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति : ... ४३-४४
४.४. प्रत्यवायो न विद्यते : ... ४४-४५
४.५. कर्मबन्धं प्रहास्यसि : ... ४५
५. कर्मबंधन है क्या ? ... ४६-४७
६. कर्मबन्धन से मुक्ति की सम्भावनाएं : ... ४७-४८
६.१. पारम्परिक चिन्तन : ... ४७-४८
६.२. बंधन-मुक्ति के उपायों के बीच कर्मयोग का वैशिष्ट्य : ... ४८
७. योगधर्म का महाभय से आश्वस्त करने वाला स्वरूप : ... ४९-५२
७.१. महाभय के रूप : अस्तित्वमूलक और नैतिक : ... ४९
७.२. महाभय का अस्तित्वमूलक स्वरूप : ... ४९-५०
७.३. आस्था का विघटन :
नैतिक (धर्मदर्शन की) दृष्टि से महाभय का रूप : ... ५०-५१
७.४. धार्मिक-विश्वास के रूप में पलती विस्तारवादी आकांक्षा :
महाभय का तीसरा रूप : ... ५१-५२

द्वितीय एककः (श्लो. ४१-४४) --- ... ५३-७०
भाष्यम् : --- ... ५३-५७
हिन्दी व्याख्या : --- ... ५८-७०
१. एक उलझन में डालने वाला प्रसंग :
एक बुद्धिविभाग के तुरंत बाद दूसरे बुद्धिविभाग की चर्चा : ... ५८-५९
१.१. स्पष्टीकरण : ... ५८
१.२. आस्था का एकीभाव : प्रकृत एकक का केन्द्रीय विचारबिन्दु : ... ५८-५९

२. **एकक की संरचना :**

क, ख, ग उपशीर्षकों से परिकल्पित तीन विभाग : ... ५९-६०

३. आस्था का एकीभाव : धर्मदर्शन की आधारभूत समस्या : ... ६०-६१

४. प्रकृत एकक की अधिकारसूत्रता : ... ६१

द्वितीय एकक:{क} (श्लो.४१)

५. श्लोक *'व्यवसायात्मिका बुद्धिः ...'* ... ६२-६५

५.१. श्लोक की व्याख्या के लिए अध्याहार और समन्वय के सूत्र : ... ६२

५.२. बुद्धि के विभाग : व्यवसायात्मक और अव्यवसायात्मक : ... ६२-६४

५.३. *'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन'...* : व्याख्या ... ६४-६५

५.४ *'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ...'* : व्याख्या ... ६५

६. एकीभाव की तात्त्विक कोटि : ... ६५-६६

७. एकीभाव की यात्रा :

बौद्धिक विनिश्चय से ले कर तात्त्विकभावावगति पर्यन्त : ... ६६

८. आस्था का सक्रम परिकल्प ... ६७

९. व्यवसाय का स्वरूप : ... ६७-७०

९.१. व्यवसाय का इतर-व्यतिरेकी विमर्श (अनन्याश्रयत्व) : ... ६८-६९

९.२. अनन्योपासना की उभयमुखी सम्भावनाएं : ... ६९

९.३. व्यवसायात्मिका बुद्धि के सार्थक व्यवहार का निदर्शन : ... ६९-७०

द्वितीय एककः {ख} (श्लो. ४१-४३) ... ७१-९४

भाष्यम् ... ७१-७५

हिन्दी व्याख्या : ... ७५-९४

सन्दर्भ विचार : ... ७५

(क). *'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्'* ...

१. अव्यवसायात्मिका बुद्धि का लक्षण : ... ७५-७६

१.१. अनास्था एक बुद्धिदोष(बौद्धिक बीमारी) है, पाप नहीं ... ७६-७७

१.२. बुद्धिदोष (अव्यवसायात्मकता) का उद्भवमूल : कामनाएं और उनके भोगवादी जीवनादर्श : ७७

२. **अव्यवसायात्मिका बुद्धि : उपादान और प्रपंच-विस्तार :** ... ७७-७८

२.१. *यामिमां पुष्पितां वाचं ... भोगैश्वर्य गतिं प्रति :*

कथ्य की संरचना : ... ७८

२.२. तदनुसार अव्यवसाय की व्याख्या का सप्त-पदीय कल्प : ... ७८

३. **अव्यवसायात्मिका बुद्धि से प्राप्त आपातरमणीय जीवनादर्श :** ... ७८-८२

३.१. 'कामात्मवाद' का अर्थ : ... ७९-८०

३.२. कामात्मवाद का धर्म में रूपान्तरण : ... ८०-८१

३.३. उक्त रूपान्तरण के लिए तीन न्यूनतम मूलमान्यताएं :

सनातनभोक्ता (आत्मा), लोकोत्तर भोगभूमि (स्वर्ग)

तथा प्रमाणभूत शास्त्र : ... ८१-८२

३.४. वेदवाद : धर्म में रूपान्तरित कामात्मवाद का मूर्तरूप : ... ८२

४. **वेदवाद पर विशेष विचार :** ... ८२-८६

४.१. मूल मान्यताएं : वेदवाद संज्ञा के निहितार्थ : ... ८२-८३

४.२. **'वेदवाद'** का मूर्तरूप : ... ८३-८६

क) पुष्पितवाक् *: यामिमां पुष्पितां वाचं ....' :* ... ८३

ख) भोक्तृ-सातत्य : *'जन्मकर्मफलप्रदाम् ...' :* ... ८३-८४

ग) भोग-सातत्य : *'जन्मकर्मफलप्रदाम् ....' :* ... ८४-८५

घ) तत्तद् भोगों के लिए विशेष कर्मविधान : *क्रियाविशेष बहुलाम्*

उनकी अपेक्षा से आस्था का शाखा-प्रशाखाओं में विभाजन ... ८५-८६

४.३. **वेदवाद,** पुस्तकपंथ का उपलक्षण :

तन्मुखेन सभी पुस्तकपंथ गीता की आलोच्य कोटि में : ८६-८७

५. **वेदवाद, हिन्दू आस्था का आधारभूत सन्दर्भ :** ... ८८-९०

५.१. वैदिक-वाङ्मय को विधान में रूपान्तरित करने का एक

प्रयोग जो सफल नहीं हो सका : ... ८८-८९

५.२. **असफलता के दो फलितार्थ :** केन्द्रीय अनुशासन के अभाव में

आस्था के विघटन की अनिर्बन्ध प्रक्रिया, तथा पुस्तकीय अनुशासन से

परे, आस्था में एकीभाव के परापुस्तकीय आधारों का अनुसंधान : ... ८९-९०

६. *'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्'* :
हिन्दूधर्म के बिखराव पर विचार के योग्य, एक गंभीर टिप्पणी : ... ९०-९४
६.१. गीता में बिखराव का विश्लेषण : ... ९०-९१
६.२. बिखराव के हिन्दू परिदृश्य का विहंगावलोकन : ... ९१-९२
६.३. समस्या की विकरालता :
उसे बिना समझे सतही समाधानों की भरमार : ... ९२-९३
६.४. गीता का निर्णय :
आस्था में एकीभाव की सिद्धि के लिए योग का उपदेश : ... ९३-९४

द्वितीय एकक: {ग} (श्लो. २४) ...९५-११८
भाष्यम् --- --- ... ९५-९९
हिन्दी व्याख्या : --- --- ... ०-११८
१. **श्लोक *'भोगैश्वर्यप्रसक्तानां ...'* : सामान्य अर्थ :** ... १००-१०१
२. **सम्भावनाओं से युक्त, एक कठिन व्याख्येय :** ... १०१
३. **पंक्ति *'भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ...'* :** ... १०२-१०४
३.१. व्याख्येय पंक्ति का विश्लेषण : ... १०२
३.२. अव्यवसाय का वस्तुगर्भ : भोग और ऐश्वर्य की लालसा : ... १०२-१०३
३.३. मनोभूमि के भेद से एकीभाव के दो कल्प :
शास्त्रनिष्ठ और साधनानिष्ठ : ... १०३
३.४. विधिनियोजित एकीभाव : उसका समीक्षार्ह पक्ष : ... १०४
४. **एकीभाव का मनोविज्ञान :** ... १०५
५. **एकीभाव का साधनामूलक-कल्प :** ... ०६-१०७
५.१. 'व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते' की व्याख्या : ... १०६
५.२. बिखरावों के बीच आस्था के एकीभाव की साधना : ... १०६-१०७
६. **साधना द्वारा एकीभाव की सिद्धि के कुछ रूप :** ... १०७-११३
६.१. ज्ञानयोग (सांख्य) : ... १०७
६.२. कर्मयोग : ... १०७-११०
६.३. ध्यानयोग : ... ११०
६.४. भक्तियोग : ... ११०-१११

६.५ पर्यायाक्षिप्त एकीभाव : ... १११
६.६. इतरभावानुपपत्ति : ... १११
६.७. सर्वत्र इष्टदर्शन : ... ११२
६.८. विभूतियोग : ... ११२-११३
६.९. परमात्मा के विराट रूप में बहुत्व और बिखराव का विसर्जन : ... ११३
७. साधना के द्वारा एकीभाव : एक विशुद्ध हिन्दू-धर्मयात्रा : ... ११३-११८
७.१. गीता में इसका निर्वचन : ... ११३-११४
७.२. साम्प्रदायिक अनुशासन से प्राप्त अनन्याश्रयत्व : एक अपर्याप्त कल्प : ... ११४
७.३. हिन्दू के लिए उपास्यैकत्व (तौहीद) का अर्थ : ... ११४-११५
७.४. विभाजन और बिखराव की त्रासदी झेलते हिन्दूधर्म के उद्धार में योग की भूमिका : ... ११५-११६
७.५ पारम्परिक उपासना में योग के तत्त्व : ... ११६-११७
७.६. बिखरावों के बीच योग की ओर वापसी का आवाहन : ... ११७-११८
संग्रह और उपसंहार : ... ११८

तृतीय एककः (श्लो. ४५-४६) ... **११९-१४४**
भाष्यम् ... **११९-१२४**
हिन्दी व्याख्या : ... १२४-१४४
एकक विमर्श : ... १२४
१. श्लोक *'त्रैगुण्यविषया वेदा ...'* : ... १२४-१२५
१.१. धर्मदर्शन की दृष्टि से एक असाधारण महत्त्व का श्लोक : ... १२४-१२५
१.२. श्लोक का कथ्य : ... १२५
२. *'त्रैगुण्यविषया वेदाः'* का अर्थ : ... १२५-१२९
२.१. त्रैगुण्यविषयता के दायरे : पुस्तकीय और अपुस्तकीय, दोनों आस्थापर्याय इसके अन्तर्गत ... १२६
२.२. आस्था की सक्रम अवधारणा : पुस्तकीय, अपुस्तकीय, परा-पुस्तकीय : ... १२७
२.३. आस्था के एकांगी अनुशासन और उनकी संकुचित दृष्टि : ... १२७-१२९

३. *निस्त्रैगुण्यता* : त्याग का परमादर्श :
संहिताकृत-धर्मों में त्याग के संक्षिप्त पैमाने : ... **१२९-१३४**
३.१. पुस्तकपंथों में त्यागांश का रूप : ... १३०-१३२
३.२. साधनापथ में त्याग का स्वरूप : ... १३२-१३३
३.३. द्रव्यत्याग की अपेक्षा मनोपादनों के त्याग की श्रेष्ठता : ... १३३
३.४. आस्था के समस्त आलम्बनों का त्याग ही त्याग की हद : ... १३३-१३४
४. **निस्त्रैगुण्यता की निवर्तक उपपत्तियां :** ... **१३४-१३९**
४.१. समस्त धर्मोपाधियों का त्याग : निस्त्रैगुण्यता का प्राथमिक अर्थ ... १३४-१३६
४.२ 'निस्त्रैगुण्यता' का वस्तुगर्भ : ... १३६-१३७
४.३. 'निर्द्वन्द्व' और 'नित्यसत्त्वस्थ' भावों के नैतिक निहितार्थ : ... १३७-१३९
५. **निस्त्रैगुण्यता का अर्थशास्त्र :** *'यावानर्थ उदपाने ...'* ... **१३९-१४१**
६. **आस्था के परापुस्तकीय आदर्श का महत्त्व :** ... **१४१-१४२**
७. **पुस्तकपंथ की समीक्षा की दो भिन्न सैद्धान्तिक परिणतियां : योरुप में धर्मनिरपेक्ष मानववाद और भारत में धर्म की परा-पुस्तकीय अवधारणा** ... **१४२-१४४**
७.१. समीक्षा के योरुपीय सन्दर्भ : ... १४२-१४३
७.२. समीक्षा के भारतीय संदर्भ : ... १४३
७.३. संसार के लिए धर्म की परापुस्तकीय अवधारणा का महत्त्व : ... १४४

चतुर्थ एकक: (श्लो. ४७-५०) ... **१४५-१९२**
भाष्यम् ... **१४५-१५५**
हिन्दी व्याख्या : ... **१५५-१५२**
एकक विमर्श : ... **१५५**
१. **कर्मयोग चिन्तन की वैचारिक पृष्ठभूमि :** ... **१५६-१५९**
१.१ सन्दर्भ विचार : ... १५६
१.२. कर्मबंधन का स्वरूप : ... १५६-१५७
१.३. कर्मबंधन से बाहर आने की की समस्या : ... १५७
१.४. चिन्तन की मूल-सामग्री : कर्म जो बंधनकारी नहीं होते : ... **१५८-१६०**
(क) अनैच्छिक कर्म : ... १५८
(ख) अनुपालन : ... १५८

(ग) नित्यकर्म : ... १५८

(घ) लोकसंग्रह : ... १५९

१.५. उक्त तथ्यों के विश्लेषण से प्राप्त विचारसूत्र : ... १५९-१६०

२. श्लोक *'कर्मण्येवाधिकारस्ते....'* ... **१६०**

२.१. श्लोक का भावार्थ : ... १६०

२.२. प्रसंग की दुरूहता : ... १६०

३. अधिकारार्थ निरूपण : ... **१६१-१६४**

३.१. फलाधिकार : न्यायविधि का मौलिक तत्त्व ... १६१

३.२. फलाधिकार व्यवस्था का परालौकिक विस्तार :
धर्म के रूप में एक अलौकिक अर्थशास्त्र का आविर्भाव : ... १६१

३.३ अलौकिक अर्थशास्त्र की समीक्षार्हता : ... १६१-१६२

३.४ कर्मयोग : अर्थशास्त्र के बंधन से आस्था की मुक्ति का उपाय ... १६२-१६३

३.५. वैदिक कर्मकाण्ड में अधिकारविवेक :
व्याख्येय श्लोकों को समझने में इसकी प्रासंगिकता : ... १६३-१६४

३.६. *मा फलेषु कदाचन'* का अर्थ :
अधिकार और फलस्वाम्य में अन्तर : ... १६४

४. कर्मयोग की साधना का प्रथम चरण : ... **१६५-१६६**

४.१. कर्ता और कर्म के शोधन की क्रमिक साधनाएं : ... १६५

४.२. कर्तृभाव की शुद्धि की साधना :
कर्मयोग की साधना का प्रथम सोपान : ... १६५-१६६

५. विशेष विचार : ... **१६६-१७०**

५.१. बंधन का मनोभावात्मक स्वरूप : ... १६६

५.२. कर्म का मनोविज्ञान और फलाभिसंधि का अनधिकृत रूप : ... १६६-१६८

५.३. *'मा कर्मफल हेतुर्भू मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि'* :
कर्तृभाव की संशुद्धि का दूसरा सोपान : ... १६८-१६९

५.४. *फलहेतुता* और *अकर्मासक्ति* : ... १६९-१७०

६. साधना का द्वितीय चरण : *'योगस्थः कुरु कर्माणि ....'* ... **१७०-१७८**

६.१. कर्म के शोधन की साधना : ... १७०

६.२. श्लोक के कथ्य का विश्लेषण : ... १७१
६.३. प्रक्रियापथ का रेखांकन : ... १७१
६.४. 'योगस्थः' पद की व्याख्या : ... १७२
६.५. *'समत्व'* के प्राथमिक और परिनिष्ठित अर्थ : ... १७२-१७३
६.६. *धनञ्जय* सम्बोधन की सार्थकता : ... १७३
६.७. कर्मयोग की निष्पत्ति : ... १७३-१७४
६.८. कर्म : योग का सहज आलम्बन : ... १७४-१७५
६.९. स्थिर आलम्बन में ध्यान की विडम्बना : ... १७५-१७६
६.१०. साधनालाघव : कर्मयोग की व्यापक स्वीकृति का आधार : ... १७६-१७७
६.११. *'समत्वबुद्धि'* और *'बुद्धियोग'* :
कर्मयोग की साधना के पौर्वापर्य क्रम : ... १७७-१७८
७. *'दूरेण ह्यवरं कर्म ...'*
साधना का तीसरा चरण : कर्मयोग से बुद्धियोग की ओर : ... १७८-१७९
७.१. श्लोक का कथ्य : ... १७८
७.२. ***'बुद्धौ शरणमन्विच्छ'* :**
बुद्धि में ठिकाना तलाश करने का आवाहन : ... १७८-१७९
७.३. *"बुद्धियोग"* का अर्थ : ... १७९
८. बुद्धियोग की तुलना में कर्म की तुच्छता :
एक महत्त्वपूर्ण अन्तर्दृष्टि : ... १८०-१८१
९. *'कृपणाः फलहेतवः'* : कार्पण्यप्रदूषण, उसका विस्तार : ... १८१-१८५
९.१. कार्पण्यप्रदूषण का प्रमुख संवाहक :
फलाधिकार पर टिकी दिव्य-न्याय की व्यवस्था : ... १८२
९.२. कार्पण्य-प्रदूषण की बहुमुखी संक्रामकता : ... १८२-१८४
(क) मानव और उसकी आस्था का अवमूल्यन : ... १८३
(ख) फलकार्पण्य से प्रभावित परमात्मा की अवधारणा : ... १८३-१८४
९.३. सारसंग्रह : ... १८४-१८५
१०. *'बुद्धियुक्तो जहातीह...'* :
किस तरह बुद्धियोग कर्म से श्रेष्ठ है : ... १८५-१८९

१०.१. श्लोक के कथ्य का विश्लेषण : ... १८५

१०.२. *'बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते'* : व्याख्या : ... १८६

१०.३. कर्म की उन्मोचक सम्भावनाओं का अनुसंधान : ... १८६-१८८

१०.४. ***'योग: कर्मसु कौशलम्'*** : व्याख्या :

कर्म करते हुए कर्मबंधन से बच निकलने की व्यूहरचना : ... १८८-१८९

१०.५. जहां 'लौकिक' और 'धार्मिक' की विभाजनरेखा

क्षीण हो जाती है : ... १८९

११. बुद्धि की शरण में जाने का आवाहन : इसके निहितार्थ : ... १८९-१९२

११.१. आचरण के अनुशास्ता रूप में बुद्धि की प्रतिष्ठा : ... १८९-१९०

११.२. शुद्धबुद्धि से प्राप्त नैतिकता का स्वरूप : ... १९०-१९२

पंचम एकक: (श्लो.५१-५३) ... **१९३-२०९**

भाष्यम् ... **१९३-१९७**

हिन्दी व्याखया : ... **१९७-२०९**

एकक विमर्श : ... **१९७**

१. ***'कर्मजं बुद्धियुक्ता हि...'***

सम्पूर्ण कर्मयोग चिन्तन का संग्रह एक श्लोक में : ... १९७-१९८

२. पहले कहे गए साधना-सूत्रों का संग्रह : ... १९८-१९९

२.१. ***'कर्मजं हि फलं त्यक्त्वा ...'***: साधना के प्रथम चरण का संग्रह ... १९८-१९९

२.२. ***'बुद्धियुक्ता मनीषिण:'*** : साधना के द्वितीय चरण का संग्रह ... १९९

३. ***'जन्मबन्धविनिर्मुक्ता: पदं गच्छन्त्यनामयम्'*** :

फलश्रुति की व्याख्या : ... १९९-२०३

३.१. *'जन्मबन्ध'* पद का अर्थ : पीछे की ओर देखता कर्मफल : ... २००-२०१

३.२. समत्वयोग : कर्मयोग की साधना की अभावरूपा उपलब्धि : ... २०१

३.३. बुद्धियोग : कर्मयोग की भावरूपा उपलब्धि : ... २०१-२०२

३.४. *'पदं गच्छन्त्यनामयम्'* : वाक्य में *'अनामयपद'* का अर्थ : ... २०२

३.५. बुद्धियोग : *'अनामयपद'* का साधककल्प : ... २०२-२०३

४. श्लोक ***'यदा ते मोहकलिलं ...'*** :

बुद्धियोग के बारे में विशेष विचार : ... २०३-२०५

४.१. *मोहकलिल* का अर्थ : ... २०३
४.२. मोहकलिल का व्यतितरण : ... २०४
४.३. *'श्रुत* 'और *'श्रोतव्य* ' पदों के अर्थ : ... २०४-२०५
४.४. व्यतितरण के निहितार्थ : ... २०५
५. श्लोक *'श्रुतिविप्रतिपन्ना ते ...'* : धर्मदर्शन की दृष्टि से पूर्वोक्त का पुनराख्यान : ... २०६-२०९
५.१. शास्त्रों के कारण बुद्धि की अस्थिरता : ... २०६
५.२. आस्था के उद्धारक रूप में योग की भूमिका : ... २०६-२०८
५.३. योग : मानव के लिए परमात्मा का अनन्य उपहार : ... २०८
सम्पूर्ण धर्म के रूप में योग की प्रतिष्ठा : ... २०८-२०९

पंचम-परिच्छेदः

स्थितप्रज्ञ-प्रकरणम् (श्लो. ३९-५३) ... २११-३२७
परिच्छेद-समारम्भः ... २११-२२०
प्रथम एककः (श्लो. ५४) ... २२१-२२४
भाष्यम् ... २२१-२२२
हिन्दी व्याखया : ... २२२-२२४
१. अर्जुन के प्रश्न : ... २२२-२२३
२. प्रकरण की प्रश्नानुशासित-संरचना : ... २२३-२२४

द्वितीय एककः (श्लो. ५५-५६) ... २२५-२३४
भाष्यम् ... २२५-२२७
हिन्दी व्याखया : ... २२७-२३४
एकक विमर्शः ... २२७
१. *"स्थितप्रज्ञ"* : शब्दार्थ विचार : ... २२७
२. *'आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ...'* : स्थितप्रज्ञ का स्वरूप लक्षण : ... २२८-२३१
२.१. आत्मा की स्वतंत्रता, लक्षण का भावगर्भ : ... २२८

२.२. *प्रजहाति यदा कामान्...'* : स्वतंत्रता का निर्वचन : ... २२८-२२९

२.३. पारतंत्र्य एवं अस्थिरता का मूल : ... २२९-२३०

२.४. कामनाएं : पारतंत्र्य का प्रथमानुबंध : ... २३०

२.५. कामनाओं का विसर्जन :

स्थितप्रज्ञभाव की साधना की दिशा में पहला कदम : ... २३०-२३१

३. बंधन की सूक्ष्म सतहें : रागानुबंध :

कामनाओं का अविविक्त पूर्वकल्प : ... २३१-२३२

४. *'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः ....'* :

रागमूल का विसर्जन : कामनाओं वे विसर्जन की तार्किक पूर्णता ... २३२-२३४

४.१. उपवर्णनों का संग्रह करते हुए लक्षण का पुनराख्यान : ... २३३

४.२. 'सुख' और 'दुःख' से जुड़े अवान्तर मूल्य : ... २३३-२३४

४.३. 'वीतरागभयक्रोधः' पद के निहितार्थ : ... २३४

संग्रह और उपसंहार : ... २३४

तृतीय एकक: (श्लो. ५७) **... २३५-२४२**

भाष्यम् ... २३५-२३६

हिन्दी व्याख्या : ... २३७-२४२

एककविमर्श : ... २३७

१. *'यःसर्वत्रानभिस्नेहः....'* :

श्लोक का भावार्थ : ... २३७

२. *'नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता '* : व्याख्या : ... २३७-२३८

२.१. अभिनन्दन और द्वेष के व्यवहारः ... २३७-२३८

२.२. रागमूल के निराकरण की साधना का क्रम : ... २३८

३. मन-वचन-कर्म का संग्रह करता व्यक्तित्वदर्शन : ... २३८-२३९

४. कामनाओं की भांति मूल्य भी रागोपादान की उपज : ... २३९-२४०

५. *'नाभिनन्दति न द्वेष्टि'* :

कथन के सामाजिक और धार्मिक निहितार्थ : ... २४०-२४२

चतुर्थ एकक: (श्लो. ५८-६१) ... २४३-२६४

भाष्यम् ... २४३-२४८

हिन्दी व्याख्या : ... २४८-२६४

एकक विमर्श : ... २४८

१. *'यदा संहरते चायं ....'* :

निरोध के द्वारा स्थिति की साधना : ... २४९-२५०

१.१. स्थितप्रज्ञ का स्थित्यात्मक व्यवहार : ... २४९

१.२. कच्छपवृत्ति की उपमा : निहितार्थ : ... २४९-२५०

१.३. निग्रह : साधना का प्रारम्भबिन्दु : ... २५०

१.४. स्थिति की साधना : निग्रह से इन्द्रिय जय तक : ... २५०-२५१

२. श्लोक *'विषया: विनिवर्तन्ते'...'* : ... २५१-२५३

२.१. भावार्थ : ... २५१

२.२. श्लोक की व्याख्या : ... २५१-२५२

२.३. निग्रहमूलक साधना की सीमाएं : ... २५२

२.४. निग्रह का साक्षात्कारात्मक प्रज्ञा में उद्धार : ... २५२-२५३

३. विशेष विचार : ... २५३-२५४

३.१. स्थिरता की साधना : योग और तंत्र की पद्धतियां : ... २५३

३.२. वेदान्त की पद्धति : ... २५३

३.३. स्थितप्रज्ञ : सांख्य और योग दोनों का एकीकृत आदर्श : ... २५४

४. श्लोक *'यततो ह्यपि कौन्तेय....*

स्थिति की साधना में नैतिक निरोध की अपर्याप्तता : ... २५४-२५८

४.१. निरोध के उच्चतर पर्याय : नैतिक और धर्मशास्त्रीय : ... २५५

४.२. श्लोक की व्याख्या : ... २५५-२५६

४.३. इन्द्रियों द्वारा मन का अपहरण : सोदाहरण विवरण : ... २५६-२५७

४.५. नैतिकनिरोध सिर्फ अपर्याप्त है, व्यर्थ नहीं : ... २५७-२५८

५. श्लोक *"तानि सर्वाणि संयम्य..."* : ... २५८-२६२

५.१. धर्मदर्शन की दृष्टि से श्लोक का महत्त्व : ... २५८

५.२. धर्म-त्रिपुटी की परिकल्पना ... २५९

५.३. निरोधमूलक-धर्म(पुस्तकपंथ) के उद्धार में योग की भूमिका : ... २५९-२६०

५.४. इन्द्रियनिग्रह से इन्द्रियजय तक की साधना का क्रम : ... २६०-२६१

५.५. *'मत्परः'* पद के निहितार्थ : ... २६१

५.६. इस पद(मत्परः) की ईश्वरवादी व्याख्या की योग्यता : ... २६१

६. *'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः'*

हिन्दूधर्म का लक्षणसूत्र : ... २६२-२६३

६.१. हिन्दूधर्म को ले कर लक्षण-चिन्तन : ... २६२-२६३

६.२. गीता चिन्तन का वैशिष्ट्य ... २६३

७. **लक्षणसूत्र में परिकल्पित धर्मत्रिपुटी :**

पैगम्बरवादी धर्मत्रिपुटी से इसकी विलक्षणता : ... २६३-२६४

उपसंहार, अनुपद एकक के साथ संगति : ... २६४

पञ्चम एककः (श्लो. ६२-६३) ... २६५-२७६

भाष्यम् ... २६५-२६७

हिन्दी व्याखया : ... २६७-२७६

एकक विमर्श : ... २६७

१. **मन की विच्युति का पदक्रम : एक विवरण :** ... २६८-२७२

१.१. *'ध्यायते विषयन्पुंसः संगस्तेषूपजायते'* : ... २६८

१.२. *'संगात्संजायते कामः'* : ... २६८-२६९

१.३. *'कामात्क्रोधोऽभिजायते'* : ... २६९

१.४. *'क्रोधाद् भवति सम्मोहः'* : ... २६९-२७१

१.५. *'सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः'* : ... २७१

१.६. *'स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशः'* : ... २७२

१.७. *'बुद्धिनाशात्प्रणश्यति'* : ... २७२

२. **आधुनिक मनोविश्लेषण का संग्रह करते हुए पुनराख्यान :** ... २७२-२७३

३. **मनोविश्लेषण का विज्ञान और गीता :** ... २७३-२७५

४. **आस्था में मनोविज्ञान का संग्रह : हिन्दू-धर्म का वैज्ञानिक मिजाज** ... २७५-२७६

षष्ठ एकक (श्लो.६४-६८) ... २७७-३०२

भाष्यम् ... २७७-२८३

हिन्दी व्याख्या : ... २८३-३०२

एकक विमर्श : ... २८३

१. गीत की तरह अन्तर्गुम्फित प्रतिपादन शैली : ... २८३-२८४

२. ***'रागद्वेषवियुक्तैस्तु ...बुद्धिः पर्यवतिष्ठते'*** **:**
व्यक्तित्वसंग्रह की साधना : ... २८४-२८५

२.१. उक्त श्लोकों के कथ्य का विश्लेषण : ... २८५

२.२. साधना के अवयव : ... २८५

३. 'विधेयात्मा' पद की व्याख्या : ... २८५-२८८

३.१. विधेयात्म-क्षेत्र की पहचान की समस्या : ... २८५-२८६

३.२. मन को विधेयात्मा मानने में समस्याएं : ... २८६-२८७

३.३ व्यक्तित्वक्षेत्र (संघात) को **'विधेयात्मा'** मानना :
एक बेहतर व्याख्याकल्प ... २८७-२८८

४. 'विषयानिन्द्रियैश्चरन् ...' : ... २८८-२९०

४.१. इन्द्रियों का आदर्श व्यवहार और उसकी शर्तें : ... २८८

४.२. *'रागद्वेषवियुक्तैस्तु ...''* का अर्थ : ... २८९

४.३. इन्द्रियों का अनासक्तसंचरण :
एकीकृत व्यक्तित्व की मौलिक उपलब्धि : ... २८९-२९०

५. 'प्रसाद' : अविकल स्वरूप का भावपर्याय : ... २९०

६. प्रसाद के फलितार्थ : ***'प्रसादे सर्वदुःखानां ...'*** **:** ... २९०-२९६

६.१. श्लोक की व्याख्या : ... २९१

६.२. प्रसाद के सामान्य और विशेष अर्थ : ... २९१-२९२

६.३. *'प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते'* का अर्थ : ... २९२

६.४. *'दुःखहानि '* पद के निहितार्थ : ... २९२-२९४

६.५. *'प्रसन्नचेतसो ह्याशुबुद्धिःपर्यवतिष्ठते '*:
'प्रसाद' के बारे में दूसरी फलश्रुति : इसके निहितार्थ ... २९४

६.६. 'प्रसाद' को निर्मलता का पर्याय मानते हुए व्याख्या : ... २९४-२९५

६.७. निर्मल मन के बिना बुद्धि के स्वतंत्र निर्णय असम्भव : ... २९५-२९६

६.८. बुद्धि का भाव-परिवेश है मन ... २९६

७. *'नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य...'* : ... ९६-२९८

७.१. पूर्वोक्त निष्कर्षों की व्यतिरेकमुखेन पुष्टि : ... २९६

७.२. श्लोक की व्याख्या : ... २९६-२९८

८. *इन्द्रियाणां हि चरतां ....'* ...२९८-३००

८.१. एक श्लोक में एकक का भावार्थ : ... २९८

८.२. श्लोक की व्याख्या : उपमा के द्वारा संग्रह और स्पष्टीकरण : ... २९९-३००

९. श्लोक *'तस्माद्यस्य महाबाहो ...'* :

सम्पूर्ण प्रकरण का निष्कर्ष वाक्य : ... ३००

९.१. श्लोक की व्याख्या : ... ३००

९.२. निष्कर्ष में विरोधाभास : ... ३००

९.३. सम्भावित समाधान : ... ३०१-३०२

सप्तम एकक (श्लो. ६९-७२) ... **३०३-३२७**

भाष्यम् ... **३०३-३०९**

हिन्दी व्याखया : ... **३०९-३२७**

एककविमर्श : ... **३०९-३१०**

१. **श्लोक "*या निशा सर्वभूतानि....*"** ... **३१०-३१३**

१.१. व्यक्तित्व-कल्प :

व्यावहारिक और अति-व्यावहारिक (साधनोपयोगी) : ... ३१०

१.२. रूपक के द्वारा निर्वचन : ... ३१०

१.३. निहितार्थ : ... ३१०-३११

१.४. एक श्लोक में सम्पीडित, सम्पूर्ण प्रसंग : ... ३११

१.५. धर्मदर्शन की दृष्टि से विचार : ... ३११-३१२

१.६. 'भेद' और 'स्वरूप' के क्रम में स्थितप्रज्ञ का द्विधा निर्वचन ... ३१२-३१३

२. श्लोक '*आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं...*' :
अविकृतपरिणामवाद का उपमा के द्वारा निदर्शन : ... ३१३-३१७
२.१. स्थितप्रज्ञ में काम्य विषयों का आगम : ... ३१४
२.२. अविकारी अधिष्ठान में विषयागम :
तीन सम्भावित स्पष्टीकरण : ... ३१४-३१६
१. 'कामाःप्रविशति' वाक्य में अतीत के सम्बन्ध का उपचार मात्र ... ३१४
२. प्रतिष्ठित प्रज्ञा में कामनाओं का निःसत्त्व होना : ... ३१४-३१५
३. 'प्रविशन्ति' और 'कामकामी' शब्दों के
व्याख्योपयोगी निहितार्थ : ... ३१५-३१६
२.३. **एक सम्पूर्ण उदाहरण :**
योगेश्वर श्री कृष्ण का चरित्र ... ३१६-३१७
३. *"विहाय कामान्यः सर्वान्..."*
शान्ति : त्याग की साधना का तार्किक विश्रान्तिबिन्दु : ... ३१७-३१९
३.१. श्लोकार्थ की संरचना : ... ३१७-३१८
३.२. कामनाओं के त्याग का फलितार्थ :
व्यक्तित्व का रूपान्तरण : ... ३१८
३.३. आभ्यन्तर संस्कार : '*निर्ममो निरहंकारः*' का अर्थ : ... ३१८
३.४. बाह्य संस्कार : '*यः पुमांश्चरति निःस्पृहः*' का अर्थ : ... ३१८-३१९
४. 'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ...' :
ब्राह्मी स्थिति : एक साधना-निर्मित प्रस्थानपीठ : ... ३१९-३२१
४.१. स्थितप्रज्ञभाव की परिपक्व अवस्था : ... ३१९-३२०
४.२. परमार्थावगति का पूर्वकल्प : ... ३२०
४.३. अनन्त की यात्रा का अन्तिम पड़ाव : ... ३२०
४.४. '*ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति*' : फलोक्ति के निहितार्थ ... ३२०-३२१
४.५. '*स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि*' का अर्थ : ... ३२१
५. संग्रह और उपसंहार : ... ३२१-३२६
५.१. स्थितप्रज्ञ की परिकल्पना : दूसरे अध्याय की परमोपलब्धि : ... ३२१-३२३

५.२. विधि के लिए पूर्णता की भूमि : ... ३२३

५.३. विधि का शील में रूपान्तरण : ... ३२३-३२४

५.४. विभिन्न धर्मों के बीच संवाद की भूमि : ... ३२४-३२५

५.५. सवाल करती बुद्धि और मौत के फतवे : ... ३२५-३२६

६. धर्मपरिदृश्य की एक विरुद्धार्थग्रन्थि : ... ३२६

७. स्थितप्रज्ञ सन्त : धर्म की सार्वभैमिकता का मूर्तिमान विग्रह : ... ३२६-३२७

पुष्पिका विचार ३२७

■ ■ ■

चतुर्थ-परिच्छेदः

योगबुद्धिविचारः

				पृ.सं.
परिच्छेद-समारम्भः			... ...	२१-२८
प्रथम एककः		(श्लो.३९-४०)	... ...	२९-५२
द्वितीय एककः	(क)	(श्लो.४१)	... ...	५३-७०
	(ख)	(श्लो.४१-४३)	... ...	७१-९४
	(ग)	(श्लो.४४)	... ...	९५-११८
तृतीय एककः		(श्लो.४५-४६)	... ...	११९-१४४
चतुर्थ एककः		(श्लो.४७-५०)	... ...	१४५-१९२
पंचम एककः		(श्लो.५१-५३)	... ...	१९३-२०९

परिच्छेद-समारम्भः

योगबुद्धिविचारः

अध्यायस्य पञ्चदशश्लोकात्मको योगप्रसंगो हि विचारविषयोऽस्य परिच्छेदस्य। योगो हि धर्मः महाभयात्परित्राणायेति प्रारम्भिको परिचयो योगस्य, *स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयादिति*। आस्थायाः क्षरणं जन्मजन्मान्तरव्यापिकर्मबंधनञ्चेति द्वे प्रमुखे रूपे महाभयस्य। महाभयस्यास्य निराकरणस्य क्रमिकसाधनानिरूपणत्वेन प्रवर्ततेऽत्र योगस्योपदेशः।

प्रथमं महाभयन्तु धर्मे आस्थायाः विखण्डनस्यैव। अनेन भवति आस्थाया एकीभावस्या-धाराणामनुसंधानं धर्मदर्शनस्याधारभूता समस्या । त्रयी वै एकीभावनिष्ठा, सांख्येन, आप्तवचनैः (शास्त्रैः), येगेन च। एतेषां सुसम्बद्धं विवरणं हि विषयः द्वितीयाध्यायस्य गीतायाः। सांख्य'-शास्त्रे'ति बुद्धिद्वयोः विचारानन्तरं प्राप्यतेऽत्र यथाक्रमं योगबुद्धिविचारः विषयः प्रकृतपरिच्छेदस्य।

योगो हि भिन्नः सांख्यादनुसंधानरूपत्वात् विलक्षणमपि शास्त्रनिष्ठातः योगप्रवर्तितैकी-भावस्यापुस्तकीयरूपत्वात्। आस्थायाः परिप्रेक्षे योगस्याख्यानं हि गीतायाः नितान्तं मौलिकं योगदानम्। तत्रापि निरतिशयो हि कर्मयोगसमारम्भः द्वितीयाध्यायस्य।

मानवस्य भोगतृष्णानिमित्त-शास्त्रोक्तधर्मों हि सामान्यपूर्वपक्षः पदार्थवादिनां, बौद्धादिश्रमण-धर्माणां, कैश्चित्समयैः सह गीतायाः कर्मयोगस्यापि। अतो युक्तं योगोपदेशपूर्वं सकामधर्माचरणस्य विस्तृता चर्चा (श्लो. ३१-३७), तस्याः पूर्वकल्पत्वात् निष्कामधर्माचरणस्य। *'सुखदुःखे समे कृत्वे'* त्यष्टत्रिंशत्तमे श्लोके शास्त्रोक्तधर्म एव भवति प्राथमिकं निदर्शनं कर्मयोगस्य, एतत्पर्यन्तं शास्त्रबुद्धेरनुपसंहारत्वादनुपक्रमितत्वाच्च योगबुद्धेः।

कामना हि मौलिकमस्थिरतापादकं तत्त्वम् । तस्याः शास्त्रैः नियमनेन, साधनया अपलापेन, अतिक्रमणेन च प्राप्यन्ते तिस्र एकीभावनिष्ठाः, शास्त्रनिष्ठा, योगनिष्ठा निस्त्रैगुण्यनिष्ठा च। प्रभवाः इमानि सर्वेषामास्थाप्रकाराणां पुस्तकीयापुस्तकीयपरापुस्तकीयानाम् ।

अस्यां वैचारिकपृष्ठभूम्यां परिकल्प्यतेऽत्र व्याख्यानं द्वितीयाध्यायस्थस्य योगबुद्धिप्रकरणस्य। एकोनचत्वारिंशत:त्रिपञ्चाशत्पर्यन्तं,पञ्चदशश्लोकात्मको व्याख्येयाभोगोऽधोनिर्दिष्टेषु पञ्चविचारैक-केषु वियुज्यते व्याख्यासौकर्याय।

प्रथमैकस्य (श्लो.३९-४०)त्रीणि विवक्षितानि : सांख्यबुद्धेरुपसंहार:,उपक्रम:प्रशस्तिश्च योगबुद्धे:। चतु:श्लोकात्मको(श्लो.४१-४४) द्वितीय एकक:। आस्थाया एकीभावस्य केन्द्रीयसमस्यायै समर्पितोऽयम्। विषयस्य गंभीरतामालक्ष्य व्याख्यासौकर्याय कल्प्यन्तेऽस्य त्रयो विभागा:। {क} प्रथमश्लोक:(श्लो.४१) प्रस्तौति 'व्यवसायात्मिका-अव्यवसायात्मिका' इति बुद्धिद्वयपरिकल्पम्। मनोभूमिप्रकराविमौ परिकल्प्येते उपपादनाय एकीभावस्य निष्ठानां विवरणाय। {ख} अनन्तरं श्लोकद्वयेन (४२-४३) 'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनामि'ति लक्षणपुरस्सरं निरूप्यते उपादानात्परिणतफलपर्यन्तप्रपञ्चविस्तारोऽव्यवसायात्मकताया:। अव्यवसायात्मकप्रपञ्चाज्जायते आस्थयाबाह्यालम्बनानुशासितप्रकारविशेष:(निष्ठेति)। वेदवादाभिधमिदं हि परिणतफलम-व्यवसायात्मकबुद्धे:। वेदवादो ह्यत्रोपलक्षणं सर्वेषां पुस्तकपन्थानाम्। एककस्यान्तिम: श्लोक: (श्लो. ४४) विवृणोति व्यवसायात्मिकायां बुद्ध्यां एकीभावस्य प्रक्रियां समयश्चास्य तार्किकफलोपपत्ते:। विक्षेपस्त्वत्रा- व्यवसायात्मकबुद्धिप्रपञ्च:। तेनाप्रतिहतायां व्यवसायात्मकतायां प्रभवति समाध्युपलक्षितैकीभावोऽ पुस्तकीय:। एवं प्राप्येतेऽत्र विचारायैकीभावस्य द्वे निष्ठे पुस्तकीयापुस्तकीये। परापुस्तकीया तु प्रतिपाद्योऽनुपदस्य तृतीयैककस्य (४५-४६), *'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'* इति।

चतुर्थैककस्य (श्लो.४७-५०) त्रयो विभागा:, कर्मयोगस्य साधन-स्वरूपोपपत्ति-फलश्रुति-विषयका:। श्लोकत्रयात्मको(५१-५३) पञ्चमैकक: कल्पते संग्रहोपसंहारश्च कर्मयोगप्रकरणस्य। अयं हि संरचनाविश्लेश:विवेच्यस्य योगबुद्धिप्रसङ्गस्य।

पुस्तकपंथानां ऐकान्तिकाभिनिवेशनिमित्त-सततसंघर्षै: संत्रस्ताय वर्तमानसंसाराय, सर्वेषां धर्माणां परापुस्तकीय-तात्त्विकैकीभावस्य गीतासंदेशो भजते महत्त्वमतितराम्।

■

दूसरे अध्याय का 'योगबुद्धि' विभाग :

'सांख्य (तत्त्वदर्शन) और योग हिन्दूआस्था के मौलिक तत्त्व हैं, जो उसे संसार के जातीय-पुरागाथाकल्पित धर्मों से अलग, एक वैज्ञानिक व्यक्तित्व प्रदान करते हैं. जहां सांख्य हिन्दू-धर्म को सार्वभौमिक अर्थ प्रदान करता है वहीं योग उसे उन व्यक्तिप्रमाण आधारों तक ले जाता है, जहां तक जाने की सामर्थ्य किसी धर्म विधान में नहीं हो सकती. सांख्य का परिचय भी यदि ज्ञानयोग के रूप में दिया जाय, तो — ज्ञानयोग, कर्मयोग, ध्यानयोग और भक्तियोग — इन विधाओं के निरूपण को समर्पित गीता का सम्पूर्ण उपदेश योग के उपदेश के रूप में ही विनिश्चित होता है. उचित ही प्रत्येक अध्यायान्त पुष्पिका गीता का परिचय योगशास्त्र के रूप में देती है (इति श्रीमद्‌भगवद्‌गीतायां ब्रह्मविद्यायां ***योगशास्त्रे*** श्रीकृष्णार्जुन संवादे.....) वस्तुतः गीता का प्रत्येक अध्याय एक योग के रूप में प्रस्तुत किया गया है.

योग का अर्थ है साधन या उपाय. गीता में योग का उपदेश उन उपायों का विवरण है, जिनमें से अपनी योग्यता के अनुसार किसी एक का अवलम्ब ले कर व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक सम्भावनाओं को साकार करता हुआ स्वयं अपना उद्धारक बन सकता है.

'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगेत्विमां श्रुणु' इस विभागवचन के साथ दूसरे अध्याय में योग का उपदेश प्रारम्भ होता है. 'बुद्धि' का अर्थ है यहां ज्ञान या उपदेश. *योगबुद्धि* नाम से प्रारम्भ हुए १५ श्लोकों (३९-५३) के इस प्रसंग को सुविधा के लिए ४ एककों में विभाजित करके साम्प्रतिक अध्ययन का विषय बनाया गया है.

योग एक विशिष्ट प्रकार का कर्म है, व्यक्ति को कर्मबंधन से मुक्त करने वाला, बिखरती आस्था का एकीभाव में उद्धार करने वाला कर्मकौशल. योग की प्रशस्ति में कहे गए प्रारम्भ के दो श्लोकों में उन विशेषताओं का संग्रह किया गया है जो सामान्य कर्म से योग को अलग करती हैं. ये दो श्लोक (३९-४०) व्याख्या का **प्रथम एकक** है.

प्रशस्ति वाक्यों में योग का परिचय 'महाभय से परित्राण कराने वाले धर्म के रूप में दिया गया है. (***स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्***). महाभय के दो प्रमुख रूप हैं, आस्था का विखण्डन और जन्मान्तरों तक चलने वाला कर्मबंधन. इस दोहरे महाभय के निराकरण की

क्रमिक साधना के रूप में योग के उपदेश का प्रवर्तन होता है.

प्रथम महाभय तो धर्म में आस्था के विखण्डन का ही है. सामान्यरूप में धर्म का प्राथमिक अवतरण अनवद्य स्रोत से प्राप्त आप्तवचन के रूप में होता है. यह आप्तस्रोत सामान्यतया (अनिवार्य रूप से नहीं) जातीय-पुरागाथा-कल्पित कोई अवतारी पुरुष होता है. इस प्रकार भिन्न युगों और भूभागों में, आप्तपुरुष और आप्तवचन (शास्त्र) के अलग अलग अवतरणों से विभिन्न संस्थागत धर्म अस्तित्व में आते हैं. ये धर्म अपने को प्रकाशितधर्म (revealed religion) कहलाना पसंद करते हैं. इनकी पुस्तकीय 'वचनबद्धता' को देखते हुए इन्हें पुस्तकपंथ कहना अधिक उपयुक्त होगा.

पुस्तकपंथों की दो विशेषताएं ध्यान देने योग्य हैं. पहली यह कि सभी पुस्तकपंथ नित्यपरोक्ष है. उनमें कही गई बातों की पुष्टि का हमारे पास कोई साधन नहीं होता. दूसरी यह कि सभी धर्मों के शास्त्र कामनागर्भित हैं और मरने के बाद दिव्यलोकों में भोगों के जीवन के सातत्य का आश्वासन देते हैं. यतः कामनाएं अस्थिरता का मूल हैं, कामनागर्भित होने के कारण, धर्म के पुस्तकीय अवतरणों में, एक ओर अन्तःविभाजन और बिखराव के बीज होते हैं, तो दूसरी ओर नित्यपरोक्षता के कारण वे सतत संदेह संक्रमित रहते हैं. गम्भीर विश्लेषण के आधार पर गीता का निष्कर्ष यह है कि शास्त्र आस्था का आश्वस्त करने वाला आधार नहीं हो सकते.

उक्त निष्कर्ष के साथ गीता में प्रारम्भ होती है, मनोवैज्ञानिक और तात्त्विक आधारों में आस्था के एकीभाव के अनुसंधान की प्रक्रिया. बिखराव के मनोपादानों की पहचान, साधना द्वारा उनका निराकरण करते हुए समाध्युपलक्षित एकीभाव की सिद्धि —यह योग का मार्ग है, जो आस्था को **अ-पुस्तकीय** आधार उपलग्ध कराता है. इस मार्ग का रेखांकन **दूसरे एकक** (श्लो. ४१-४४) का विषय है.

वेदादिशास्त्र और तदुपलक्षित आस्था के सभी अवतरित (आप्त) वचन *'त्रैगुण्यविषयाः'* हैं, विकारी और परिवर्तनशील हैं. विकार से पूरी तरह मुक्त, आस्था का साधनामूलक अपुस्तकीय रूप भी नहीं है. इन दोनों से ऊपर उठ कर, अविकारी तात्त्विक-एकीभाव की ओर आवाहन, **तीसरे एकक** (४५-४६) का प्रतिपाद्य है : *त्रैगुण्यविषयाः वेदाः निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन.* आस्था

का परमार्थ **परापुस्तकीय** है. यह उद्धारक भूमि है, आस्था के पुस्तकीय और अ-पुस्तकीय कल्पों की.

एकीभाव के उपर्युक्त दोनों ही क्रम शास्त्रनिष्ठा के विरुद्ध अपने को परिभाषित करते हैं. अतः इन्हें एकीभाव के क्रमशः ***'अपुस्तकीय'*** और ***'परा-पुस्तकीय'*** कल्प कहा जा सकता है.

चतुर्थ एकक (श्लो.४७-५०) : इसमें योग की साधना के क्रमिक सोपानों का सांगोपांग निर्वचन है, जिन्हें मोटे तौर पर समत्वयोग और बुद्धियोग कहा जा सकता है. समत्व की साधना कर्मबंधन के निराकरण की साधना है, जबकि बुद्धियोग बंधनभूमि के अतिक्रमण की. (*यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति...*). 'समत्वयोग' और 'बुद्धियोग', वस्तुतः एक ही साधना के (कर्मयोग के) पूर्व और उत्तर कल्प हैं. बुद्धियोग के द्वारा प्रतिष्ठित शुद्धबुद्धि (शुद्धान्तःकरण) ही आस्था का विश्वसनीय आश्रय हो सकता है, यह निष्कर्ष है : ***बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः***. अनन्तर **पंचम एकक** (श्लो.५१.५३) में योगचिन्तन का संग्रह और उपसंहार है.

गीता हिन्दूधर्म के बहुशास्त्र-बहु-उपास्योपासनाप्रसूत-बिखराव का विश्लेषण करते हुए, उसमें आस्था के एकीभाव के उद्धार का मार्ग दिखाता है. ***'बहुशाखाह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम'*** गीता का यह कथन, निकट से देखें तो हिन्दू-आस्था के बिखराव परिदृश्य को लक्ष करता है. शास्त्र स्वयं विखण्डनोपादान-गर्भित होते हैं, और इस कारण से आस्था के एकीभाव का विश्वसनीय आधार नहीं हो सकते. यह एक सामान्य निष्कर्ष है जो संसार के सभी पुस्तकपंथों पर सामान्य रूप से घटित होता है, यद्यपि हिन्दूधर्म में बिखराव का परिदृश्य कुछ अधिक ही मुखर है. आस्था के बिखराव की इस समस्या को ध्यान में रखते हुए, गीता योग का उपदेश करती है जो विखण्डन- जर्जर आस्था के एकीभाव का अपुस्तकीय और परा-पुस्तकीय आधारों में उद्धार का रास्ता दिखाता है.

आस्था में संदेह और बिखराव हिन्दूधर्म की ही नहीं सभी धर्मों की समस्या है. इनमें कुछ तो ऐसे हैं जो वैमत्य, संदेह और वितर्क के बीच लड़खड़ाती आस्था की रक्षा के लिए मौत के फ़तवे, आतंक और हत्याओं के अलावा कोई और उपाय नहीं जानते. योग के द्वारा संदेहसंक्रमित आस्था के एकीभाव के उद्धार का गीता का संदेश एक सभ्य विकल्प प्रस्तुत

करता है. कोई आश्चर्य नहीं कि ईसाई मतावलम्बी भी अब *क्रिश्चियन-योगा* की बात करने लगे हैं.

सच तो यह है कि अपने जातीय-पुरागाथाकल्पित-उद्भव और उससे प्राप्त कबीलाई मूल्यों को दिव्यविधान के रूप में परोसते किताबी मज़हब हमेशा संदेहों से घिरे रहते हैं. इन धर्मों की वैश्विकवर्चस्व की आकांक्षा इन्हें और अधिक सन्देहास्पद बनाती है. आस्था के इन संहिताबद्ध संस्करणों में से प्रत्येक अपने को धर्मों के बीच एक धर्म नहीं मानता, अपितु अपने को धर्म के ऐकान्तिक परमार्थ के रूप में प्रस्तुत करता है. जिसकी तुलना में अन्य सभी धर्म विपथ हैं, कुफ्र हैं, भटकाव हैं, और उच्छेद के योग्य हैं. इससे पुस्तकपंथों में, वैश्विकवर्चस्व की असंभव महत्त्वाकांक्षा संजोए, एक आक्रामक मिशनरी धार्मिकता का आविर्भाव होता है. आज संसार में संघर्षों का प्रमुख कारण है मिशनरी धर्मों की परस्पर टकराती महत्त्वाकांक्षा. इस पृष्ठभूमि में गीता का संदेश कि मानव के सामने अपनी आध्यात्मिक सम्भावनाओं को साकार करने के एक नहीं अनेक मार्ग(योग) हैं, और यह कि धर्म का परमार्थ परा-पुस्तकीय है, मानवजाति के लिए असाधारण महत्त्व रखता है. इन सभी बिन्दुओं पर इस परिच्छेद में विस्तार से विचार हुआ है.

■ ■ ■

प्रथम एकक:

(विभागवचन, योग की प्रशस्ति)

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥३९॥

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्॥४०॥

यह तुम्हें सांख्यबुद्धि के बारे में उपदेश हुआ. अब योगबुद्धि के बारे में सुनो, जिससे युक्त हो कर तुम कर्मबन्ध से मुक्त हो जाओगे (३९). इसमें न तो उपक्रम का नाश है, न कोई प्रत्यवाय. इस धर्म का स्वल्प (अनुष्ठान) भी महाभय से रक्षा करता है (४०).

१. एककस्य त्रीणि विवक्षितानि : सांख्यबुद्धेरुपसंहारः, उपक्रमः प्रशस्तिश्च योगबुद्धेः।

१.२. अत्राप्रसिद्धः बुद्धिशब्दस्य प्रयोगः, अनेकार्थकेऽपि, प्रकृते युक्तमस्य ज्ञानार्थकत्वम्, तदग्रहणे फलश्रुतीनां अनुपपन्नत्वात्। बुद्धिपदं ह्यत्र समत्वबुद्धिपर इति स्वामिरामसुखदासपादाः। स्पष्टमिदं तेषां विभागवचनस्यानुवादेन : 'हे पार्थ ! इयं समबुद्धिः पूर्वं सांख्ययोगे उक्ता, सम्प्रति तां कर्मयोगविषये श्रुणु यया समबुद्ध्या युक्तः त्वं कर्मबंधनं प्रहास्यसी'ति।

१.३. व्याख्याप्रस्थानमिदमर्हति निकटपरीक्षणम्। तथाहि –

(क) सांख्ययोगेति बुद्धिविभागयोः साक्षात्प्रतिपाद्यत्वात् अयुक्तं तयोर्मध्ये अभेदसूत्ररूपसमत्व -बुद्धिकल्पनं स्ववचनापलापकत्वात्प्रस्तुतहानिरप्रस्तुतकल्पनायोगत्वाच्च।

(ख) स्वामिपादानां व्याख्यानुसारं 'बुद्ध्यायुक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसी' त्यनेन सांख्ययोग-सामान्यायाः समत्वबुद्धेर्प्रशस्तिः सम्भाव्यते, न तु योगबुद्धेः। किन्त्वयुक्तमिदं सांख्यचर्चाया अवसितत्वात्, विभागवचनाविषयत्वाच्च समत्वबुद्धेः।

(ग) सामान्यादर्शत्वेन सांख्ययोगयोः समत्वबुद्धेर्कल्पनमपि विचारासहम्। न भवितुमर्हतीयं सांख्यस्य प्राप्तव्यं तत्त्वज्ञानादस्यार्थतः प्राप्तत्वाद्। नापि योगस्य, अस्याः प्राथमिकसोपानत्वाद्योगस्य। एवमुभयथा अनुपपन्नं सामान्यप्राप्तव्यकल्पनम्। यथा स्मारितं पारम्परिकैः मूलवाक्ये *'तु शब्दः पूर्वबुद्धेर्योगविषयत्वव्यतिरेकसूचनार्थम्* (मधुसूदनी व्याख्या) *'तु शब्दस्य वैलक्षण्यपरत्वादयुक्तः विषयतारतम्य कल्पनायोगः'*। समालोच्याऽपि स्वामिपादानां व्याख्या निदर्शयति गीताव्याख्यानस्य पद्धतिविशेषाम्। अनयादृष्ट्या निकटविचारमर्हतीयम्।

२. समभाव-कर्मयोग-योगबुद्धि-बुद्धियोगनैष्कर्म्यादिशब्दानां पर्यायेण प्रयोगः दृश्यते गीतायाः द्वितीय- तृतीयाध्याययोः। अपीमे शब्दाः दर्शयन्ति योगसाधनायाः सोपानक्रमं अथवा एकस्यैव सूक्ष्मभावस्य परस्परान्तर्भाविपर्यायाणीति महत्त्वपूर्णः प्रश्नः। विकल्पेनानेन लभ्येते गीताव्याख्यानस्य द्वे शैल्यौ। प्रथमा हि रैखिकशैली, या मन्यते यद् रैखिकक्रमे व्यवस्थिताः इमे पारिभाषिकाः उन्मीलयन्ति योगसाधनायाः विकासस्य सोपानक्रमम्। अपरा तु सघन(वर्तुल)शैली, या एकं पारिभाषिकं केन्द्रे निधाय, परिकल्पते सम्पूर्णां साधनामितरैः सह अन्तःसम्बन्धानुसंधानेन। स्वामिरामसुखदासपादानां संदर्भितं व्याख्यानं हि अस्या निकटनिदर्शनम्।

२.१. प्राकृतमूल्यानां शास्त्रबुद्ध्या नियमनं, नियमनस्योद्धारः समत्वबुद्ध्यां, पुनः समभावं सोपानं कृत्वा योगे प्रवेशः, 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' इत्यनेन आस्थायाः परा-पुस्तकीय स्वरूपस्य सिद्धि, पुनः यथोक्तसाधनायाः अनुष्ठानानुक्रमोपचितकर्तृत्वाहंकारस्य समर्पणम् – इदं हि संक्षेपेण रेखाचित्रं साधनायाः विकासक्रमस्य, यदनुसरति गीताव्याख्यानस्य रैखिकपद्धतिम्।

२.२. सरल-रैखिकक्रमातिरिक्तां गीताव्याख्यानाय केचिद्विद्वांसः श्रयन्ते एकां बह्वायामि-सघनपद्धतिम्, यां रैखिकभेदान्विततत्वात् 'वर्तुलशैली' इत्यपि वक्तुं शक्यते। अस्यां शैल्यां एकं सिद्धान्तकल्पं केन्द्रे निधाय, अन्तःसम्बन्धघनीभूतविग्रहत्वेन परिकल्प्यते सम्पूर्णसाधना । एवं विचाराधीनः प्रत्येको बुद्धिकल्पः (concept) स्वसम्बद्धान्परिकल्पयन्,

तान् प्रकाशयन्, तेषामर्थैः परिपुष्टः उल्लसितः प्रकाशयति स्वीयमर्थवैभवम्। पारिभाषिकशब्दानां सांदर्भिकानां पर्यायरूपेण प्रयोगो न कोऽपि अपराधः अस्यां शैल्याम्, इतरान्परिकल्पयन्नेव प्रत्येकबुद्धिकल्पस्य प्रवृत्तित्वात्। एवमाविर्भवत्येकः विशालान्योन्याश्रय-परिवृत्तः, यस्मिन् सर्वं प्रामाणिकं प्रामाणिकोपलब्धिविरहितमपि। इयं हि गीतोपदेशपारंगतानां व्यावसायिकानां प्रियभाषणशैली। स्वल्पेनैव चिन्तनयोगेन तद्विनाऽपि जनयतीयं सहजं जनसम्मोहनं पर्यायाणां कुशलप्रयोगेन।

२.३-४. विहाय यथोक्तशिथिलोपयोगसम्भावनां, इदमपि वक्तव्यं यदस्याः साहाय्यं बिना गीतायाः केषांचन् स्थलानां समुचितावगाहनं न सम्भवति। तथापि व्याख्यानाय रैखिककल्प एव समीचीनः सम्बद्धताया उद्देश्यपूर्णविवरणत्वात्। सम्बद्धक्रमाणामन्योन्याभावित्वात्सघन-पद्धत्या अपि प्रयोगो विधेयः स्थलविशेषेषु। कुत्रचित्तु पर्यायभावः मूलसामग्र्या एव प्राप्यते यथा, द्वितीयेऽध्याये योगचर्चा हि वस्तुतः कर्मयोगपर्याये'ति अध्यायसामग्र्या एवावबुध्यते। एवं रैखिक पद्धत्यां साधनायाः सुविचारितेन प्रयोगेन सम्भवति आदर्शशैली गीताव्याख्यानस्य।

३. प्रशस्त्या प्रारभ्यते योगधर्मस्योपदेशः। 'तां च बुद्धिं स्तौति प्ररोचनार्थम्'(शां.भा.)। किन्तु नेयं स्तुतिमात्रम्। योगधर्मस्य प्रशस्तिव्याजेन गीता प्रस्तौत्येकमभूतपूर्वं मूल्यदर्शनम्। अपरञ्च, इमाः श्रुतयः समग्रधर्मरूपेणोद्घाटयन्ति योगस्य विशिष्टं स्वरूपम्।

३.१ अष्टत्रिंशाच्चत्वारिंशश्लोकपर्यन्तं योगबुद्धेः फलश्रुतीनां संग्रहो प्रस्तूयतेऽत्र विचाराय :

१. नैवं पापमवाप्स्यसि - श्लो. ३८
२. कर्मबन्धं प्रहास्यसि - श्लो. ३९
३. नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति - श्लो. ४०
४. प्रत्यवायो न विद्यते - श्लो. ४०
५. स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् - श्लो. ४०

३.२ एतासां मध्ये वर्तते एकः क्रमः। संग्रहीता एताः प्रस्तौत्येकमभिनवं मूल्यदर्शनं आक्षिपन्ति योगधर्मस्य स्वरूपमपि।

४.१ 'नैवं पापमवाप्स्यसी' ति प्रथमा फलश्रुतिः। एकदेशीयेयं, समत्वबुद्ध्या उभयोःपापपुण्ययोः निराकरणत्वात्। संदर्भसंकोचादत्र फलश्रुतिसंकोचः, अर्जुनस्य मनसि युद्धे पापस्याशंकायाः मूलसन्दर्भत्वादुपदेशस्य। 'कर्मबन्धं प्रहास्यसी' ति श्रुत्यां पूर्णतां याति पूर्वोक्तफलनिर्वचनम्।

पापपुण्यानुबंधरूपकर्मबन्धनस्य प्रहाणेन न केवलं पापस्य, अपितु उभयोर्पापपुण्ययो-निराकरणत्वात्।

४.२ अगणित-सहकारिकारणप्रभवं हि लौकिकं कर्म। तेषु वैगुण्येन फलागमपूर्वमेव भवति उपक्रमस्य नाशः, यथा कृषिकर्मणि। उपक्रमनाशसम्भावनासंक्रमितलौकिककर्मणो विलक्षणं योगकर्मे' ति प्रतिपाद्यः 'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ती'ति फलश्रुतेः।

४.३ वैदिककर्मणोऽपि विलक्षणं योगकर्म। प्रत्यवायो हि अपूर्वलक्षणवैदिककर्मणो वैगुण्यविशेषः। विधेः व्यतिक्रमादनुष्ठानं न केवलं निष्फलं भवति, प्रत्युत जनयति प्रत्यवायं पापविशेषम्। नित्यकर्मणोऽननुष्ठानेन प्रत्यवायः इति लोकप्रसिद्धोदाहरणम्।

४.४-५ कर्मबन्धं प्रहास्यसी'त्येका महत्त्वपूर्णा फलश्रुतिः, योगस्य साक्षान्मोक्षसाधकत्वज्ञापितत्वादनया। प्राप्यतेऽनया द्वे जिज्ञास्ये। किमिदं कर्मबन्धनं, कोऽर्थः कर्मबन्धनप्रहाणस्येति।

५. सकामकर्म भवति द्विधा बन्धनकारी, मनोवैज्ञानिकनैतिकरूपत्वाद्बन्धनस्य। भवति कर्म सफलमसफलं वा। तृप्तिरतृप्तिलक्षणे इमे निदधतः संस्कारेषु पुनरावर्तन-परिहारनिमित्तानि, सम्मिलितानि यानि मनसि निर्मीयन्ते एकं स्थायिबन्धनकोषं यो नियन्त्रयति प्राणिनां व्यवहारमाद्योपान्तम्। इदं हि मनोवैज्ञानिकं रूपं कर्मबन्धनस्य। सूक्ष्मतरो हि नैतिकमूल्यकोषः। संग्रहीतान्यत्र शुभाशुभकर्माणि पापपुण्ये रूपान्तरितानि। कर्त्र्यान्वयिनाविमौ फलेते यथाकालं, कल्पेते च जन्मचक्रमपि तदनुरोधेन।

६. कर्मबन्धप्रहाणस्य बहूनि साधनानि परिकल्पितानि साम्प्रदायिकैः। ज्ञानमार्गेणाद्वैताः बौद्धाः मनोवैज्ञानिकपद्धत्या साधयन्ति मोक्षं कर्मबन्धप्रहाणपर्यायम्। असामान्ये उभयपद्धती। दुर्गमं हि बौद्धसाधनं, अवचेतननिविष्टदुर्लक्ष्यलक्षितत्वात्। अद्वैतवेदान्तं तु प्रवृत्तिप्रागेव परिकल्पयत्येकं अत्यन्तप्रबुद्धाधिकारिणं साधनचतुष्टयसम्पन्नम्।

आभ्यां विशिष्टः कर्मयोगः। अज्ञाननिमित्त-मनौवैज्ञानिक-गह्वराननुमापयन्, अयं साक्षात् कर्म एव सम्मुखं निधाय तत्रैवानुसन्दधति तन्निमित्तबन्धनमुक्त्युपायम्।

७. अभूतपूर्वो हि योगधर्मः। *स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयादि*'ति । पूर्वापराभियुक्तेऽयं फलश्रुतिः। अस्या एकः पक्षः कर्मबन्धं प्रहास्यसीति पूर्वोक्तां फलश्रुतिमध्याहृत्य महाभयत्वेन कल्पते कर्मबन्धनिमित्तं सम्पूर्णं प्रपंचं, मनोवैज्ञानिकं तात्त्विकञ्च । द्वितीयपक्षो हि

अनुपदश्लोकसाकांक्षः। 'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन' इत्यनेन सम्बद्धो भूत्वा आस्थायाः विखण्डनमेव महाभयमित्याक्षिपति। प्रथमं हि मनौवैज्ञानिकं तात्त्विकं स्वरूपं महाभयस्य, अपरञ्च समाजशास्त्रीयं धर्मदर्शनविषयकञ्च। उभाभ्यां महाभयकल्पाभ्यां त्रायते योगः।

महाभयस्यैकोऽन्यदपि रूपः। ऐकान्तिकपुस्तकपंथानां एकमेवाद्वितीय-वैश्विक वर्चस्वाकांक्षा-प्रभवोऽयम् । 'कबीलाई'-संस्काराहिताकांक्षया प्राप्यते आत्मप्रसारस्य विधानानि इतरधर्मोच्छेदकानि। पुस्तकपंथप्रभवधर्मव्याधिरियं, केनचिदपुस्तकीयकल्पेनैवास्या निदानं भवितुमर्हति।हि योगो हि एतादृशोऽपुस्तकीयः कल्पः, यः धर्मं विजड़ितमूल्यबुद्धेः, पुस्तकपंथान् परस्परासहिष्णुभावात्, संसारञ्च तेषामैकान्तिकवर्चस्वेच्छाजन्यसंघर्षेभ्यो उद्धारयितुं समर्थः।

एकक विमर्श :

इस एकक में तीन बातें कही गयी हैं : **सांख्यबुद्धि** का उपसंहार, **योगबुद्धि** का समारम्भ, तथा **योगबुद्धि** की प्रशंसा. यहां '**बुद्धि**' शब्द का प्रयोग उलझन में डालने वाला है. यह शब्द अनेकार्थक है. विचार, उपदेश, और ज्ञान, ये सभी अर्थ इससे निकाले जा सकते हैं. यहां इसका अर्थ 'विचार' या 'ज्ञान' मानना ही युक्तिसंगत होगा. गीता के आधुनिक व्याख्याता, स्वामी रामसुखदासजी महाराज ने बुद्धि का अर्थ समत्वबुद्धि किया है. इससे श्लोक के मूल अर्थ को ही ले कर भ्रम पैदा हो सकता है. अतः प्रारम्भ में ही यह स्पष्ट कर दिया जाना चाहिए कि ***'बुद्धिर्योगेत्विमां श्रुणु'*** का सीधा सा अर्थ है 'अब योग विषयक ज्ञान को सुनो'. बुद्धि पद को ज्ञानार्थक न मानने पर, जो फलश्रुति दी गई हैं वे घटित नहीं होगी. इस विषय पर विशेष विचार आगे करेंगे.

१. विभागवचन विचार :

१.१ *'एषा तेऽभिहिता सांख्ये'* की व्याख्या : *'यह सांख्य बुद्धि के बारे में तुम्हें बताया"*, यह कथन श्लोक ३९ से पहले, अर्थात् श्लोक ११ से ३८ तक जो कुछ कहा गया है, उस सम्पूर्ण शब्दराशि को लक्ष करता है. अतः ***'एषा तेऽभिहिता सांख्ये'*** का अर्थ हुआ की यह तुम्हें सांख्य तथा उसमें उपकारक शास्त्रबुद्धि का उपदेश हुआ. वस्तुतः शास्त्रबुद्धि प्रसंग के उपक्रम वाक्य ***'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि'*** (स्वधर्म को देख कर भी तुम्हें विचलित नहीं होना चाहिए)

में 'अपि' (भी) अव्यय के प्रयोग से स्पष्ट है कि शास्त्रबुद्धि की चर्चा यहां सांख्यबुद्धि से प्राप्त निष्कर्ष को पुष्टि करने के लिए, एक अतिरिक्त प्रमाण के रूप में की जा रही है. यतः शास्त्रबुद्धि की चर्चा केवल अंगरूप में हुई है, अतः इसका अलग से उल्लेख न करके इतना भर कहना पर्याप्त समझा गया है, *'यह तुम्हें सांख्यबुद्धि का उपदेश हुआ'.*

१.२. विभागवचन में 'बुद्धि' पद का अर्थ :

स्वामी रामसुखदासजी की व्याख्या : विभागवचन का दूसरा भाग है, *'बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु'* (अब योगबुद्धि को सुनो). यहां *बुद्धि* शब्द उलझन में डालने वाला है. गीता के आधुनिक व्याख्याताओं में अग्रणी, स्वामी रामसुखदासजी महाराज ने *बुद्धि* शब्द का अर्थ समत्वबुद्धि करते हुए, विभागवचन का इस प्रकार अर्थ किया है : *"हे पार्थ! यह समबुद्धि पहले सांख्ययोग में कही गई, अब तू इसको कर्मयोग के विषय में सुन; जिस समबुद्धि से युक्त हुआ तू कर्मबंधन का त्याग कर देगा".*

यह सांख्य और योग के बीच एकात्मक आधार को सुनिश्चित करती विचार के योग्य व्याख्या है, एक हद तक क्रान्तिकारी भी, क्योंकि आचार्य शङ्कर से प्रारम्भ हुई साम्प्रदायिक व्याख्या परम्परा विभागवचन को परम पवित्र और आत्यन्तिक मान कर प्रवृत्त होती है. इस परम्परा के विचारक सांख्य(ज्ञान) और योग(कर्म) में से किसी एक को प्रधान मान कर, दूसरे को उसका अंग मानते हुए व्याख्या करते रहे हैं. ऐसे विचारकों के लिए स्वामी रामसुखदास जी की व्याख्या से निराशा होगी, जिसमें सांख्य और योग दोनों को समान मानते हुए, दोनों को साधनमात्र मानते हुए, गीता के केन्द्रीय संदेश के रूप में समत्वबुद्धि की प्रतिष्ठा की गई है.

१.३. स्वामीजी की व्याख्या का आकलन : यह एक अच्छा व्याख्याकल्प है, जो गीता पाण्डित्य को साम्प्रदायिक व्याख्याजाल से मुक्त करने में सहायक हो सकता है. इस रूप में यह स्वागत के योग्य है. लेकिन इसकी प्रामाणिकता निकट विवेचना की अपेक्षा रखती है. इसके प्रमुख बिन्दु इस प्रकार है :

१. ***'एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धेर्योगे त्विमां श्रृणु',*** इस वाक्य में *सांख्य* और *योग* ये व्यावर्तक पद हैं, जो क्रमशः 'सांख्य' और 'योग' से सम्बन्धित दो बुद्धियों को परिकल्पित

करते हैं. उनका साध्य (समत्वबुद्धि) एक ही हो तब भी, वस्तुनिष्ठ होने से, बुद्धिविभाग में कोई अन्तर नहीं आता. यहां चर्चा सांख्यबुद्धि और योगबुद्धि की हो रही है, समत्वबुद्धि की नहीं. मूल में साक्षात् प्राप्त बुद्धिविभाग का अपलाप करके, उनके बीच सातत्य की कल्पना करना एक प्रत्यक्षविरुद्ध, कर्षित व्याख्या है, *प्रस्तुतहानिरप्रस्तुतकल्पना* दोष से संक्रमित.

२. ***'बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि'*** यह वाक्य, सद्यः प्रतिज्ञात योगबुद्धि में श्रोता की रुचि उत्पन्न करने के लिए कही गई प्रशस्ति (अर्थवाद) है. स्वामी रामसुखदास जी की व्याख्या को स्वीकार किया जाए तो यह प्रशस्ति योगबुद्धि की न हो कर सांख्य और योग दोनों में प्राप्त समत्वबुद्धि की होनी चाहिए. ***'एषा तेऽभिहिता सांख्ये'*** इस वाक्य के साथ सांख्य की चर्चा अवसित हो चुकी है. जो उपलब्ध है वह है उपक्रमित योगबुद्धि, और फलश्रुति, अनन्यगत्या उसी से सम्बद्ध होती है. समत्वबुद्धि उसके लिए एक दूर की कल्पना है.

३. ज्ञान और कर्म के रूप में आस्था के दो आधारभूत आलम्बनों की पहचान करना ही इस विभाग वचन का प्रयोजन है. इसी बात को आगे *'लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयाऽनघ, ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्',* कह कर पुष्ट किया गया है. ज्ञान और कर्म के सामान्य साध्य (समत्वबुद्धि) की चर्चा विभागवचन में न तो प्राप्त है और न ही वह उसका अभीष्ट. जहां दोनों के सामान्य साध्य की चर्चा की जरूरत पड़ी है, गीता ने उसे कहने में कोई कंजूसी नहीं की : *'सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः, एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्',* तथा *'यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते, एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति'.* जैसा कि इन उद्धरणों से जाहिर है, जहां सांख्य और योग के सामान्य प्रयोजन को कहना अभीष्ट होता है, वहां गीता खुल कर उसे कहती है, विद्वानों की कल्पना के लिए उसे नहीं छोड़ती.

विवेच्य स्थल निर्विवाद रूप से विभागवचन है. धर्मबुद्धि के सांख्य और योग के रूप में दो मौलिक आधारों की पहचान ही यहां अभीष्ट है. उनके बीच सामान्य प्रयोजन

रूप में अदृश्य रूप से विराजमान समत्वबुद्धि की बात दूर की कल्पना है. यहां बात विभाग करने की है. विभागों के बीच एकता के सूत्र की तलाश की नहीं. अतः *बुद्धि* शब्द का अर्थ समत्वबुद्धि करना एक अतिप्रसंग है.

४. समत्व की सिद्धि के दो मौलिक आधार हैं, तात्त्विक और नैतिक. दोनों में समत्व की सिद्धि के अलग अलग रूप बनते हैं. आत्मा के तात्त्विक स्वरूप का ज्ञान, शरीरादि प्रपंच में मिथ्या आत्मबुद्धि का निराकरण करते हुए, सर्वत्र अव्यभिचरित आत्मभाव के पर्याय रूप में समत्वबुद्धि की सिद्धि करता है. यथा — *शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः.*

नैतिकबोध (योग) के रूप में समत्व की सिद्धि तब होती है जब व्यक्ति सृष्टि के दिव्य प्रयोजन के लिए अपने आपको समर्पित कर देता है. सृष्टि में अपनी नैमित्तिक भूमिका के अनुसंधान के द्वारा व्यक्ति कर्तृत्व और भोक्तृत्व के अहंकार का अपलाप करते हुए योग के द्वारा समभाव में प्रवेश करता है.इस प्रकार, सांख्य और योग — ये अलग अलग बीथियां हैं जिन पर चल कर समभाव की सिद्धि होती है, वह भी अलग अलग रूपों में. इनके अपलाप या अवमूल्यन के बाद, समभाव, अपने साधनासंभार से वंचित, महज एक शब्द बन कर रह जाएगा. गीता के लिए ऐसा अर्थ कभी अभीष्ट नहीं हो सकता, जिसमें समत्वबुद्धि को एक सिद्ध कल्प मान लिया जाए और ज्ञान और योग की हैसियत समत्वबुद्धि के अवतरण के लिए, यों कहें कि उसके नृत्य के लिए दो अलग अलग आंगनों से अधिक न रह जाए.

ज्ञान और योग समत्वबुद्धि के प्रदर्शन के लिए कोई छोटे और बड़े पर्दे नहीं हैं. वे साधनापथ हैं, जिनके सोपानक्रम में, आनुषंगिक उत्पाद के रूप में समत्वबुद्धि जनमती है, साकार होती है. किन्तु समत्व को न तो ज्ञान का और न ही योग का परमार्थ माना जा सकता है. विशेष चर्चा पूर्व एकक में हो चुकी है. गीता में कहे गए विभागवचन को, बिना कोई घटबढ़ किए यथावत् स्वीकार किया जाना चाहिए. नीलकण्ठी और मधुसूदनी व्याख्याओं में ठीक ही कहा है कि प्रकृत श्लोक में 'तु' शब्द विषय के वैलक्षण्य को बताता है : *तु शब्दः पूर्वबुद्धेर्योगविषयत्वव्यतिरेक-सूचनार्थः*(मधुसूदनीव्याख्या). तारतम्यसूत्र की कल्पना का योग यहां नहीं बनता.

रामसुखदासजी की व्याख्या का महत्त्व इस बात में है कि यह गीता व्याख्यान की एक पद्धति विशेष का निदर्शन है. इस रूप में यह गीता व्याख्यान की प्रामाणिक पद्धति के प्रश्न को चर्चा के केन्द्र में ले आती है.

२. गीता में 'समभाव' 'कर्मयोग' 'बुद्धियोग' और 'नैष्कर्म्य' शब्दों के अर्थ :

२.१. *इनके व्याख्यान की दो पद्धतियां, सक्रम और सघन(वर्तुल)* :

गीता के दूसरे और तीसरे अध्यायों में योग के निर्वचन के क्रम में ऊपर दिए शब्दों का प्रयोग हुआ है. ये पारिभाषिक शब्द योग की साधना के सोपानक्रम को बताते हैं, या फिर एक ही सूक्ष्मभाव के परस्परान्तर्भावी पक्षों को, यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है. इससे गीता व्याख्यान की दो शैलियां प्राप्त होती हैं : रैखिकशैली जो यह मानती है, रैखिक क्रम में व्यवस्थित ये शब्द योग की साधना के क्रमिक विकास के सोपानों को रेखांकित करते हैं, तथा दूसरी सघन यानी वर्तुलशैली, जिसमें किसी भी एक पारिभाषिक को केन्द्र मान कर, अन्तःसम्बन्धानुसंधान के द्वारा, सम्पूर्ण साधना को परिकल्पित किया जा सकता है. स्वामी रामसुखदासजी की शैली इसका उत्कृष्ट निदर्शन है.

२.२. व्याख्या का रैखिक (सक्रम) कल्प :

उक्त पारिभाषिक शब्दों के बीच इसका अनुसंधान : कर्म हमें बंधन की अनेक सतहों में लिपटा, जकड़ा हुआ प्राप्त होता है. बंधन शब्द का इस्तेमाल करें तो यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि अनेक जंजीरों में जकड़ा हुआ हम तक आता है. बंधन की पहली, सर्वाधिक निगड़ जंजीर है, सुखदुःख की संवेदनाएं. ये प्राणिमात्र में कर्म का आदिम प्रवृत्तिहेतु हैं. इनसे कुछ अधिक स्फुट प्रवृत्तिहेतु हैं 'हानिलाभ, और हार-जीत के हानोपादेय मूल्य. ये सब मिल कर मानव के जन्मजात कर्मप्रवर्तकों के प्राथमिक दायरे का निर्माण करते हैं. इन मूल्यानुबंधों से मुक्त होना, उनके हानोपादेयात्मक द्वन्द्व में समभाव होना यही समत्वबुद्धि है. यह योग की साधना का प्राथमिक सोपान है. लेकिन यहां तक पहुंचने के लिए भी एक लम्बी यात्रा तय करनी होती है.

सुखदुःख, हानिलाभ, जयपराजय आदि द्वन्द्व मानव के आचरण के सहज प्रवर्तक हैं. योग की साधना तो वहीं से शुरू हो जाती है जब मानव इन आदिम प्रवृत्तिनिमित्तों को शास्त्रों के

अनुशासन के लिए समर्पित करता है. शास्त्रों से अनुशासित होकर ये प्राकृत प्रवृत्तिनिमित्त सकामधर्माचरण के रूप में संयत चयनात्मक व्यवहार को जन्म देते हैं. निष्काम धर्माचरण में वे निर्बीज हो जाते हैं और प्रवर्तक रूप में बच जाती है केवल शास्त्रों की आज्ञा. शुद्ध शास्त्रानुपालन रूप में निष्काम धर्माचरण, अहंकारसंश्लेश को छोड़ दें तो पूरी तरह निर्वैयक्तिक होता है. शास्त्रवचन अनुशास्ता हैं. उनकी हैसियत आदेश देने वाले स्वामी की होती है. जब कोई सेवक, बिना अपना हानिलाभ देखे, विशुद्ध कर्तव्यभाव से स्वामी की आज्ञा का पालन करता है, तो उस अनुपालन कर्म के किसी विपरिणाम का भागी वह नहीं हो सकता. यही आशय है, *'नैवं पापमवाप्स्यसि'* इस कथन का.

उत्प्रेरक रूप में शास्त्राज्ञा भी बंधननिमित्त है. इसका अनुपालन पुण्य और पाप के रूप में भोगबंधन को जन्म देता है. किन्तु इन्हीं शास्त्रों का जब निष्काम अनुपालन किया जाता है, तब वह मूल्यानुबंधों से मुक्त होता है. मूल्यानुबंधों से मुक्त होने का ही दूसरा नाम है समभाव से युक्त होना. मुख्य रूप से यह मन से और अमुख्य रूप से कर्म से जुड़ता है.

समभाव से किया गया कर्म पुण्यपापरूप किसी फल को, किसी नैतिक बंधन को जन्म नहीं देता. किन्तु शास्त्रों का अनुपालन मूल्यवान् है, इतनी मूल्यबुद्धि तो यहां भी बनी रहती है. आचरण तो शास्त्रविहित का ही होता है किन्तु समभाव से. यह योग का प्राथमिक सोपान है. इससे आगे योग की उच्चतर कोटि है, जिसमें सुखदुःखादि प्राकृत उत्प्रेरकों के साथ शास्त्रबुद्धि की प्रेरणा भी पीछे छूट जाती है. समत्वबुद्धि की तुलना में योग की यह उच्चतर कोटि है, क्योंकि इसमें आभ्यन्तर (कामनाएं) और बाह्य(शास्त्र) दोनों ही प्रकार के उत्प्रेरकों का परित्याग होता है. **इन उत्प्रेरकों के परित्याग के बाद आचरण के अनुशास्ता रूप में जो बच रहता है, वह है क्रमागत साधनाओं से शुद्ध हुई बुद्धि. अतः गीता में कर्मयोग को बुद्धियोग भी कहा है.**

इससे भी आगे की उपलब्धि है, नैष्कर्म्य. यह योग का समग्र अर्थ है, आदर्श की सम्पूर्ण सम्भावना का निरवशेष यथार्थीकरण. इसकी साधना मूलतः अहंकार के विसर्जन की साधना है, अहंकार जो योग की साधना के प्रत्येक क्रम के मूल में बुना हुआ चला आ रहा है. *'मैं धर्माचरण कर रहा हूं', 'मैं समभाव से आचरण कर रहा हूं', 'मैं शास्त्रबुद्धि सहित समस्त प्राकृत उत्प्रेरकों*

का त्याग करके कर्म में प्रवृत्त हो रहा हूं,' 'मैं केवल शुद्धबुद्धि के अनुशासन में काम कर रहा हूं' — यह कर्तृत्वाहंकार प्रतिपद योग की साधना में अनुस्यूत है. इस अहंकार, के त्याग को लक्ष करती है, साधना की नैष्कर्म्य कोटि.

अहंकार का भी सबसे कठिन, सबसे सूक्ष्म रूप है साधना का अहंकार है, साधक होने का अहंकार. साधनाकर्म अहंकार की अन्तिम शरणस्थली है. अतः अहंकार का त्याग, उसके अन्तिम ठिकाने को ठिकाने लगाए बिना पूरा नहींहोता. योग अपनी साधना के क्रम में त्याग के जिस रूप को परिकल्पित करता है, उसमें अन्तिम आहुति तो उस साधना की ही होती है, जिसे अहंकार ने अपना ठिकाना बना रखा है. इसी में नैष्कर्म्य का स्वारस्य है. साधनाकर्म की आहुति के द्वारा ही नैष्कर्म्य शब्द अर्थ से सम्पन्न होता है. उद्देश्य पूरा हो जाने के बाद, उसके उपस्कर का परित्याग जरूरी है. इसी को ध्यान में रख कर महाभारत में कहा है : 'त्याग करो, उस भाव का भी त्याग करो, जिससे तुमने त्याग किया है' :

त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज।

उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तं त्यज॥ महाभारत (शा.प.३३१.४४)

(धर्म का त्याग कर और अधर्म का भी; सत्य और असत्य का त्याग कर; सत्य और असत्य दोनों का त्याग करके, उस साधन का भी, जिससे त्याग करता है, त्याग कर.)

२.३. सघन(वर्तुल) व्याख्याकल्प :

ऊपर योग के उपदेश का सक्रम विवरण दिया. इसमें पारिभाषिक शब्दों को साधना के विकास के क्रम का सोपान मानते हुए उनकी उद्देश्यपूर्ण व्याख्या की जाती है. इस सरल रैखिक-क्रम के अलावा, गीता में योग की व्याख्या के लिए विद्वानों ने एक बहुआयामी पद्धति का भी सहारा लिया है जिसे हम व्याख्या की सघन या वर्तुल शैली कह सकते हैं. इसमें किसी एक परिकल्प को — समत्वभाव, कर्मयोग, या फिर नैष्कर्म्य — इन में से किसी एक को केन्द्र में रख कर सम्पूर्ण साधना को एक घनीभूत विग्रह के रूप में परिकल्पित किया जाता है. इसमें विवेचनाधीन प्रत्येक बुद्धिकल्प (concept) इतर बुद्धिकल्पों के अर्थ को अपने में समेटे, उनके अर्थ का उद्घाटन करता, उनके अर्थ से परिपुष्ट और उल्लसित होता अपने अर्थवैभव का प्रकाशन करता है. प्रमुख पारिभाषिक शब्दों का पर्याय रूप में प्रयोग, इस व्याख्या शैली

में कोई अपराध नहीं बनता, क्योंकि प्रत्येक बुद्धिकल्प दूसरों को परिकल्पित करते हुए ही प्रवृत्त होता है. इस तरह एक विशाल अन्योन्याश्रय परिवृत्त में, कुछ चुने हुए शब्दों की सहायता से अभिव्यक्तियों का सृजन होता रहता है, बिना कुछ कहे, बिना कुछ समझे. यह गीता के पेशेवर भाषणकर्ताओं की प्रिय शैली है, क्योंकि इसमें गलत होने की सम्भावना बहुत कम होती है, जो कुछ भी बोला जाए, सब सही होता है. यह बात अलग है कि सुनने वाले को भाषण के अलावा कुछ नहीं मिलता.

दुरुपयोग की इस सम्भावना के वाबजूद, सघन व्याख्याशैली के पक्ष में सबसे बड़ी बात यह है कि इसको स्वीकार किए बिना गीता के कुछ स्थलों को ठीक से समझा नहीं जा सकता. यथा — 'योग में उपक्रम का नाश नहीं होता'(*नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति*), 'इसमें प्रत्यवाय की प्राप्ति नहीं होती'(*प्रत्यवायो न विद्यते*), 'इस धर्म का स्वल्प अनुष्ठान भी महाभय से त्राण दिलाने वाला होता है'(*स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्*), ये वाक्य तभी सार्थक हो सकते हैं जब साधना के प्रत्येक सोपान को, सम्पूर्ण के सूक्ष्मगर्भ के रूप में स्वीकार कर लिया जाए. परस्परान्तर्भावी व्याख्याकल्प गीता की शैली के निकट हैं, और गीता के कुछ स्थलों को समझने में उपयोगी भी, यह मानने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए.

२.४. आदर्श व्याख्याकल्प :

यहां यह बात नहीं भूलनी चाहिए कि गीता आध्यात्मविद्या का गान है, काव्य है. अपने स्वरूप के अनुसार यह अगर अभिव्यक्ति की सघन, सर्जनात्मक शैली का प्रयोग करती है तो यह उसके स्वरूप की मांग है. इससे भिन्न, व्याख्या का सहज रूप है विश्लेषण. वह व्याख्येय रचना को विश्लेषित करके, विचार प्रत्ययों को परिभाषित करके ही मूल के तात्पर्यार्थ को बुद्धिगम्य बनाती है. अतः जो शैली गीता के लिए उपयुक्त है वह उसकी व्याख्या के लिए भी उपयुक्त हो, यह जरूरी नहीं है. व्याख्या के लिए, रैखिकक्रम ही अधिक उपयुक्त लगता है. परस्पर सम्बद्ध सोपानक्रम में व्यवस्थित होने से, इसे आसानी से समझा समझाया जा सकता है.

रैखिक और सघन दोनों व्याख्या कल्पों के उपयोगी पक्षों का संग्रह करते हुए, गीता के व्याख्यान की एक आदर्श शैली की परिकल्पना की जा सकती है. उपदेश की सम्यक् अर्थावगति के लिए व्याख्यान रैखिकक्रम में ही होना चाहिए. लेकिन क्रम के सोपान परस्पर अन्योन्याभावी

हैं, यह मानने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती. अतः एक दूसरे के अर्थ को उद्भासित करने में उनका सुविचारित प्रयोग किया जा सकता है. क्वचिद् स्थलों में शब्दों का पर्यायभाव मूल की सामग्री से ही प्राप्त है. यथा, दूसरे अध्याय में जब योग की चर्चा होती है तो वह कर्मयोग ही है, यह बात उपदेश की सामग्री से ही प्राप्त है. यह सघन शैली का एक उपपादक कल्प है जिसे रैखिक व्याख्याक्रम में स्वीकार करते हुए, एक आदर्श व्याख्याशैली आकार लेती है. अपनी वयाख्या में हमने यथा सम्भव इसी शैली का अनुकरण किया है.

३. योगधर्म की प्रशस्ति :

३.१. एक अभूतपूर्व मूल्यदर्शन से परिचय : ऊपर दिए श्लोकों में *'बुद्धिर्योगेत्विमां श्रृणु'* यह कह कर, योगबुद्धि के उपदेश का समारम्भ करते हुए, डेढ़ श्लोक में उसकी प्रशंसा करते हैं :

बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि॥३९॥
नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात।४०॥

जिस बुद्धि से युक्त हो कर तुम कर्मबन्ध से मुक्त हो जाओगे (३९). इसमें न तो उपक्रम का नाश है, न कोई प्रत्यवाय. इस धर्म का स्वल्प(अनुष्ठान) भी महाभय से रक्षा करता है (४०).

यह योग की प्रशस्ति है, इसलिए ताकि उसमें सुनने वाले की अभिरुचि जागृत हो सके. *'तां च बुद्धिं स्तौति प्ररोचनार्थम्'* (उस बुद्धि की स्तुति करते हैं, रुचि जागृत करने के लिए) . आचार्य शङ्कर के इस कथन का अनुमोदन करते हुए, अधिकांश भाष्यकारों ने इसका यही अर्थ किया है. किन्तु यह स्तुतिमात्र नहीं है. स्तुति के बहाने से योगबुद्धि की जिन उपलब्धियों को गिनाया गया है वे अभूतपूर्व मूल्यदर्शन की स्थापना करती हैं. इतना ही नहीं, ये फलश्रुतियां एक समग्र धर्म के रूप में योग के विशिष्ट स्वरूप का प्रतिपादन करती हैं.

३.२. फलश्रुतियों का एकीकृत संज्ञान : यतः *'बुद्धिर्योगेत्विमां श्रृणु'* इस औपचारिक प्रतिज्ञा के पहले ही, बिना नाम लिए *'सुखदुःखे समे कृत्वा.'*..(श्लो.३८) इस श्लोक में योग के प्रारम्भिक व्यवहार का निदर्शन कराया गया है. विवरण की समग्रता के लिए इसकी फलश्रुति का भी संग्रह किया जा सकता है. श्लोक ३८ से ४० पर्यन्त योगबुद्धि के फल निर्वचन में एक क्रम है, जिसे

नीचे दी हुई सूची की सहायता से समझा जा सकता है :

१. **नैवं पापमवाप्स्यसि** (ऐसा करने पर तुम्हे पाप की प्राप्ति नहीं होगी) - श्लो.३८

२. **कर्मबन्धं प्रहास्यसि** (कर्म के बंधन को तोड़ सकोगे) - श्लो.३९

३. **नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति** (इसमें अभिक्रम का नाश नहीं होता) - श्लो.४०

४. **प्रत्यवायो न विद्यते** (इसमें प्रत्यवाय की प्राप्ति नहीं होती) - श्लो.४०

५. **स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्** (इस धर्म का स्वल्प अनुष्ठान भी महाभय से त्राण देने वाला होता है) - श्लो.४०

३.३. प्रस्तुत फलश्रुतियों के बीच तारतम्य : इन फलश्रुति वाक्यों में एक क्रम है. प्रथम वाक्य सन्दर्भ के अनुरोध से कहा गया है, अगले श्लोक में फलश्रुति के दायरे का विस्तार होता है.

कर्म में वैगुण्य उत्पन्न करने वाले दो दोष हैं, *अभिक्रमनाश* और *प्रत्यवाय.* योग की साधना इन दोनों दोषों से मुक्त होती है, यही बात अग्रिम दो फलश्रुतियों का कथ्य है. लेकिन ये तो व्यावर्तक विशेषताएं है. अपने भाव रूप में योग एक सम्पूर्ण धर्म है, जिसका स्वल्प अनुष्ठान भी महाभय से त्राण दिलाने वाला है : ***स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महता भयात्.***

इन फलश्रुतियों में बीज रूप में कर्मयोग का सम्पूर्ण स्वरूप परिकल्पित है, जिसे इनके सुसम्बद्ध व्याख्यान के द्वारा सामने लाया जा सकता है.

४. फलश्रुतियों पर यथाक्रम विचार :
तन्मुखेन कर्मयोग के स्वरूप का निर्वचन :

४.१. नैवं पापमवाप्स्यसि : *'इस प्रकार तुम पाप के भागी नहीं होओगे'* यह समत्वबुद्धि से किए गए धर्माचरण का फल बताया : *सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ, ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि.* यहां यह कहा जा सकता है कि समभाव से किए गए धर्माचरण में पुण्य और पाप दोनों की ही सम्भावना का निराकरण प्राप्त है. ऐसी स्थिति में 'नैवं पापमवाप्स्यसि'(तुम्हें पाप नहीं प्राप्त होगा) यह कहने का कोई औचित्य नहीं बनता. कहा यह जाना चाहिए कि *'तुम्हें पुण्य और पाप प्राप्त नहीं होंगे'.* वस्तुतः यह संदर्भ से प्राप्त संकोच है. उपदेश का संदर्भ है अर्जुन के मन में बैठी यह आशंका कि आसन्न युद्ध पापमय है, स्वजनविनाश

का निमित्त होने से. पाप की यह आशंका अर्जुन का पीछा नहीं छोड़ रही है. इसे ध्यान में रखते हुए *'नैवं पापमवाप्स्यसि'* यह आश्वासन अपरिहार्य हो जाता है. यह फलश्रुति, सन्दर्भ की विवशता है. यह भी सन्दर्भ की ही विवशता है कि उतना ही कहा जाए, जितना उसकी मांग है. इससे अधिक कहना अत्युक्ति होगी. अतः प्रथम फलश्रुति इतनी ही है : ***नैवं पापमवाप्स्यसि.***

४.२. **कर्मबन्धं प्रहास्यसि :** यह फलश्रुति इस अधूरी बात को पूरा करने का दायित्व निभाती है. कारण कि यहां योग की चर्चा सन्दर्भ विशेष में न हो कर, *बुद्धियोगे त्विमां शृणु* इस उपक्रम के साथ अपने साक्षात् स्वरूप में अवतरित है. इसके लिए उद्दिष्ट फलश्रुति (कर्मबंधन का निराकरण) केवल पाप के नहीं, पाप और पुण्य दोनों के निराकरण को परिकल्पित करती है. गंभीर मनोवैज्ञानिक और नैतिक समस्याओं से जुड़ा, कर्मबंधन का यह परिकल्प कर्मयोग चिन्तन का आधारभूत सन्दर्भ है और इस रूप में विस्तृत व्याख्यान की अपेक्षा रखता है. अतः इसकी चर्चा को उपयुक्त अवसर के लिए स्थगित करते हुए, अन्य फलश्रुतियों पर विचार करते हैं.

४.३. **नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति :** निष्काम कर्म की साधना साधारण कर्मों की तरह नहीं है. सामान्यतया कर्म को फलीभूत होने के लिए अनेक दृष्ट और अदृष्ट सहकारी कारणों की जरूरत पड़ती है. कृषि का उपक्रम, समय से बारिश न होने के कारण विफल हो सकता है. निष्काम कर्म की साधना ऐसा कर्म नहीं है जिसका उपक्रम निष्फल जाए. योग एक असाधारण प्रयत्न है, एक ऐसा व्यवसाय जो अपने आपमें मूल्यवान् है. कृषिकर्म और यागादि की भांति, यह अभीष्ट फल के सम्बन्ध से मूल्यवान् नहीं बनता. योग की दिशा में उठाया गया प्रत्येक प्रयास स्वरूपावगति की दिशा में एक कदम है, एक अव्यवहित उपलब्धि. अतः निष्फलता के लिए, जो समस्त मानवीय उपक्रमों का पीछा करती है, कर्मयोग में कोई अवकाश नहीं है. इसीलिए कहा : ***'नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति'.***

योग रूप में जो कर्म है उसका निदर्शन ***'सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ'***, इस वाक्य में हुआ है. यह मन का कर्म है, जो मन के द्वारा, मन की वृत्ति को लक्ष करते हुए, मन को ही समत्वबुद्धि में प्रतिष्ठित करने की बात करता है. सभी कर्मों में वे लौकिक हों या वैदिक -— कर्ता (साधक), साधन (करण), क्रिया और फल — ये सभी अलग अलग होते हैं. कुठार

हाथ में लेकर जब कोई व्यक्ति पेड़ को काटता है, तो वह व्यक्ति पेड़ काटने की क्रिया का कर्ता है, कुठार साधन है, कुठार हाथ में लेकर उसे बार बार वृक्ष पर निर्दिष्ट स्थान पर गिराना क्रिया है, वृक्ष में विकार उत्पन्न होना, उसकी डाल का कट कर उससे अलग होना यह फल है. इनमें से प्रत्येक के उपकारक और अनुपकारक अनेक बाह्य सहकारी कारण होते हैं, जो कर्ता के नियंत्रण के बाहर है, अतः परिणाम, कर्म की सफलता और असफलता, अनिश्चित होता है. उद्यम का अपने फल के साथ साक्षात्, अव्यवहित सम्बन्ध न होना, यह उद्यम में, उसे कितनी ही कुशलता के साथ क्यों न किया जाए, अनिश्चय का आधान करता है. यही कर्म की अनैकान्तिकता है.

अनिवार्यतया अनिश्चय-संक्रमित सभी लौकिक और वैदिक कर्मों से विलक्षण है, कर्म की योगविधि : *"सुख दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ, ततो युद्धाय युज्यस्व..."*. यह मन के द्वारा, मन की वृत्ति को विषय बनाते हुए, मन को ही समत्वभाव में प्रतिष्ठित करने का नाम है. यहां कर्म का कर्ता साधन और फलाधिष्ठान - तीनों एक ही हैं. अन्तर जो भी है, नियोगजनित है, भिन्न भूमिकाओं के कारण है, स्वरूपभेद के कारण नहीं. एक ही अधिष्ठान में सम्पन्न होती इन विविध भूमिकाओं में, किसी बाहरी तत्त्व का हस्तक्षेप सम्भव नहीं है. अतः किए गए उपक्रम (प्रारम्भ) का फल, जो मन का परिष्कार है, वह व्यवधान एवं वैगुण्य की समस्त सम्भावनाओं से मुक्त सीधा और अनिवार्य रूप से प्राप्त होता है. आचार्य शङ्कर ने इसी बात को अपने अनूठे अंदाज में कहा है : ***प्रारम्भस्य नानैकान्तिकफलत्वमित्यर्थम्.*** मन के परिष्कार की दिशा में किया गया, मन का प्रयत्न (योग), निष्फल नहीं होता, क्योंकि प्रयत्न जहां हो रहा है, उसी जगह में उसी काल में वह अनहुआ कैसे हो सकता है. यही *'नेहभिक्रमनाशोऽस्ति'* अर्थ है.

४.४. प्रत्यवायो न विद्यते : *प्रत्यवाय'* का अर्थ है कर्म में न्यूनता से उत्पन्न अनभीष्ट परिणाम. यह वैदिक कर्मकाण्ड का पारिभाषिक शब्द है. कर्म का यथाविधि अनुष्ठान न होने पर, उससे जिस पाप की प्रसक्ति होती है, उसे प्रत्यवाय कहते हैं. इस प्रकार वैदिक कर्म के दोषपूर्ण अनुष्ठान के दो विपरिणाम सामने आते हैं, अभीष्ट फल की अप्राप्ति और पाप अर्थात् *प्रत्यवाय* की प्राप्ति. 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' इस विधि से संध्यावंदनादि नित्यकर्म का विधान हुआ है. इस नित्यकर्म के अननुष्ठान से उत्पन्न पाप, प्रत्यवाय का लोकप्रसिद्ध उदाहरण है.

यतः सभी कर्म, लौकिक हों या वैदिक, फल के लिए अनेकानेक सहकारी कारणों पर निर्भर होते हैं, उनमें वैगुण्य की सम्भावना, फलागम से पहले ही उद्यम का अन्त (अभिक्रमनाश) तथा अलौकिक विपरिणाम (प्रत्यवाय) की सम्भावना सदा बनी रहती है. इनसे भिन्न कर्म की एक विलक्षण कोटि है योग. फलोत्पादक होने के कारण योग को कर्म कहा जा सकता है किन्तु यह अन्य कर्मों से इस रूप में भिन्न है कि यह मन की साधना है, बाह्य कारण-सामग्री निरपेक्ष. अतः अन्य कर्मों में अनवधानता, या बाह्य कारणों के अप्रत्याशित हस्तक्षेप से जो वैगुण्य उत्पन्न हो जाता है, उसकी इसमें कोई सम्भावना नहीं बनती. यतः योगरूप मानसिक क्रिया सीधे संकल्प से प्राप्त होती है, बीच में कोई व्यवधान नहीं होता, अतः बाहरी और भीतरी किसी भी प्रकार के वैगुण्य का खतरा इसमें नहीं है.

ऊपर दिए विवरण की एक उपपत्ति यह है कि धर्मविधान आस्था का तात्त्विक आधार नहीं हो सकते, क्योंकि कर्म जिसका वे विधान करते हैं, उसके अनुष्ठान में वैगुण्य की सम्भावना सदा बनी रहती है. इस वैगुण्य के दो रूपों — उपक्रमनाश और प्रत्यवाय — की चर्चा यहां की गई है. इसी का एक तीसरा सूक्ष्मरूप भी है; वह है मिथ्याचार, जिसका उल्लेख गीता के तीसरे अध्याय में किया गया है. कर्म में विकृति की इन सम्भावनाओं के कारण विधिरूप धर्म श्रेय के ऐकान्तिक, निश्चयात्मक साधन के रूप में आश्वस्त नहीं करता. शास्त्रनिबद्ध विधिरूप धर्मों की सीमित अर्थवत्ता की चेतना योग में प्रवृत्ति का औचित्य भी है और एक अभिनव धर्म के रूप मे आश्वस्त करने वाले स्वरूप का संकेत भी : *स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्.*

सकाम होने पर कर्म के सभी रूप, लौकिक और धार्मिक, बंधनपर्यायों का निर्माण करते हैं. योगधर्म एक साथ कर्मबंधन और उससे उत्पन्न महाभय से परित्राण का आश्वासन है.

४.५. कर्मबन्धं प्रहास्यसि : *'तुम कर्मबंधन को तोड़ सकोगे',* यह एक महत्त्वपूर्ण फलश्रुति है, जो योग को मोक्ष के साक्षात् साधन रूप में प्रस्तुत करती है. इससे दो सवाल पैदा होते है : पहला यह कि यह कर्मबंधन है क्या, और दूसरा यह कि कर्मबंधन का टूटना किसे कहते हैं. ये प्रश्न इतने महत्त्वपूर्ण हैं कि आनुषंगिक होते हुए भी, स्वतंत्र शीर्षक देकर इन पर विचार करना हमारी विवशता है.

५. कर्मबंधन है क्या ?

सकाम कर्म, लौकिक और अलौकिक, दो रूपों में बन्धनकारी होते हैं. इन्हें बंधन के मनोवैज्ञानिक और नैतिक पर्याय भी कह सकते हैं. फल की कामना से किया गया कर्म, जहां तक उसके स्थूल रूप की बात है, वह लौकिक फलागम के साथ उपरत हो जाता है. यह फल प्रिय या अप्रिय हो सकता है, या फिर अभीष्ट या अनभीष्ट. दूसरे शब्दों में, कर्म सफल या असफल हो सकता है. कर्म के ये फलानुबंध, प्राणी के भीतर एक स्थायी संस्कारकोष का निर्माण करते हैं, जहां सुरक्षित रहते हुए, ये भावी प्रवृत्तियों के हेतु बनते हैं. यह कर्मबन्ध का मनोवैज्ञानिक रूप है.

कर्मबन्धन का दूसरा रूप नैतिक मूल्यकोष का आकार लेता है. यह बंधन का अपेक्षाकृत सूक्ष्म और अलौकिक आयाम है. इसमें शुभाशुभ कर्म, पुण्य और पाप में रूपान्तरित हो कर कर्ता के साथ जुड़े रहते हैं, और यथासमय फलीभूत होते हैं. स्थूल कर्म से भिन्न, पुण्य और पाप, अर्थात् नैतिक मूल्यों के रूप में संग्रहीत कर्म, परिपक्व होने में समय लेते हैं, और उनकी संग्रहीत शक्ति ही जन्मान्तर का सृजन करती है. लौकिक और अलौकिक इन दोनों ही रूपों में कर्मबन्धन आसक्ति से उत्पन्न होते हैं, और अपने आसक्ति मूल को ही पुष्ट करते हैं.

आसक्ति से तात्पर्य है लगाव, या लगाव का हेतु. मूल आसक्ति तो जिजीविषा है. प्राणिमात्र के लिए, जीवन के लगाव से बड़ा कोई लगाव नहीं होता. जो वस्तुएं या कर्म जीवन के उपकारक हैं, उसे समृद्ध बनाते हैं, वे भी परम्परया आसक्ति का विषय हो कर मूल्यवान् बनते हैं. कर्मप्रवृत्ति का यह मूल्यगर्भ फलाकांक्षा का रूप लेता हैं. फल का अर्थ है अभीष्ट वस्तु से प्राप्त होने वाला भोग, जो जीवन को समृद्ध बनाता है. मनुष्य पैसे के लिए पैसा नहीं कमाता, बल्कि पैसे से जो भोग, जो सुख खरीदे जा सकते हैं, उसके लिए पैसा कमाता है. फलतृष्णा का अर्थ हुआ भोग और उसके साधनों में मन का लगाव. भोग कैसा भी हो, है तो कर्मरूप ही; अन्य कर्मों की भांति परिणतिपार्यन्तिक, क्षणजीवी, जो घूर्ण के रीता होने पर समाप्त हो जाता है. किन्तु भोग में जो मन का लगाव है वह एक टिकाऊ बन्धन है. लोग दावत में खाकर आते हैं. जहां तक भोजन के स्वाद का सवाल है, वह भोजन पर्यन्त ही रहता है. किन्तु खाने वाले वर्षों तक दावत

को याद रखते हैं. इस रूप में फलासक्ति मन का एक पर्याय है, उसका फलानुविद्ध संस्कार, जो कामनाओं को जन्म देता है.

लोग अक्सर यह कहते सुने जाते हैं कि कर्म में निष्काम प्रवृत्ति सम्भव ही नहीं है, क्योंकि प्राणी कामना से प्रेरित हो कर ही कर्म में प्रवृत्त होता है. कामना कर्म की प्रमुख प्रेरणा होती है, इसमें संदेह नहीं; किन्तु सर्वत्र कामना ही प्रेरक हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता. लोकसंग्रह की भावना, शास्त्रों की आज्ञा और विवेक भी कर्म में प्रेरक होते है. जहां कामना प्रेरक है, वहां भी उसके प्रायोजकरूपों में, उद्देश्यप्रवर्तित और फलासक्तिप्रवर्तित रूपों में अन्तर किया जा सकता है.

ऊपर दिए कर्मबंधन के विवरण को ध्यान में रखते हुए, उससे मुक्ति की सम्भावनाओं को टटोला जा सकता है.

६. कर्मबन्धन से मुक्ति की सम्भावनाएं :

६.१. पारम्परिक चिन्तन : लगभग सभी भारतीय दार्शनिक, चार्वाकों को छोड़ कर, कर्मबन्धन के स्वरूप और मनोविज्ञान को लेकर लगभग एक जैसी सोच रखते हैं. अन्तर है तो साधना पद्धतियों में. बौद्धदर्शन और अद्वैतवेदान्त एक सनातन अज्ञानग्रन्थि को कर्मबन्धन का कारण मानते हैं. अतः उनकी साधनापद्धति उस अज्ञानग्रन्थि के उच्छेद को लक्ष बना कर प्रवृत्त होती है. यह अज्ञानग्रन्थि जिस सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को जन्म देती है, वह हमारा वासनामूलक प्रपंच भी है और बंधन भी. इस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का, जिसे बौद्ध प्रतीत्यसमुत्पाद कहते हैं, बड़ा हिस्सा अवचेतन से जुड़ा है. यह अवचेतन किसी विधिनिषेध का विषय नहीं हो सकता, किसी साधना के विधान का भी नहीं, क्योंकि वह स्वरूपतः अनिरीक्ष्य है, अत्यन्त निपुण व्यक्ति के लिए भी यह साक्षात् निरीक्षण का विषय नहीं बनता. बौद्धसाधना पद्धति का यह आलोच्य पक्ष कहा जा सकता है कि यह उसे विषय बना कर प्रवृत्त होती है, जो स्वरूपतः अनिरीक्ष्य है.

जहां तक वेदान्त की बात है, (शांकरवेदान्त) वह तो पहले से ही अत्यन्त प्रबुद्ध अधिकारी की कल्पना करते हुए ही प्रवृत्त होता है. आचार्य शङ्कर के अनुसार जो व्यक्ति *नित्यानित्यवस्तुविवेक, इहामुत्रार्थभोगविराग, शमदमादिसाधनसम्पत्* और *मुमुक्षुत्व* (मोक्ष की कामना) से सम्पन्न हो, वही

वेदान्त में अधिकारी हो सकता है. आचार्य शङ्कर इस बारे में विचार करना आवश्यक नहीं समझते कि इस विरल अधिकार सम्पदा का अर्जन आखिर होगा कैसे? अधिकारवाक्य से स्पष्ट है कि वेदान्त जनसामान्य के लिए नहीं है. बौद्धसाधना सामान्यजन के लिए खुली है किन्तु उसका स्वरूप ऐसा है कि बिरले ही उस पर चल सकते हैं, जब कि वेदान्त पहले से ही अपनी अधिकार व्यवस्था के द्वारा जनसामान्य के प्रवेश को रोक देता है.

गीता की दृष्टि से विचार करते हैं तो दोनों ही ज्ञानवादी साधनापद्धतियां दोषपूर्ण हैं. बौद्धसाधनापद्धति अवचेतन की दुर्गम गहराइयों को अपने विधान का विषय बनाती है जिसका बड़ा हिस्सा स्वरूपतः अलक्ष्य है, और भटकाव की सम्भावनाओं से ग्रस्त है. वेदान्त में स्थिति इससे भी खराब है. उसमें न तो इस बात का कोई स्पष्ट विवरण है कि कैसे कोई व्यक्ति ब्रह्मजिज्ञासा का अधिकारी हो सकता है और न ही इस बात का कि अधिकारी में वेदान्त का उपदेश किस प्रकार ब्रह्मावगति में पर्यवसित होता है, क्योंकि किसी परिष्कार की, किसी साधना की ब्रह्मावगति में हेतुता वेदान्त को स्वीकार्य नहीं हो सकती.

६.२. बंधन-मुक्ति के उपायों के बीच कर्मयोग का वैशिष्ट्य :

उक्त प्रसिद्ध ज्ञानवादी साधनापद्धतियें की कठिनाइयों को ध्यान में रखते हुए ही गीता जनसामान्य की साधनापद्धति के रूप में योग(प्रकृत में कर्मयोग) का उपदेश करती है. इससे यह अर्थ कदापि नहीं निकाला जाना चाहिए कि ज्ञानमार्ग गीता की दृष्टि में महत्त्वपूर्ण नहीं है. गीता में ज्ञानमार्ग(सांख्य) को मूर्ध्यन्य उपदेश का गौरव प्राप्त है. प्रकृत में कर्मयोग के महत्त्व को स्पष्ट करने के लिए, सर्ववर्जनानिरपेक्ष, सर्वाधिकार-निरपेक्ष, उसके स्वरूप को दिखाने के लिए ही ज्ञानमार्ग की सीमित अपील और असाध्यसाधनता की चर्चा की गई है. सच तो यह है कि बहुत्ववादी जीवनदर्शन में कुछ भी फिजूल नहीं होता.

कर्मयोग की साधना का वैशिष्ट्य यह है कि यह कर्म के पूर्व की अज्ञानग्रन्थिनिमित्त मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को, जिसका अधिकांश पानी में डूबे हिमखण्ड की भांति अलक्ष्य और अवचेतन में समाहित होता है, विषय न बना कर, सीधे सीधे, साफ दिखाई देते **कर्म** को केन्द्र में रख कर, कर्मबन्ध से मुक्ति के उपाय पर विचार करती है. इस पर विशेष विचार आगे के व्याख्यानों में होगा. यहां तो मुख्य विषय फलश्रुति विचार ही है.

७. योगधर्म का महाभय से आश्वस्त करने वाला स्वरूप :

स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् यह अन्तिम फलश्रुति है, जो एक आश्वस्त करने वाले सम्पूर्ण धर्म के रूप में योग की प्रतिष्ठा करती है. यह महाभय क्या है, जिससे योग परित्राण का आश्वासन देता है, इस पर निकट से विचार होना चाहिए.

७.१. महाभय के रूप : अस्तित्वमूलक और नैतिक :

यह फलश्रुति उभयमुखी है. एक तरफ यह पहले कही गई फलश्रुति '*कर्मबन्धं प्रहास्यसि*' से जुड़ कर, बंधन के सम्पूर्ण मनोविज्ञान और वस्तुभूत प्रपञ्च को महाभय के रूप में परिकल्पित करती है, तो दूसरी ओर अपने ठीक बाद के श्लोक *'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्'* से जुड़ कर आस्था के विखण्डन को महाभय के रूप में परिकल्पित करती है. प्रथमपक्ष मनोविज्ञान और तत्त्वदर्शन से सम्बन्धित है, जब कि इसका द्वितीयपक्ष समाजशास्त्र और धर्मदर्शन से. यहां प्रथमपक्ष पर विस्तार से विचार करेंगे. द्वितीयपक्ष अग्रिम एकक की भूमिका बनता है, अतः उसके बारे में विशेष विचार वहीं होगा.

७.२. महाभय अस्तित्वतृष्णा के रूप में : इस बारे में विवाद नहीं हो सकता कि मृत्यु का भय ही '**महाभय**' है जिससे कीट पतंग जैसे क्षुद्र प्राणियों से लेकर देवदानव पर्यन्त, यह सम्पूर्ण सृष्टि आतंकित है. संसार के सभी धर्म इस मृत्युभय को ही सम्बोधित हैं. इस *महाभय* के अर्थ का विश्लेषण करें तो आत्मविस्मृति, अपने होने की चेतना को खो देने के भय के अतिरिक्त इसका और कोई अर्थ नहीं हो सकता. अपने को खो देने का अर्थ है, अपने बारे में अपनी चेतना को खो देना, अर्थात् स्वरूप विमर्श को खो देना. यही वह भय है जिससे सृष्टि का हर प्राणी अतंकित है. प्रश्न यह है कि यह यह चेतना लोप क्यों और कैसे होता है. हिन्दू धर्मदर्शन, इसके लिए कर्मबन्धन की अवधारणा प्रस्तुत करता है.

अपने सामान्य अर्थ में कर्म नाम है कर्मेन्द्रियों के व्यवहार का. यह अपने सहज स्वाभाविक रूप में कोई बन्धन नहीं है. किन्तु जब यह कर्म कामना से प्रेरित होता है तब यह व्यक्तित्व के चेतन अधिष्ठान में, संकोच और क्षरण, ये दो दोष उत्पन्न करता है. वासनावासितकर्म चेतन-अधिष्ठान को अपने सम्बन्ध से कर्ता के रूप में निरूपित करता है. यह कर्म द्वारा चेतन अधिष्ठान का संकुचन हुआ. इससे चेतन अधिष्ठान में एक सीमित, परिच्छिन्न, अतः अर्धचेतन व्यक्तिविग्रह

का निर्माण होता है. यह चेतन अधिष्ठान का व्यावहारिक दुनियांदार संस्करण है. इसी को पारिभाषिक भाषा में *अहंकार* कहते हैं. सकाम कर्म की बहिर्मुखी, अहंकार में सिमटी, मुट्ठी भर चेतना भी अपने ठिकाने पर स्थिर और सुरक्षित नहीं रहती. चेतनस्वरूप के अपलाप से बड़ा कोई भय नहीं हो सकता.

फलासक्ति — कर्म से लेकर फलागम, अनन्तर फलभोगपर्यन्त घिसटती इस संक्षिप्त सी चेतनधारा में जिस क्षरण और विच्युति की प्रक्रिया को जन्म देती है, वह चेतना को भोक्ता रूप में विजड़ित करके, भोग्य विषय से उसको जोड़कर ही उपरत होती है. जो कर्तृत्व-विशिष्टचेतन था, वह अब भोग्य का सम्बन्धी, चेतनालेश के कारण अपने जड़ सम्बन्धी से कुछ ही बेहतर स्थिति में पहुंच कर ठहर जाता है. यह चेतना का क्षरण है, जिसे प्रत्येक सकाम कर्म में सहज देखा जा सकता है.

कर्म करते समय *'मैं कर्म का कर्ता हूं, 'मैं कर्म का भोक्ता हूं'* इस दोहरे रूप में अहंकार का आत्मा में आक्षेप होता है. यह द्वि-आयामी अहंभाव आत्मा को विषयोन्मुख (बहिर्मुखी) बनाते हुए, आत्मचेतना में अनात्म-प्रसक्ति, स्वरूप-विस्मृति और विपर्यास का हेतु बनते हैं. यही *महाभय* है. आत्मा में अहंभाव वस्तुसंसर्गोद्भूत प्रत्यय है जो आत्मा के प्रत्यक् स्वरूप को झुठलाता है.

ऊपर दिए विवरण में महाभय की अवधारणा की तात्त्विक सम्भावनाओं पर विचार हुआ. इन अर्थों के साथ कुछ दार्शनिक निष्कर्ष जुड़े हो सकते हैं. उन्हें स्वीकार करना जरूरी नहीं है. महाभय की सम्भावनाओं का संज्ञान भर कराना इस विवरण का प्रयोजन है.

७.३. आस्था का विघटन :

नैतिक (धर्मदर्शन की) दृष्टि से महाभय का रूप : विश्वास और अविश्वास के बीच की स्थिति से भयावह कोई त्रासदी नहीं हो सकती. आस्था का जब बलपूर्वक दमन किया जाता है, तो उसका संगठित हो कर प्रतिरोध किया जा सकता है. किन्तु आस्था जब भीतर से बिखरती है तो कोई बाहरी ताकत कोई अनुशासन उसकी रक्षा नहीं कर सकता. बहुत से धार्मिकराज्य आस्था की रक्षा के लिए कानून का सहारा लेते हैं, बलपूर्वक वैमत्य का दमन करने का प्रयास करते हैं, वे वस्तुतः प्रतिक्षण महाभय की छाया में ही जीते हैं.

आभ्यन्तर अनुशासन से रहित, केवल राजकीय या सामाजिक अनुशासन पर टिके धर्म, भीतर से बहुत कमजोर होते हैं. दुनियां में कहीं भी उनके पैगम्बर या पवित्र-किताब की प्रतिकूल समीक्षा हुई, और आस्था का सारा प्रासाद बेचैन हो कर हाहाकार करने लगता है. अपनी समस्त आक्रामकता के वाबजूद, इनसे अधिक दीन, इनसे अधिक असहाय कोई धर्म नहीं हो सकता. ये स्थायीरूप से विकलांग धर्म हैं; इन्हें हमेशा राज्याश्रय की बैसाखी चाहिए. जहां बहुमत में हैं वहां भी, जहां अल्पमत में हैं वहां भी. **महाभय** का इससे बेहतर उदाहरण क्या हो सकता है.

इस सब से भिन्न परिदृश्य उपस्थित करता है हिन्दूधर्म. लगभग एक हजार साल की गुलामी के दौर में राज्याश्रय तो दूर, हिन्दू-आस्था अकथनीय अत्याचारों का, यों कहें कि सतत अग्निपरीक्षओं का सामना करती रही है. देवालय तोड़े गए ताकि लोगों के मन में अपने देवी देवताओं में अनास्था पैदा हो सके. 'कत्ल या ईमान', या फिर जजिया दे कर अपनी आस्था की रक्षा जैसे अमानवीय विकल्प उनके सामने रखे गए. और आज तो हालत इससे भी खराब है. हिन्दू आस्था का हनन, आज भारत में धर्मनिरपेक्षता की स्वीकृत कसौटी है, जिस पर अपने को सही साबित करने के लिए हर धर्मनिरपेक्षी शासक आतुर रहता है. इसके अलावा, जाति और सम्प्रदायों के रूप में भीतरी बिखराव की चुनौतियां भी कुछ कम नहीं हैं. इस सब के वाबजूद यदि आज हिन्दूधर्म जीवन्त है, तो इसलिए कि गीता ने उसे आभ्यन्तर आधारों में आस्था के एकीभाव को प्रतिष्ठित करना सिखाया. समस्त चुनौतियों के बीच, बिना किसी प्रकार के राज्याश्रय के, बिना अनुशासक धर्मपीठ के, आस्था को यदि विघटन से बचाया जा सकता है, तो उसका रास्ता है योग : ***स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्.***

७.४. धार्मिक-विश्वास के रूप में पलती विस्तारवादी आकांक्षा :

महाभय का तीसरा रूप : महाभय का एक और भी रूप है, जो आज के संसार के सामने विभीषिका बन कर खड़ा है, और सारा संसार इससे बचाव के उपाय को ले कर किंकर्तव्य विमूढ़ है. संसार में ऐसे अनेक धर्म हैं जो अपने कबीलाई पुस्तकीय विग्रह में सारे संसार पर ऐकान्तिक वर्चस्व की असंभव आकांक्षा पालते हैं. इस विस्तारवादी आकांक्षा से प्राप्त होता है, धर्मविस्तार का मिशनरी कार्यक्रम, जिसमें अन्य धर्मावलंबियों के प्रति घृणा, द्वेष और टकराव, स्वतः आस्था का विषय बन जाते है, निरपराधियों की हत्या पवित्र धार्मिककृत्य, तथा आतंक, दिव्यसुखों को

देनेवाला एक धार्मिक अनुष्ठान. यह आस्था की बीमारी है, बीमारी क्या महामारी है, जिसके भय से सारा सभ्य संसार थरथर कांप रहा है. इसका इलाज धर्मनिरपेक्षता नहीं, मानववादी विधान और सर्वधर्मसमभाव भी नहीं. आधुनिक राजनीति-चिन्तन के ये अभ्युपगम इतने विवश हैं कि आतंक का प्रभावी प्रतिकार तो दूर उसके स्वरूप का संज्ञान लेने का भी साहस नहीं कर पाते, खासकर आतंक यदि किसी धर्म के लिए आस्था का विषय हो. जहां एक प्रभावशाली, सुसंगठित अल्पसंख्यक समुदायें का शास्त्रविहित धार्मिक अनुष्ठान हो आतंक, वहां धर्मनिरपेक्ष सत्ता की यह जिम्मेदारी हो जाती है कि वह इसका केवल प्रतीकात्मक विरोध करे.

आस्था की बीमारी का इलाज, आस्था के धरातल पर ही ढूंढ़ा जाना चाहिए. यह कार्य व्यापक चेतना में उसके पुनराख्यान के द्वारा सम्भव है. इतना निश्चित है कि आस्था को उसकी पुस्तकीय जड़ता और विकृतियों से उबारने वाली आस्था पुस्तकीय नहीं हो सकती. सार्वभौमिक स्वीकृति के लिए उसे अ-पुस्तकीय या परापुस्तकीय होना चाहिए. ऐसी ही एक परा-पुस्तकीय आस्था का परिकल्प है योग, जो धर्म को संहिताकृतजड़ता से, धर्मों को पारस्परिक असहिष्णुता से, संसार को इनकी महत्त्वाकांक्षाजन्य टकराहटों की विभीषिका से परित्राण का आश्वासन देता है.

■ ■ ■

द्वितीय एकक:

द्वितीय एकक:{क}

(आस्था में ठहराव की सैद्धान्तिकी)

(क) व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्॥४१॥

(ख) यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः॥४२॥
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥४३॥

(ग) भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥४४॥

हे कुरुनन्दन! व्यवसायात्मिकका बुद्धि एक ही होती है. अव्यवसायी मनुष्यों की बुद्धियां अनन्त और बहुशाखाओं वाली होती हैं (४१).

हे पृथानन्दन! जो कामनाओं में ही आत्मभाव रखते हैं, स्वर्ग को ही परमार्थ मानते हैं, सकाम वैदिक अनुष्ठानों में आसक्त, भोगोंके सिवाय और कुछ है ही नहीं, ऐसा कहनेवाले अविवेकी मनुष्य जिस पुष्पित (दिखाऊ शोभायुक्त) वाणी को कहा करते हैं, वह जन्मरूपी कर्म-फल को देनेवाली तथा भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये बहुत-सी क्रियाओं का वर्णन करनेवाली है (४२-४३).

भोग और ऐश्वर्य में आसक्त, उस पुष्पित वाणी के द्वारा जिसका मन हर लिया गया है, उनमें व्यवसायात्मिका बुद्धि समाधि में पर्यवसित नहीं हो पाती (४४).

प्रथमदृष्ट्या असम्बद्धं प्रतीयते इदं श्लोकचतुष्टयमनावश्यकमपि। सद्य एव परिसमाप्य सांख्यचर्चां उपक्रमते योगबुद्धिचर्चा। तस्या: समारम्भ एव समापतत्येकोऽपरोबुद्धिविभाग:व्यवसायाव्यवसायात्मक:। अप्ययं योगबुद्धेरेवावान्तरविभाग:? किं प्रयोजनमनेन बुद्धेरन्तर्गतेन बुद्धिविभागपरिकल्पनेन। सम्भ्रमस्यास्य निराकरणाय अपरिहार्यं भवति पूर्वसूत्राणामध्याहार आक्षिप्तार्थपरम्पराया:संग्रहश्च।

१. सप्रयोजनं बुद्धिविवेकसमारम्भ: योगचर्चाया:। एकीभावे व्यवसायो हि आस्थाया: स्वारस्यं निकषोऽप्यस्या: प्रामाणिकताया:। तस्मिन् साधनभूतत्वात् योगो धर्म: 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयादिति। अतो एकीभावस्य स्वरूपानुसन्धानानन्तरमेव साधनभूतस्य योगस्य चर्चा भवेदिति युक्तम्। यत: फलश्रुत्या प्रारम्भ एव महाभयादुद्धारकधर्मरूपेण योगस्याभिज्ञापनं जिज्ञास्ये महाभये अव्यवसायात्मिका बुद्धि: तज्जनितास्थाया: विखण्डनं शाखप्रशाखासु विभजनमेव परिकल्प्यते महाभयत्वेन। अव्यवसायात्मकान्महाभयाद्योगेनैवास्थाया उद्धार: क्रियते समाध्युपलक्षितैकीभावे। अतो युक्तं योगचर्चाया: धर्मबुद्ध्यैकीभावविमर्शसमारम्भ:।

२. आस्थाया एकीभावस्य महत्त्वपूर्णसमस्यां सम्बोधिताया अस्या: चतु:श्लोक्यास्त्रयो विभागा:, (क) व्यवसायाव्यवसायात्मकबुद्धिविभागयो: प्रस्ताव: लक्षणसहितं, (ख) अव्यवसायात्मकताया: विवरणं,(ग) अव्यवसायात्मकविक्षेपनिराकृताया: व्यवसायात्मिकाया: बुद्धे: समाध्युपलक्षितैकीभावे पर्याप्ति: सन्तीमे अस्यैककस्य व्याख्येयविषया:।

३. आस्थाया एकीभावो हि आधारभूता समस्या धर्मदर्शनस्य। शास्त्रनिष्ठयैव एकीभावस्य लाभं कुर्वन्ति ऐकान्तिका: पुस्तकपन्था:। तत्र न काऽपि समस्या। किन्तु अनेकशास्त्र-सम्प्रदायोपास्य-बहुत्वाभिभूतस्वरूपाय हिन्दूधर्माय आस्थाया एकीभावस्य समस्या हि एक: सजीव: सैद्धान्तिकाभियोग:। सम्यगवगच्छन्नस्या गभीरतां, श्रीमद्भगवद्गीता क्रमश: स्थापयति एकीभावस्य अपुस्तकीय-परापुस्तकीयकल्पे साधनामूलके – *त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन* इति। आश्चर्यं यन्निपुण-मनोवैज्ञानिकविश्लेषणाश्रितेयं धर्मदर्शनदृशा गीताया महत्त्वपूर्णोपलब्धि: परम्परायां वर्ततेऽनभिलक्षिता इव।

साधनाद्वारा एकीभावो हि हिन्दूधर्मस्य वैशिष्ट्यं, अस्यान्तरङ्गसंरचनया प्राप्तत्वात्। गीता न केवलमस्य प्रतिष्ठां करोति युक्तियुक्तां, अपितु दर्शयितुं यतते यदव्यवसायात्मक-बुद्धिप्रयोजितत्वात्शास्त्रनियोजितैकीभावो लोकप्रसिद्धोऽपि विघटनगर्भित आपातरमणीय: प्रभवश्चानर्थानाम्।

४. अयमेकको हि वस्तुतो अधिकारसूत्रम्, आस्थायाः विकिरणस्य विश्लेषणं कुर्वन्मनोवैज्ञानिकं, तत्रैकीभावस्य साधनापथानां योगपर्यायाणां अनुसंधानस्य सैद्धान्तिकाधारत्वात्तस्य। गीतायां मुख्यरूपेण चतसृणां योगविधानामुपदेशः। तथाहि – कर्मयोगः ज्ञानयोगः ध्यानयोगः भक्तियोगश्च। एतेषु प्रत्येको ह्युपाय आस्थाया एकीभावस्य सिद्धेः। एवं *'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'* इत्येतदन्तं अष्टादशाध्यायपर्यन्तं वर्ततेऽधिकारः 'व्यवसायात्मिकाबुद्धिरेकेह कुरुनन्दन' इत्यस्य सूत्रस्य। स्पष्टमनेन यद् हिन्दू-आस्थाया एकीभावस्य समस्या हि गीताचिन्तनस्य प्रमुखा चिन्ता। अस्याः चिन्तायाः सिद्धान्तपक्षो हि प्रकृतैककस्य विचारविषयः।

द्वितीय एककः{क}

५. अथ बुद्धिविवेकविचारो व्यवसायात्मकाव्यवसायात्मकः –

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।।

५.१. अस्य श्लोकस्य व्याख्यायां *'बुद्धिर्योगे त्विमां श्रृणु'* इत्यस्मात् योगे'ति पदस्य, *'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'* इति वाक्याद्धर्मपदस्याध्याहारो करणीयः। अनेन ज्ञातं भवति योगप्रसंगान्तर्गतत्वं व्यवसायात्मकाव्यावसायात्मकबुद्धिविचारस्य धर्मदर्शनप्रसङ्गान्तन्तर्गतत्वञ्च योगस्य। संदर्भादेव स्पष्टं भवति यदव्यवसायात्मिका बुद्धिसम्भवास्थाविखण्डनं हि महाभयं यस्मात्परित्रायते योगः। पुनः एककस्यान्तिमो श्लोकः *'भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसां, व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते'*, महाभयस्य स्वरूपं विवृण्वन्दर्शयति तस्य व्यवसायात्मिकाबुद्ध्यवरोधक- भूमिकाम्। अनवरुद्धा व्यवसायात्मिका बुद्धिर्हि सोपानमास्थायाः समाध्युपलक्षितैकीभावे प्रवेशस्य। एवं सन्दर्भशोधितं व्याख्यानं विधेयं विवेच्यस्थलानाम्।

५.२. अत्र बुद्धिशब्दो हि धर्मबुद्धिपरः। धर्मबुद्ध्यामेकीभावस्य विकीर्णतायाश्चाधारान्निरूपयितुं गीता अवतारयति द्वौ पारिभाषिकौ शब्दौ *'व्यवसायात्मिकाबुद्धिः' 'अव्यवसायात्मिका बुद्धि'* इति। एकीभावो हि व्यवसायात्मकतायाः व्यवहारः विखण्डनं विकीर्णता चाव्यवसायात्मकतायाः। विखण्डनस्य प्राप्तिरप्येकीभाव एव सम्भवा। यत्र एकीभावो नास्ति तत्राकल्पनीयं तत्। अतो सापेक्षे अनन्यव्यतिरेकिन्यौ व्यवसायात्मकाव्यवसायात्मकबुद्धी। एकीभावस्य क्रमशः समर्थदुर्बलसम्भावने सम्भावयतः इमे। धर्मबुद्ध्यां यौ प्रकर्षापकर्षौ दृश्येते एकीभावस्य, तयोः निर्वचनमुद्दिश्य विभाव्यते बुद्धेरियमवान्तरविभागरचना।

५.३-४.जीवनादर्शमधिकृत्य मानसिकताया द्वौ प्रकारौ परमार्थ-प्रतीयमाननिष्ठौ। दृष्टप्रपञ्चात्परं

तत्रानुस्यूतश्च कोऽपि परमार्थ: इति मान्यतानिबद्धो हि प्रथम: प्रकार:। भोगवैविध्य-समृद्धदृश्यप्रपञ्च एव परमार्थ: न किमपि तदतिरिक्तं (नान्यदस्तीतिवादिन:) इति विचारपरिवेशो हि द्वितीय: प्रकार:। मानसिकताप्रकाराविमौ बुद्धे: व्यवसायात्मिका- व्यवसायात्मिके'ति पारिभाषिकशब्दाभ्यां व्यज्येते गीतायाम्।

एकीभावो हि आस्थाया मौलिकं तत्त्वम्। स्थिते: भावो आस्था। धारयतीति धर्मेति व्युत्पत्यामपि प्रतिष्ठितोऽयमेवार्थ:। धारणं स्थैर्यं वा, एकीभावे स्वरूपाभिनिवेशस्यापरपर्याय:। अतो सर्वेषु धर्मपर्यायेषु अविकलरूपेण विद्यमानैकीभावो हि स्वरूपलक्षणमास्थाया:।

६. एकीभावस्य त्रय: क्रमा:। अव्यवसायात्मिकाबुद्ध्युपलक्षितप्रतीयमानं रूपं, व्यवसायात्मिका बुद्ध्युपलक्षितमुच्चतरं साधनामूलकं रूपं, तात्त्विकं रूपञ्च परापुस्तकीयम्। अत्र मध्यापतिता वर्तते व्यवसायात्मिकाबुद्धि:। योगेन सम्बद्धा इयं तात्त्विकं स्वरूपमाप्नोति, अव्यवसायात्मकताया प्रभावे व्यस्ततां विखण्डनञ्च।

७-८. उक्तचिन्तनेन प्राप्यते आस्थाया: प्रामाणिकताया: सक्रमावधारणा। सर्वेभ्यो धर्मपर्यायेभ्यो भिन्न:, तात्त्विकैकीभावो परापुस्तकीयो हि परमं प्रमाणं धर्माणां मध्ये, *''त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन''* इति। इयमन्तर्दृष्टि: धर्मदर्शनस्य क्षेत्रे गीताया अनन्ययोगदानम्। अस्यां दृष्ट्यां न कोऽपि धर्म: सम्प्रदायो वा अप्रामाणिक:। नानुमोदतीयं विधर्मिणां अपथगामि-नास्तिक-धर्मच्युतादिनिन्दापदै: व्यपदेश:। अस्य स्थाने प्रस्तौतीयं तात्त्विकैकीभावे सहभागाश्रितां प्रमाणिकताया: सक्रमावधारणाम्। तात्त्विकैकीभावस्यादर्शे सहभागेन प्रामाणिकताया, अन्तरालाच्चाप्रामाणिकताया अनुमापं भवति आस्थाविशेषस्य।

९. धर्मेषु प्रामाणिकताया निकषस्य निर्धारणं हि धर्मदर्शनस्यैका आधारभूता समस्या। अधिसंख्यधर्मपर्यायेषु प्रत्येको मन्यते स्वकीयमार्षग्रन्थं, आर्षग्रन्थपरम्परां वा धर्मे एकमेवाद्वितीयं प्रमाणं, तन्मुखेन युगपदेव प्रमाणयत्यात्मानं, मानकरूपञ्चात्मन:। केषाञ्चन धर्माणां अस्यामभिसन्ध्यां दृश्यते विशेषाभिनिवेश:। जातीय-पुरागाथाकल्पिताप्तवचनादेव प्रमाणयन्ति ते प्रमाणं, प्रामाणिकं धर्मं, अस्याद्वितीयत्वं, अप्रामाणिकत्वं विमतावलम्बिनां वैश्विक-वर्चस्वाधिकारञ्च स्वमतस्य। एवं 'सामान्यविशेषयो:', 'प्रमाण-प्रमाणितयो:' 'निकषपरीक्षणीययो:' अन्तरस्यापलापं कुर्वती, अस्त्यत्रैकात्मसम्मोहन-प्रक्रिया यस्यां सन्निपतिता: लक्ष्यन्ते तथाकथितमिशनरीधर्मा:। करोतीयं ईसाई-इस्लाम-प्रभृतिधर्मेषु एकस्या: विचित्राक्रामकताया: सन्निवेशम्। एतेषां धर्माणां उद्भवकालादेव प्रारभ्यते संसारे धार्मिक- संघर्षाणां युग: ।

प्रतिबद्धशास्त्रबुद्धिर्हि मानवजात्यां विसंवादस्य सैद्धान्तिकं बीजम्। अयं हि औचित्यं आस्थायाः(एकीभावस्य)परापुस्तकीयाधारस्यानुसंधानस्य। सन्दर्भेऽस्मिन् महत्त्वपूर्णं भवति श्रीमद्भगवद्गीताया मार्गदर्शनम्।

९.१. श्रीमद्भगवद्गीतायाः मते एकीभावो हि आस्थाया अव्यभिचरितं लक्षणं निकषोऽप्यस्याः प्रामाणिकतायाः। अयमेकीभावः सर्वप्रथमं ग्रहणाति बौद्धिकविनिश्चयस्य रूपम्। ''अहं अमुकं गुरुं, पैगम्बरं, अवतारीपुरुषं, तस्योपदेशञ्च आस्थायां स्वीकारोमी"ति व्यवसायो हि कार्यं बुद्धेः व्यवसायात्मकतायाः। एतादृशो निर्णयो हि तार्किकारम्भबिन्दुः आस्थायाः।

९.२. साकारत्वादयमास्थाप्रकार इतरनिषेधादेव साधयति स्वीयं स्वरूपं एकीभावपर्यायम्। व्यवसितेतरस्यास्वीकरणं हि अनन्यभावः यं मूलवादेति आक्षेपवचनेन व्यपदिश्यन्त्याधुनिकाः। अनन्याश्रयो हि व्यवसायस्य व्यवहारः। बुद्धिव्यवहारस्य भेदकल्पितत्वात्, भेदपरिहारादेव तत्रैकीभावस्य सिद्धिः। भिन्नो हि साधनामूलकैकीभावः। साधनाद्वारा भेदस्य मनोवैज्ञानिकोपादानानां निराकरणेन भवत्यस्याः सिद्धिः।

अन्याश्रयस्यासकृन्निषेधेनैव व्यवसायात्मिका धर्मबुद्धिः आत्मनः स्वरूपपुष्टिं नवीनीकरणञ्च सततं कुर्वाणा दृश्यते। अन्याश्रयस्य सततनिषेधस्यावश्यकता संसूचयति यद् बौद्धिकविनिश्चयो नास्त्यैकीभावस्य विश्रम्भालयः। अपेक्षतेऽयं सावधानं सततपरिरक्षणम्। विकिरणसम्भावितत्वात् बौद्धिकविनिश्चयो ह्यैकीभावस्य व्यावहारिको कल्पः न तु परमार्थः।

९-३. अनन्योपासना हि धर्मविनिश्चयस्य विग्रहः। इयमनन्योपासना सर्वासु चारित्रिकदुर्बलतासु मध्ये भवति व्यक्तेरालम्बनं, संस्तम्भयति तं अनन्यभावस्य तात्त्विकैकीभावे समुद्धारपर्यन्तं, यस्तु कामनानां क्षयेण सर्वेषां दुर्बलतानां क्षयस्य प्रभातः। बौद्धिकविनिश्चयरूपधर्मस्य यथोक्त-विशेषबिन्दूनां गीतायां संग्रहः कृतो वर्तत एकस्मिन् श्लोके –

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।

प्राप्तविग्रहे आस्थायाः प्राथमिको व्यवसायः, व्यवसायस्यानन्याश्रयविमर्शः, अव्यवसायात्मिका बुद्धेः तुलनायां अस्यानुशासितं रूपं, सोपानिकभूमिकां चास्य समाध्युपलक्षित-योगनिमित्त-तात्त्विकैकीभावस्य सिद्ध्यां – एतत्सर्वं दर्शयितुं शक्यते अस्य श्लोकस्य समुचितेन विश्लेषणेन।

१. एक उलझन में डालने वाला प्रसंग :

एक बुद्धिविभाग के तुरंत बाद दूसरे बुद्धिविभाग का प्रस्ताव : सरसरी तौर पर देखें तो विचाराधीन एकक न सिर्फ असम्बद्ध अपितु अनावश्यक प्रतीत होता है. अभी अभी सांख्यबुद्धि की चर्चा का समापन करते हुए योगबुद्धि की चर्चा प्रारम्भ हुई है. अब बिना किसी भूमिका के, व्यवसायात्मिका और अव्यवसायात्मिका रूप में एक नया बुद्धिविभाग सामने आ गया. तो क्या यह योगबुद्धि का अवान्तर विभाग है? आखिर बुद्धि के भीतर बुद्धियों की इस चर्चा का मन्तव्य क्या है? पाठक हठात् अपने को एक असमंजस की स्थिति में पाता है. इससे उबरने के लिए केन्द्रीय विचार-बिन्दु की पहचान तथा पूर्व से अध्याहृत सूत्रों तथा आक्षेपलभ्य अर्थपरम्परा को समझना जरूरी हो जाता है.

१.१. स्पष्टीकरण : जिस महाभय से योग परित्राण का आश्वासन देता है वह है आस्था के विघटन का भय. व्यक्तित्व का विघटन, कर्मबंधन, शोक, मोह आदि इस महाभय ही परिणतियां हैं. अतः आस्था के एकीभाव और विघटन के आधारों की विवेचना गीता के योग चिन्तन की तार्किक प्राथमिकता बन जाती है. यही रहस्य है, औचित्य भी योग के उपदेश के प्रारम्भ में ही व्यवसायात्मिका और अव्यवसायात्मिका बुद्धिविभाग की चर्चा का.

१.२. आस्था का एकीभाव : प्रकृत एकक का केन्द्रीय विचारबिन्दु :

एकीभाव जिसे व्यवसायात्मिकाबुद्धि के लक्षण के रूप में प्रस्तुत किया गया है, आस्था का मौलिक तत्त्व है. आस्था शब्द का अर्थ ही है ठहराव. धर्म शब्द की *धारयतीति धर्मः* इस व्युत्पत्ति में भी यही अर्थ बैठा हुआ है. ठहराव का अर्थ है अविचलन, एकीभाव में प्रतिष्ठित होना. धर्म के समस्त विग्रहों में अविकल रूप से विद्यमान यह एकीभाव आस्था का स्वरूप लक्षण है.

योग की चर्चा को प्रारम्भ करके , फिर उसे बीच में ही छोड़ कर, *व्यवसायात्मिका* और *अव्यवसायात्मिका* बुद्धियों की चर्चा को जो बीच में ले आया गया है, उसका एक विशेष प्रयोजन है. एकीभाव आस्था का पूर्वकल्प है, धर्म का स्वरूप लक्षण है. उसमें साधनभूत होने से ही योग को धर्म कहा गया है. अतः तार्किक क्रम की अपेक्षा से, पहले धर्म की प्रामाणिकता की कसौटी के रूप में एकीभाव के स्वरूप का अनुसंधान होना चाहिए, उसके बाद ही उसमें साधनभूत योग की चर्चा की जा सकती है. यतः फलश्रुति में पहले ही योग का परिचय महाभय से त्राण देने वाले

धर्म के रूप में दिया जा चुका है, महाभय के बारे में जिज्ञासा होने पर, अव्यवसायात्मिका बुद्धि, तज्जनित आस्था का विभाजन और बिखराव ही महाभय के रूप में सामने आते हैं. वे कौन से आधार हैं जो भयहेतु और भयत्राता, उद्धारक धर्म और धर्माभासों के बीच अन्तर करते हैं? यह प्रश्न, धर्म की प्रामाणिकता की कसौटी के बारे में धर्मदर्शन की एक आधारभूत जिज्ञासा के लिए द्वार खेलता है. यतः एकीभाव आस्था का स्वरूपलक्षण है. धर्म की प्रामाणिकता का अनुसंधान, अपरिहार्य रूप से एकीभाव के प्रतीयमान, वास्तविक और तात्त्विक स्वरूपों की विवेचना का रूप ले लेता है. यही रहस्य है गीता में व्यवसायात्मिका और अव्यवसायात्मिका बुद्धियों की चर्चा का.

२. एकक की संरचना :

क, ख, ग, उपशीर्षकों से परिकल्पित तीन विभाग : चार श्लोकों का यह एकक आस्था के एकीभाव की महत्त्वपूर्ण समस्या को विचार का विषय बनाता है. एकक में संग्रहीत मूलकथ्य के तीन भाग हैं; इन्हें आधार बनाते हुए इस एकक का साम्प्रतिक अध्ययन तीन अध्यायों में सम्पन्न हुआ है.

पहला भाग (क) विभागवचन का है. इसमें आस्था के एकीभाव और बिखराव की परिस्थितियों के संग्रह के प्रयोजन से बुद्धि के व्यवसायात्मक और अव्यवसायात्मक विभागों का परिकल्प प्रस्तुत किया गया है.

दूसरे भाग (ख) में दो श्लोक हैं(४२-४३). इसमें *'अव्यवसायात्मिका बुद्धि'*, उसका भोगमूल, तज्जन्य आस्था का विधिनिषेधरूप पुस्तकीयविग्रह विचार का विषय बनते हैं. आस्था का यह पुस्तकीय विग्रह जिसे ***'वेदवाद'*** नाम दिया गया है, भोगैश्वर्योपादाननिमित्त होने से, आस्था के एकीभाव का विश्वसनीय आधार नहीं हो सकता.

भोग और ऐश्वर्य की लालसा से जिनकी बुद्धिभ्रमित है, उनमें वह निश्चयात्मकबुद्धि कभी नहीं आ सकती, जो धर्म के तात्त्विक स्वरूप में प्रवेश की अपरिहार्य शर्त है. यह एकक के **तीसरे भाग** (श्लोक ४४) का कथन है. इसमें 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' के स्वरूप का व्यतिरेकमुखेन आक्षेप करते हुए उसके फल को बताया है. यह फल है आस्था का अविचल एकीभाव, जिसे 'समाधि' शब्द से कहा गया है. *'व्यवसायात्मिका बुद्धि'* तब तक इस फल को प्राप्त नहीं कर सकती, जब तक कि वह भोग और ऐश्वर्य के भटकाव पैदा करने वाले प्रभाव से मुक्त नहीं हो

जाती. *''भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्, व्यवसायात्मिका बुद्धि समाधौ न विधीयते''* . यहीं यह संकेत मिलता है कि व्यवसायात्मिका बुद्धि योग की तथा योग आस्था के तात्त्विक एकीभाव की पूर्वशर्त है. तात्त्विक एकीभाव की चर्चा अग्रिम एकक (श्लो.४५-४६) का विषय है. यहां मूल का अनुसरण करते हुए, चर्चा को एकीभाव के व्यवसायात्मक (पुस्तकीय) तथा साधनामूलक (अपुस्तकीय) रूपों तक सीमित रखेंगे.

३. आस्था का एकीभाव : धर्मदर्शन की आधारभूत समस्या :

आस्था के एकीभाव की समस्या धर्मदर्शन की आधारभूत समस्या है. प्रकृत एकक इसी समस्या को विचार का विषय बनाता है. पुस्तकपंथी धर्म, अपनी शास्त्रनिष्ठा से एकीभाव का लाभ करते हैं. उनके लिए यह कोई बड़ी समस्या नहीं है. लेकिन अपने बहुदेववादी और बहुशास्त्रवादी स्वरूप के कारण, बिखराव और विघटन के अनन्त सागर में डूबते उतराते, हिन्दूधर्म के लिए आस्था के एकीभाव की समस्या एक जीवन्त सैद्धान्तिक चुनौती है. गीता ने इस चुनौती की गंभीरता को समझा है. वह शास्त्रों के अलावा और उनसे परे, उन तात्त्विक आधारों का अनुसंधान करती है जो आस्था के एकीभाव के अधिक विश्वसनीय आश्रय हो सकते हैं. निपुण मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर आधारित गीता की यह उपलब्धि, धर्मदर्शन की दृष्टि से असाधारण महत्त्व रखती है. आश्चर्य की बात है कि गीता की यह उपलब्धि, कभी उसके विद्वान् भाष्यकारों का ध्यान आकर्षित नहीं कर सकी.

आस्था का एकीभाव, शास्त्र (प्रकाशित वाक्) और साधना, इन दो में से किसी एक आधार में प्रतिष्ठित हो सकता है. इन्हें हम क्रमशः एकीभाव की **शास्त्रनिष्ठा** और **साधननिष्ठा** नाम दे सकते हैं. सामान्यभाषा में ये एकीभाव के ***पुस्तकीय*** और ***अपुस्तकीय*** रूप हैं. शास्त्रनिष्ठ-एकीभाव एक बाह्य अनुशासन है, जो आचारविधान के द्वारा धर्मव्यवस्था का रूप लेता है. इससे भिन्न, साधनामूलक, एकीभाव की तलाश अपने भीतर होती है; यह विधि का नहीं, अनुसंधान और वैयक्तिक साधना का विषय है. साधना के प्रशिक्षण और परम्परा-सातत्य के लिए यह साधकों के संक्षिप्त संघ को जन्म दे सकता है. किन्तु किसी प्रकार की भेददृष्टि, तन्निष्ठ अलगाव या आस्था का जातिभाव में संकुचन तत्त्वनिष्ठ आस्था का स्वभाव नहीं होता. एकीभाव की ये निष्ठाएं आस्था की दो भिन्न कोटियों को जन्म देती हैं.

जहां आस्था बहुआयामी है, जहां वह शास्त्र के साथ अनुभव का भी संग्रह करती है, या जहां बहुत से शास्त्रों की मान्यता है — ऐसी सभी परिस्थितियों में एकीभाव के अपारम्परिक (अपुस्तकीय और परा-पुस्तकीय) आधार की गवेषणा अपरिहार्य हो जाती है. हिन्दूधर्म के लिए इसके महत्त्व को देखते हुए, गीता के प्रासंगिक स्थल आस्था के एकीभाव की समस्या को गंभीर मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का विषय बनाते है. इसमें एकीभाव के अपारम्परिक आधारों की न केवल युक्तियुक्त प्रतिष्ठा की गई है, अपितु उपयुक्त विश्लेषण के द्वारा यह भी दिखाने का प्रयास हुआ है कि शास्त्रनियोजित एकीभाव, लोकप्रसिद्ध होने के वाबजूद, वस्तुतः विघटनहेतुगर्भित है, नितान्त सतही और अपर्याप्त है, तथा अपने आपातरमणीय स्वरूप में अनर्थ और विसंगतियों को जन्म देने वाला है. एकीभाव के साधनामूलक परिकल्प की स्थापना करने के बाद, गीता के आगे के अध्याय इसकी साधना की विभिन्न पद्धतियों के सांगोपांग निर्वचन को समर्पित हैं. इस दृष्टि से विचार करें तो अनुपयोगी प्रसंगान्तर सा प्रतीत होता गीता का यह प्रसंग एकाएक केन्द्रीय महत्त्व का हो जाता है.

४. प्रकृत एकक की अधिकारसूत्रता :

'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन ...' इस श्लोक से प्रारम्भ होने वाला यह एकक वस्तुतः अधिकार सूत्र है, जो हिन्दूधर्म के बिखराव का विश्लेषण करते हुए, उसमें एकत्व के साधनामार्गों की चर्चा का सैद्धान्तिक आधार है. योग का शाब्दिक अर्थ है जोड़, जुड़ना अथवा जुड़ने का उपाय. प्रकृत सन्दर्भ में इसका अर्थ हुआ, संदेह और विचलन की सम्भावनाओं के बीच आस्था के एकीभाव की साधना, शास्त्र एवं सम्प्रदायबहुत्व के बीच आस्था की एकता का उद्धार. यद्यपि अध्यायान्त-पुष्पिका, गीता के प्रत्येक अध्याय को योग के ही रूप में निरूपित करती है, मुख्य रूप से गीता में चार योगों की चर्चा हुई है. कर्मयोग, ज्ञानयोग, ध्यानयोग और भक्तियोग. इनमें से प्रत्येक एक उपाय है, बहुत्व के बीच आस्था की एकता की सिद्धि का. इस प्रकार दूसरे अध्याय के सूत्र *'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन'* के अधिकार में चारों योगों का निर्वचन आता है. यह अधिकार अठारहवें अध्याय के श्लोक *'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'* तक जाता है. इससे स्पष्ट है कि गीता चिन्तन की सबसे बड़ी चिन्ता है, बिखरावों के बीच आस्था के एकीभाव के उद्धार की समस्या. प्रकृत एकक इस चिन्ता के सिद्धान्त पक्ष को विचार का विषय बनाता है.

द्वितीय एकक: {क}

एकक का प्रथम श्लोक आस्था के एकीभाव को समझने के लिए दो आधारभूत विचारकल्पों को प्रस्तुत करता है :

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४०॥

हे कुरुनन्दन! व्यवसायात्मिका बुद्धि एक ही होती है. अव्यवसायी मनुष्यों की बुद्धियां अनन्त और बहुशाखओं वाली होती हैं.

५. श्लोक 'व्यवसायात्मिका बुद्धि: ...'

५.१. व्याख्या के लिए अध्याहार और समन्वय के सूत्र :

उक्त श्लोक की व्याख्या में, पूर्व के विभागवचन *'बुद्धिर्योगे त्विमां श्रुणु'* से **'योग'** पद का तथा *स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्''* से **'धर्म'** पद का अध्याहार करना चाहिए. तात्पर्य यह कि यहां *व्यवसायात्मिका बुद्धि* की जो चर्चा हो रही है वह योग के प्रसंग में है और योग को यहां धर्म रूप में प्रस्तुत किया गया है. स्पष्ट है कि योग पर जो चर्चा हो रही है वह आस्था की मौलिक समस्या से जुड़ी होने के कारण धर्मदर्शन के अनुशासन में आती है. इस सन्दर्भ से यह भी स्पष्ट है कि *अव्यवसायात्मिका बुद्धि* से प्राप्त आस्था का सम्भावित विखण्डन ही महाभय है, जिससे योगधर्म त्राण देने का आश्वासन देता है. एकक का अन्तिम श्लोक *'भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्, व्यवसायात्मिका बुद्धि: समाधौ न विधीयते,* महाभय के स्वरूप का संग्रह करते हुए उसे व्यवसायात्मिका बुद्धि के, तन्मुखेन योग के, और तन्मुखेन तात्त्विक-एकीभाव के अवरोधक के रूप में प्रस्तुत करता है. इस सन्दर्भविवेक को ध्यान में रखते हुए श्लोक पर विचार करते हैं.

५.२. बुद्धि के विभाग : *व्यवसायात्मक* और *अव्यवसायात्मक* :

यहां 'बुद्धि' शब्द का अर्थ है धर्मबुद्धि. यह बात ऊपर दिए सन्दर्भविश्लेषण से स्पष्ट है. इस धर्मबुद्धि में, एकीभाव और बिखराव को रूपायित करने के लिए दो पारिभाषित शब्दों को उतारते हैं. एकीभाव, *'व्यवसायात्मिका बुद्धि'* का कार्य है, जब कि *'अव्यवसायात्मिक बुद्धि'* का कार्य है विखण्डन और बिखराव. ये दोनों ही पारिभाषिक शब्द अलग अलग मनोवैज्ञानिक

प्रक्रियाओं को परिकल्पित करते हुए आस्था के अलग अलग प्रकारों को जन्म देते हैं. विखण्डन भी वहीं सम्भव है, जहां एकीभाव प्राप्त है. जहां एकीभाव है ही नहीं, वहां बिखराव की सम्भावना कैसी? इससे स्पष्ट है कि एकीभाव के 'वास्तविक' और 'प्रतीयमान' अवतरणों की भूमि के रूप में परिकल्पित की गई हैं दो बुद्धियां, व्यवसायात्मिका और अव्यवसायात्मिका.

जीवनादर्शों को ले कर दो प्रकार की मानसिकता देखने में आती हैं. प्रथम प्रकार की मानसिकता यह मान कर चलती है कि दृश्य-प्रपंच की अनन्त विविधताओं के परे, या उनमें अनुस्यूत एक ही परमार्थ है. गीता में इस मानस को "व्यवसायात्मिका बुद्धि" नाम दिया गया है. इससे भिन्न, दूसरे प्रकार की मानसिकता वह है जो दृश्य-प्रपंच को, उसकी विविधताओं और आपातरमणीय भोगों को ही परमार्थ के रूप में प्रतिष्ठित करती है और यह मानती है कि इससे परे कुछ भी नहीं है(नान्यदस्तीतिवादिनः). इसे गीता में "अव्यवसायात्मिका बुद्धि" कहा है.

इन अलग अलग बौद्धिक-परिवेशों में दो अलग अलग रूपों में एकीभाव की सिद्धि होती है, एक प्राथमिक बौद्धिक विनिश्चय के रूप में, दूसरा निसर्ग मनोबंधन के रूप में. परमार्थबुद्धि अनुभवगम्य नहीं होती. वह बौद्धिक विनिश्चय के रूप में होती है जिसे प्रत्यक्ष का अभिभूत कर देने वाला संसार कभी भी बहा कर ले जा सकता है. इससे भिन्न, आपातरमणीय दृश्य प्रपंच सहज मन को बांध लेता है. यह अव्यवसायात्मिका बुद्धि की भूमि है. अपने सहज आकर्षण के कारण यह निसर्ग अनुगमन को जन्म देती है(पश्चाद्धावति असंस्तुतं चेतः). लेकिन आपातरमाणीय का संसार, जिस आसानी से बंधन को, ठहराव और एकीभाव को जन्म देता है, उसी आसानी सें बिखरता भी है.

इन दो मनोभूमियों (बुद्धियों) में बौद्धिकविनिश्चय और निसर्गबंधन के रूप में एकीभाव के दो भिन्न अनुबंध पल्लवित होते हैं. दोनों की अपनी अपनी दुर्बलताएं हैं. साक्षात्कारात्मक अनुभव से शून्य, सुदृढ़ बौद्धिकविनिश्चय भी आपातरमणीय के आकर्षण के सामने डगमगाने लगता है. रात में लोग इस दृढ़ निश्चय के साथ सोते हैं कि कल सुबह ४ बजे उठेंगे. घड़ी में ऐलार्म भी लगा देते है. लेकिन सुबह ४ बजे जब ऐलार्म बजता है तो उदींदे हाथ ऐलार्म को टटोलने लगते हैं ताकि नींद में आए इस व्यवधान को रोका जा सके. जो सुख प्रत्यद्ध उपस्थित है उसके सामने बौद्धिकविनिश्चय टिक नहीं पाता. यह बौद्धिकविनिश्चय की दुर्बलता है. इससे

भिन्न, भोगों का संसार बांधता तो तुरंत है, लेकिन उसमें ठहराव के आधार बहुत दुर्बल होते हैं. सुख में अभिनव संवेदनाओं की चाह प्राणी को निरन्तर भटकाती रहती है.

एकीभाव के प्राथमिक अनुबंधों की दुर्बलताओं को देखते हुए, दो मनोभूमियों में एकीभाव को सुनिश्चित करने की भिन्न प्रक्रियाएं देखने में आती हैं. यतः एकीभाव के विखण्डन का सामान्य कारण हैं कामनाएं, इनके इनके सम्बन्ध से एकीभाव को दो प्रकार से सुनिश्चित किया जा सकता है, आस्था में कामनाओं के **क्रमिक-अपलाप** के द्वारा या फिर उनके **संग्रह और नियमन** के द्वारा. ये साधन हैं जिनकी सहायता से दो बुद्धियों में उपलब्ध उपादान एकीभाव की भिन्न विधाओं में पल्लवित होते हैं.

५.३. *'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन'* : व्याख्या

व्यवसायात्मिका बुद्धि एक ही होती है. यह लक्षण सूत्र है जो व्यवसायात्मिका बुद्धि के स्वरूप और कार्य दोनों को परिभाषित करता है. आस्था के एकीभाव का प्राथमिक स्रोत है बौद्धिकव्यवसाय, जब कि बिखराव का स्रोत हैं कामनाएं जिनका अधिष्ठान है मन.. इस प्रकार व्यवसाय और अव्यवसाय क्रमशः बुद्धि और मन के कार्य है, जो एक दूसरे को अभिभूत करने का प्रयास करते रहते हैं. कामनाओं से अभिभूत हुआ बौद्धिक व्यवसाय बिखरने लगता है. ऐसी स्थिति में योग ही इसका उद्धारक बनता है. **वस्तुत: 'व्यवसायात्मिका बुद्धि', 'योग' और 'अव्यवसायात्मिका बुद्धि' के बीच की अवस्था है, जो योग से जुड़ कर समाध्युपलक्षित एकीभाव को प्राप्त करती है, और अव्यवसायात्मिका बुद्धि के प्रभाव में विखण्डन और बिखराव को**. इसी बात को आगे के एक श्लोक में कहा है :

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।।

एकीभाव का बौद्धिक व्यवसाय, अव्यवसायात्मक-वृत्तियों के प्रभाव में आने पर, समाधि में पर्यवसित नहीं हो पाता जो साधनामूलक एकीभाव का लक्षण है. यह उक्त श्लोक का भावार्थ है. यहां 'समाधि' एकीभाव के उस साधनामूलक प्रकर्ष को को बताती है, जिसकी सिद्धि योग के द्वारा व्यवसायात्मिका बुद्धि में ही सम्भव है. इस विश्लेषण से एकीभाव के दो क्रम प्राप्त होते हैं : **बौद्धिक-विनिश्चय** के रूप में प्राप्त प्राथमिक रूप, तथा इस बौद्धिक-विनिश्चय में

कामनाओं के अपलाप की साधना के द्वारा प्राप्त **समाध्युपलक्षित** रूप. वस्तुतः समाध्युपलक्षित एकीभाव बौद्धिक- विनिश्चय' का ही परिपक्व रूप है.

५.४. *'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ...'* व्याख्या

'अनन्त और अनेक शाखाओं वाली होती है अव्यवसायी जनों की बुद्धियां. ध्यान देने की बात है कि जैसा व्यवसायात्मिका बुद्धि का लक्षण दिया था, यहां अव्यवसायात्मिका बुद्धि का सीधे सीधे कोई लक्षण नहीं दिया गया है. केवल यह बताया है कि अव्यवसायी जनों में बुद्धियां अनन्त तक विखण्डन के सिलसिले को दर्शाती हैं. जिस अव्यवसायात्मिका बुद्धि का विखण्डन होता है उसका लक्षण क्या है, यह नहीं बताया गया है. यह उचित भी है. लक्षण तो निश्चयात्मक होता है जो अनिश्चय की भूमि है उसका कोई निश्चयात्मक अभिधान हो भी कैसे सकता है. उसे तो केवल उसके व्यवहार से ही दिखया जा सकता है. अतः विभाजन को प्राप्त विभजनशील बुद्धियों के व्यवहार को ही अव्यवसायात्मिका बुद्धि के रूप में निरूपित किया गया है.

यतः कामनाएं बिखराव का मौलिक उपादान हैं, इनके सम्बन्ध से एकीभाव को दो प्रकार से सुनिश्चित किया जा सकता है, आस्था में कामनाओं के संग्रह और नियमन के द्वारा, या फिर उनके क्रमिक अपलाप के द्वारा. अव्यवसायात्मिका बुद्धि स्वयं कामनारंजित होती है; अतः उसमें कामनाओं का अपलाप अकल्पनीय है.; अधिक से अधिक, जो उसमें स्वीकार्य हो सकता है वह है कामनाओं का नियमन, उनका सशर्त संग्रह. अव्यवसायात्मिकाबुद्धि के लिए यह कार्य धर्मशास्त्रों के द्वारा सम्पन्न होता है. कामनोपादान का संग्रह और नियमन करते हुए शास्त्र आस्था के एक साकार, आचार-केन्द्रित, व्यवस्थामूलक विग्रह को जन्म देते हैं. यह एकीभाव का शास्त्रनिबद्ध कल्प है, कामनागर्भित और विभजनशील. आस्था का यह रूप जिस बौद्धिक-परिवेश में पल्लवित होता है उसका नाम है **अव्यवसायात्मिका बुद्धि**. इस पर विशेष विचार अग्रिम एकक का विषय है.

६. एकीभाव की तात्त्विक कोटि : उक्त दोनों सम्भावनाओं का पूर्वकल्प है, आस्था का तात्त्विक एकीभाव. इसको न मानने पर आस्था की परस्पर असम्बद्ध इकाइयां, अपने परमार्थ से हटी हुई, बिखराव और विखण्डन का अनन्त, असमाहार्य परिदृश्य बन कर रह जाएंगी. अतः समस्त व्यवसायों से परे, सभी धर्मों के बीच एकीभाव के तात्त्विक आधार को मानना अपरिहार्य हो जाता है. एकीभाव के इस परमादर्श को गीता *निस्त्रैगुण्य* नाम देते हुए, परापुस्तकीय आदर्श के रूप

में उसका परिचय देती है : *त्रैगुण्यविषया: वेदा: निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन.* यह परा-पुस्तकीय, तात्त्विक-एकीभाव सभी धर्मों का, सभी एकीभावकल्पों का उद्धारक पूर्वकल्प है.

इस प्रकार हमें एकीभाव के तीन क्रम प्राप्त होते हैं. *शास्त्रनिबद्ध* और *साधनामूलक* क्रम धर्मपरिदृश्य का यथार्थ हैं, अत: उनका साक्षात् अभिधान हुआ है, जबकि तात्त्विक एकीभाव, एक अपरिहार्य परिकल्प रूप में स्वीकृति का विषय है. सुविधा के लिए हम एकीभाव के इन परिकल्पों को क्रमश: 'पुस्तकीय' 'अपुस्तकीय' और परा-पुस्तकीय' नाम दे सकते हैं.

७. एकीभाव की यात्रा :
बौद्धिक विनिश्चय से ले कर तात्त्विकभावावगति पर्यन्त :

आस्था के बौद्धिक व्यवसाय का हेतु है **व्यवसायात्मिकाबुद्धि**. इस व्यवसाय का कार्य है आस्था को किसी आप्त आलम्बन(पुरुष, उसके वचन) में प्रतिबद्ध करना. यह आस्था के आलम्बन के वरण का प्राथमिक निर्णय है और इस रूप में किसी भी व्यक्ति के लिए धर्म का प्रारम्भ बिन्दु. *'मैं अमुक पुरुष को आप्त पुरुष मानते हुए उसके वचनों में अपने विश्वास को प्रतिष्ठित करता हूं'*, इस रूप में बौद्धिक व्यवसाय.धर्म का तार्किक समारम्भ है. भोग और ऐश्वर्य की कामनाओं से प्रेरित अथवा उनसे प्रभावित यह विनिश्चय कामनापूर्ति का आश्वासन देते विधिमूलक, कर्मकाण्डपरायण विभजनशील धर्मविग्रह के रूप में सामने आता है. इस प्रकार प्राथमिक बौद्धिक व्यवसाय से प्राप्त होता है आस्था का एक दुनियांदार, कामचलाऊ संस्करण, जो एक पुस्तकपंथ का रूप लेता है. कामनागर्भित होने के कारण दुर्बल और संदेह संक्रमित, पुस्तक में सिमटा एकीभाव का व्यवसाय सतत निगरानी की अपेक्षा रखती है. अनुशासन के दुर्बल पड़ते ही, पहले से ही संदेह-संक्रमित, यह व्यवसाय (उसका पुस्तकीय-विग्रह) अव्यवसायात्मकता का शिकार बन जाता है और कभी भी बिखर सकता है.

यदि उक्त व्यवधान न हो तो एकीभाव का बौद्धिकविनिश्चय योग के द्वारा पहले समाध्युपलक्षित एकीभाव को प्राप्त करता हैं, अनन्तर तात्त्विक एकीभाव में प्रतिष्ठित हो जाता है. वस्तुतः एकीभाव के रूप — समाध्युपलक्षित और तात्त्विक — योग के ही क्रम में आते हैं, अतः दोनों का एकीभाव के साधनामूलक कल्प में संग्रह किया जा सकता है. इस स्पष्टीकरण को ध्यान में रखते हुए, मोटे तौर पर एकीभाव के क्रमशः दो रूप प्राप्त होते हैं : **पुस्तकीय** एवं **साधनामूलक** (अपुस्तकीय). बौद्धिकविनिश्चय दोनों का पूर्वकल्प है.

८. आस्था का सक्रम परिकल्प :

किसी धर्मविशेष की किताब, उसके पैगम्बर पुरागाथाएं, विभिन्न धर्मों के बीच प्रामाणिकता की कसौटी नहीं हो सकते. समस्त धर्मव्यक्तियों से भिन्न, उन सब का तात्त्विक अधिष्ठान ही धर्म की कसौटी, है, और वह परा-पुस्तकीय ही हो सकता है : ***त्रैगुण्यविषयावेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन.*** श्रीमद्भगवद्गीता की यह अन्तर्दृष्टि, धर्मदर्शन के क्षेत्र में उसका अनन्य योगदान है. यह दृष्टि किसी भी आस्था पर्याय को कुफ्र, अधर्म या शैतानी भटकाव जैसे नाम नहीं देती. इसके बजाय, तात्त्विक एकीभाव में सहभाग पर आधारित, प्रामाणिकता की एक सक्रम अवधारणा प्रस्तुत करती है, जिसके द्वारा एकीभाव के आदर्श में आस्थाविशेष के सहभाग या दूरी को निर्धारित किया जा सकता है. इसके महत्त्व को ठीक से समझने के लिए, आस्था की प्रामाणिकता की किताबी अवधारणाओं और आज के दौर में फलोन्मुख होती उसकी भयावह सम्भावनाओं का संज्ञान लेना भर काफी होगा.

परापुस्तकीय परमार्थ की अवधारणा का प्रयोजन आस्था के पुस्तकीय अवतरणों का, उनके महत्त्व और प्रामाणिकता का निषेध करना नहीं है. वस्तुतः आस्था का प्राथमिक विमर्श ही आधार बनता है एकीभाव की उच्चतर साधनाओं का. बात सिर्फ इतनी है कि आस्था के किसी भी साकारविग्रह को, पुस्तक, पुरागाथा और पैगम्बर (अवतारी पुरुष) के दायरों में सिमटी किसी संरचना को आस्था के ऐकान्तिक परमार्थ के रूप में पेश नहीं किया जा सकता. ऐसा करने से जो समस्याएं पैदा हो सकती हैं उनकी चर्चा पहले की जा चुकी है. प्राथमिक व्यवसाय से ले कर परा-पुस्तकीय आदर्श पर्यन्त, परिकल्पित है एक लम्बी साधनायात्रा, जिसका सक्रम विवेचन इस एकक का विषय है. यहां तो इतना ही वक्तव्य है कि बौद्धिकव्यवसाय के द्वारा मूर्त आलम्बन या आलम्बननिचय में एकीभाव की प्रतिष्ठा आस्था का प्रारम्भबिन्दु है, उसका परमार्थ नहीं.

९. व्यवसाय का स्वरूप :

गीता के अनुसार एकीभाव, आस्था का अव्यभिचरित लक्षण भी है और उसकी प्रामाणिकता की कसौटी भी. यह एकीभाव सर्वप्रथम बौद्धिक विनिश्चय का रूप लेता है जब आस्था के आलम्बन के रूप में किसी शास्त्र, गुरू, पैगम्बर, या अवतारी पुरुष को स्वीकार किया जाता है. *"मैं अमुक गुरू, पैगम्बर, या अवतारी पुरुष को, उसके द्वारा दिए उपदेश को अपनी*

आस्था में स्वीकार करता हूं", यह निर्णय ही बुद्धि का व्यवसाय है. इस व्यवसाय में हेतुभूत बुद्धि का ही नाम है व्यवसायात्मिका बुद्धि. इस प्रकार का निर्णय किसी भी व्यक्ति के लिए धर्म का प्रारम्भ बिन्दु है. बौद्धिकव्यवसाय के रूप में प्राप्त इस धर्म की स्वरूप और व्यवहार के भेद से नीचे लिखी दो विशेषताएं ध्यान देने योग्य हैं :-

१. बौद्धिक व्यवसाय किसी आप्त (विश्वसनीय) पुरुष तथा पुस्तक (शास्त्र), इन दोनों को अथवा किसी एक को आस्था का आलम्बन बनाते हुए, आस्था के एक साकार विग्रह को जन्म देता है.

२. साकार होने के कारण यह विग्रह इतर-निषेध के द्वारा अपने स्वरूप अर्थात् एकीभाव की सिद्धि करता है. इसी को **अनन्यभाव** या **अनन्याश्रयत्व** कहते हैं.

९.१. व्यवसाय का इतर-व्यतिरेकी विमर्श (अनन्याश्रयत्व) :

स्वीकृत से भिन्न किसी अन्य आलम्बन को आस्था में स्वीकार न करना, यह व्यवसाय का विमर्श है, विनिश्चित आस्था के स्वरूप की तर्कित सम्पुष्टि. यह अनन्यभाव है जिसे आजकल की भाषा में मूलवाद (fundamentalism) जैसे अलोकप्रिय नाम से जाना जाता है. वस्तुतः विमर्श तज्जन्य अनन्यभाव, व्यवसायात्मिका बुद्धि का निसर्ग व्यवहार है.

बुद्धि का व्यवहार भेदकल्पित होता है. अतः बुद्धिविनिश्चित (आस्था) में एकीभाव की निष्पत्ति भेदपरिहार के द्वारा ही सम्पन्न होती है. बौद्धिक विनिश्चय अपने स्वरूप के अभिधान का कोई दूसरा तरीका नहीं जानता. *अनन्याश्रयत्व* व्यवसितार्थ के व्यवहार की हद है. एकीभाव का तात्त्विकमूल बुद्धि की पकड़ के बाहर की बात है, क्योंकि बुद्धि जिसे पकड़ती है, अपने हिसाब से चीड़फाड़ करके ही पकड़ती है. अविभाज्य परमार्थ इसका विषय नहीं बनता : *यत्र वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह.* इस बात को ध्यान में रखें तो आस्था के पुस्तकीय-एकीभाव और तात्त्विक एकीभाव के अन्तर को आसानी से समझा जा सकता है.

यह अन्याश्रय का बारम्बार का निषेध ही है जिसके द्वारा व्यवसायात्मिका धर्मबुद्धि अपने स्वरूप का नवीनीकरण या पुष्टि करती रहती है. ऐसा करके वह अपनी रक्षा करती है, अपने को बिखराव से बचाती है. अन्याश्रय में निषेध के अभ्यास की आवश्यकता ही यह बताती है कि

व्यवसायात्मिका बुद्धि आस्था के एकीभाव के लिए सुरक्षित स्थान नहीं है. उसे निरन्तर पहरेदारी की जरूरत रहती है. उसके द्वारा बुना *एकीभाव* कभी भी बिखर सकता है. सोपाधिक स्वरूप के कारण एकीभाव का यह केवल व्यावहारिक कल्प हो सकता है, तात्त्विक नहीं.

९.२ अनन्योपासना की उभयमुखी सम्भावनाएं : बौद्धिकविनिश्चय, धर्म का प्राथमिक अवतरण है, उसका परमार्थ नहीं. जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, धर्म का यह प्राथमिक अवतरण अनन्योपासना का रूप लेता है. इस अनन्योपासना से ही, वस्तुगर्भ के अनुसार, एकीभाव के विघटन और उद्धार की दो राहें जनम लेती हैं. वस्तुगर्भ में यदि भोग और ऐश्वर्य की कामनाएं प्रतिष्ठित हैं तो कामनापूर्ति का विधान(वेदवाद)ही धर्म बन जाता है, उसके कर्मकाण्ड आस्था का अनन्याश्रय : *वेदवादरताःपार्थ नान्यदस्तीति वादिनः.*

उपर्युक्त से भिन्न, अनन्योपासना यदि कामनाओं के विचलित करने वाले प्रभाव से मुक्त है, तो वह योग की साधना के द्वारा समाध्युपलक्षित एकीभाव में पर्यवसित होती है. जब तक ऐसा नहीं होता, अनन्योपासना, समस्त चारित्रिक दुर्बलताओं के बीच व्यक्ति को तब तक सम्हाले रहती है जब तक कि उसका अनन्यभाव, साधना के द्वारा तात्त्विक एकीभाव में रूपान्तरित नहीं हो जाता, जो कि कामनाओं के क्षय का, और उसके द्वारा, समस्त चारित्रिक दुर्बलताओं के क्षय का प्रभात है. बौद्धिक विनिश्चय से योग में(भक्तियोग) में आस्था के उद्धार की यात्रा का गीता के नवें अध्याय के एक श्लोक में बड़े ही सुन्दर ढंग से संग्रह किया गया है :

अपि चेत् सुदुराचारो भजते माम अनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।

भले ही कोई परम दुराचारी हो, यदि वह अनन्यभाव से मेरा भजन करता है तो उसे साधु ही मानना चाहिए, क्योंकि वह सम्यक् रूप से व्यवस्थित है (सम्यक् बुद्धि में प्रतिष्ठित है).

९.३. व्यवसायात्मिका बुद्धि के सार्थक व्यवहार का निदर्शन :

ऊपर दिया श्लोक जिन बातों को रेखांकित करता है वे इस प्रकार हैं : बुद्धि के व्यवसाय रूप में प्राप्त धर्मनिर्णय, उसका अनन्योपासनात्मक विमर्श, दुर्बलताओं के वाबजूद, आस्था के समर्थ व्यावहारिक परिकल्प रूप में अनन्योपासना की सामर्थ्य तथा योग (भक्तियोग) की सहायता से दुर्बलताओं पर विजय और आस्था का तात्त्विकभाव में उद्धार.

इस श्लोक में *'सम्यग्व्यवसितो हि सः'* यह अंश विचाराधीन व्यक्तिक्षेत्र में व्यवसायात्मिका बुद्धि की प्रतिष्ठा को रेखांकित करता है. जैसा कि श्लोक से स्पष्ट है, बुद्धि का व्यवसाय उपासना विशेष में साकार होता है(*भजते मामनन्यभाक्*). उपासना का यह विग्रह कुछ और नहीं बल्कि बौद्धिकव्यवसाय से प्राप्त आस्था का एकीभाव ही है, जो अपने स्वरूप को *अनन्यभाक्* पद के द्वारा परिभाषित करता है. बुद्धि का कोई भी उपक्रम भेद की कल्पना के बिना साकार नहीं होता. एकीभाव का अपरोक्ष अनुभव बुद्धि की सामर्थ्य के बाहर की बात है. प्रकृत में *अनन्यभाक्* पद स्वरूप का विमर्श है, जो अन्याश्रय का निषेध करते हुए, अपने मूल की पुष्टि करता है, उसका नवीनीकरण करता है. यह अनन्यभाव, प्रत्येक उपासना का, धर्म के प्रत्येक संस्थागत, मूर्त-अवतरण का स्वारस्य है.

उक्त रूप में एकीभाव का विमर्श आस्था का व्यावहारिक कल्प है, जो साधना द्वारा तात्त्विक एकीभाव में प्रवेश का सोपान भी बन सकता है, और कामनाओं से संक्रमित होने पर विखण्डन और बिखराव की ओर भी उन्मुख हो सकता है. इतना ही नहीं, उपासनाविग्रह की सीमित अर्थवत्ता का अज्ञान, उसे आस्था का परमार्थ समझ बैठने की गलती को जन्म दे सकता है, जिसमें प्राप्त इतरव्यतिरेक(अनन्याश्रय) अन्य धर्मावलंबियों के प्रति असहिष्णुता, घृणा और धर्मोन्माद जैसी विकृतियों को धार्मिक-नैतिक मूल्य की हैसियत पा सकते हैं.

उद्धार और बिखराव की ऊपर कही सभी सम्भावनाएं आस्था के इतरव्यतिरेकी विग्रह में सम्भव हैं. धर्मचेतना के विकास का यह प्रारम्भिक किन्तु महत्त्वपूर्ण पड़ाव है, इतना महत्त्वपूर्ण कि अधिकतर लोग इसी को मंज़िल मान लेने की गलती कर बैठते हैं. श्लोक के *'अपि चेत् सुदुराचारो'* इस अंश से स्पष्ट है कि अभी करने को, पाने को बहुत कुछ बाकी है. बौद्धिकव्यवसाय से उपासना रूप में प्राप्त धर्म अभी अपने परमार्थ से बहुत दूर है.

■ ■ ■

द्वितीय एककः {ख}

(अव्यवसायात्मिका बुद्धि, तज्जन्य पुस्तकीय-
एकीभाव और उसमें बिखराव की प्रक्रिया)

(क) बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।।४१।।

(ख) यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीतिवादिनः।।४२।
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।।४३।।

हे पृथानन्दन! वैदिक कर्मकाण्ड में आसक्त, यह कहने वाले कि भोगों के सिवा और कुछ है ही नहीं, कामनाओं को ही आत्मा और स्वर्ग को ही परमार्थ मानने वाले, ऐसे अविवेकी जन जो फूलों जैसी लुभावनी वाणी (शास्त्रवचन) बोलते हैं, वह जन्मरूपी कर्म-फल को निर्धारित करने वाली, तथा भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये बहुत-सी क्रियाओं का वर्णन करनेवाली है.

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनामि'ति लक्षणपुरस्सरं निरूप्यतेऽत्र उपादानात्परिणत-फलपर्यन्तप्रपञ्चविस्तारोऽव्यवसायात्मकतायाः। अव्यवसायात्मकप्रपञ्चाज्जायते आस्थयाः प्रकार-विशेषः। वेदवादाभिधमिदं हि परिणतफलमव्यवसायात्मकबुद्धेः।

१. **अव्यवसायात्मिका बुद्धिर्हि अपकर्षः व्यवसायात्मिकातायाः। कामनागर्भितत्वात् सतत-विभजनशीलेऽयं शाखा प्रशाखासु व्यज्यते स्वात्मानम्। अतोऽव्यवसायात्मकबुद्धिविवरण-व्याजेन प्रतिपादिता वर्ततेऽत्रास्थायाः विखण्डनस्य प्रक्रिया। इदं विखण्डनमेव महाभयं यस्मात् परित्राणाय प्रवर्तते योगधर्मस्योपदेशः – 'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयादि'ति।**

२.१-२ अनास्थाया: बुद्धिदोषप्रभवोभ्युपगमस्य महत्त्वपूर्णा: निहितार्था:। नास्त्यनास्था पाप: ईश्वरस्यावज्ञा वा, बुद्धिवैकल्यलक्षणमनोरोगत्वान्मनोभूमेर्विश्लेषणे निदानं, मनसो साधनायां चोपचारमनुसन्धातव्यमस्या:। अनेनायासं विज्ञापितो भवति गीतायां धर्मव्यतिक्रम-तदुद्धार-विषयकचिन्तनस्य दिङ्निर्देशो वैज्ञानिकशैली अपि गीताचिन्तनस्य ।

२.३. वेदवादो हि अव्यवसायात्मकप्रपञ्चस्य परिणतं फलम्। लभतेऽनेन गीताधर्मचिन्तनस्य सप्तपदीनोऽध्यनक्रम: –

१. अव्यवसायात्मिका बुद्धि:, तस्या: भोगवाद्यापातरमणीय-जीवनादर्शा:।
२. भोगवादि-जीवनादर्शस्य धर्मे रूपान्तरणम्।
३. रूपान्तरणस्यास्य न्यूनतममान्यतासंभार:।
४. वेदवाद:, सिद्धान्त: विग्रहश्च।
५. अव्यवसायात्मकप्रपञ्चलब्धास्थाया: विखण्डनस्वभाव एव महाभयं, यस्मात्परित्राणाय प्रवर्तते योगस्याश्वासनम्
६. वेदवादस्य समीक्षा : तस्या: प्रस्थाने सामान्यविशेषे।
७. वेदवादस्य समीक्षापुरस्सरं आस्थाया: परापुस्तकीयार्थस्यानुसंधानम्।

३. अवधेयान्यत्र व्यवसायात्मकबुद्धिसंक्रमितानां विशेषणोपचाराणि। तथा हि, 'अविपश्चित:', 'कामात्मान:' 'वेदवादरता:' 'स्वर्गपरा:', 'नान्यदस्तीतिवादिन:'। इमानि पदानि समन्वित-रूपेण रूपयन्त्येकं भोगवादि-ग्राम्यजीवनादर्शम्। अविपश्चित्पदस्य संकेतो ह्यत्राप्रबुद्ध: प्रतीयमान- परायणजन:। यो व्यक्तमेव मन्यते परमार्थं यस्य बुद्धि: रमत आपातरमणीयेषु, स एवाविपश्चित् । इतराणि विशेषणपदानि 'अविपश्चित्' पदार्थस्यैव विवरणानि।

आत्मा हि कामकाम्यभोगयोरधिष्ठानमिति कामात्मवाद:। अस्य द्वे रूपे, लौकायतिक-पारलौकिके । एक: बहुश उद्धृतश्लोको हि लोकायतिक-कामात्मवादस्य सुप्रसिद्धोदाहणम् : ''यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्, भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुत:'' इति। इदं हि कामात्मवादस्य शुद्धं सांसारिकं रूपम् । सार्थकमस्य लोकायतदर्शननाम। स्वर्ग-पुनर्जन्म-अपूर्वकर्मफलाद्यलौकिकान् दृढ़तापूर्वकं अस्वीकुर्वन् प्रस्तौतीदं भोगस्य भोगभूमेश्च विशुद्धामिहलौकिकीं व्याख्याम् ।

३.१. कामात्मवादः अधिककालं न सहते लौकायतिकमर्यादानां सुतर्कितं बन्धनम्। वाञ्छत्ययं लौकायतिकेन भोगानां शश्वज्जीवनस्याश्वासनम् । तदलभमाने तार्किकाः लौकायतिकमर्यादाः तिरस्कुर्वन्, बहिरागच्छत्यसौ भोगानां परमरमणीय-लोकोत्तरसंसारस्यानुसंधानाय । प्रमाणमिदं भोगवादिजीवनादर्शस्याव्यवसायात्मकतायाः। इत एव प्रारभ्यते तार्किकेहलौकिकभोगवादस्य धर्मे अर्थात् वेदवादे रूपान्तरणस्य प्रक्रिया।

३.२. लौकायतिक-सुखवादस्य धर्मे रूपान्तरणस्य तिस्रः न्यूनतमाः मूलमान्यताः। सनातनभोक्तृरूप आत्मा, लोकोत्तरभोगभूमयः (स्वर्गादयः) प्रमाणभूतानि शास्त्राणि च लोकोत्तर-साधकानि । गीतायां क्रमशः 'कामात्मानः', 'स्वर्गपरा', 'क्रियाविशेषबहुला भौगैश्वर्य गतिं प्रति', 'वेदवादरताः' इति सूत्रपदेषु एतासां मूलमान्यतानां संग्रहः कृतो वर्तते । लौकायतिकसुखवादे, उपर्युक्त-मूलमान्यतानां संग्रहेण प्रारभ्यते एका विस्फोटकसर्जनात्मकप्रक्रिया, यस्माज्जायते एका विघटनगर्भितासमाहार्यास्थासंततिपरम्परा। संसारस्य सर्वे पुस्तकपंथाः, सर्वे संस्थागतधर्माः केचन हिन्दूनां सम्प्रदाया अपि सन्ततयोऽस्याव्यवसायात्मकविघटनगर्भस्य।

३.३. वेदाः कामनापूर्तेः दिव्यविधानमिति वेदवादवादिनः। कर्मकाण्डातिरिक्तं न कोऽप्यर्थः प्रयोजनं वा वेदानाम् –'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थनात्' इति । वेदार्थस्यैकपक्षीयविनिश्चयाश्रितकर्मकाण्डपरायणधर्मविशेषो हि वेदवादेति व्यवस्थितम्।

४. अवधेयोऽत्र 'वेदवाद' शब्दः 'प्रज्ञावादेति प्रयोगवत्। व्यपदिशत्ययं उद्दिष्टस्य प्रतीयमानं रूपं, तात्त्विकस्वरूपभिन्नम्।

४.१. वैदिकवाङ्मये ऐकान्तिकविध्यर्थाभिनिवेशो हि मिथ्याकरणं वेदस्य बह्वायामि अर्थवैभवस्य। वेदार्थस्येयं दरिद्रप्रस्तुतिर्हि वेदाभासः वेदवादेति नातिविश्रुतपदेन व्याहृता भवति गीतायाम्।

४.२ उपरि कृता वर्तते वेदवादस्य मनोवैज्ञानिक-वैचारिकोपादानानां चर्चा । 'पुष्पितां वाचम्', 'जन्मकर्मफलप्रदाम्' 'भोगैश्वर्यगतिं प्रति', 'क्रियाविशेषबहुलाम्' इति पदैः रेखांकितो वर्तते साकारविग्रहो वेदवादधर्मस्य।

४.३. गीतायां वेदवादस्य समीक्षायाः साक्षाद्विषयस्तु वैदिककर्मकाण्डपरायणहिन्दूधर्म एव। किन्तु वेदवादसाधर्म्यात्सर्वे पुस्तकपंथाः भजन्ते गीतायाः समीक्षार्हताम्। वेदवादो ह्यत्रोपलक्षणं सर्वेषां विधिपरायणधर्माणाम्। भिन्नशास्त्रावलंबिनेष्वपि धर्मेषु लक्ष्यते अद्भुतरचनासाम्यम्।

सुखवादि- जीवनादर्शः, तत्र साधनभूतं शास्त्रविधानं, लोकोत्तरभोगेषु भोगभूमिषु च निष्ठा, तत्र साधनभूतविहिताचारस्य अपूर्वसामर्थ्ये विश्वासः – अयं मान्यतासंभारो हि सामान्यार्थवैभवः सर्वेषां पुस्तकपंथानाम् ।

४.४ एवं प्राप्येते वेदवादसमीक्षायाः सामान्यविशेषप्रस्थानौ। वेदवादं निमित्तं कृत्वा यदा गीता संहिता-बद्धास्थायाः समीक्षां करोति, तदा न केवलं हिन्दूधर्मः अपितु यहूदी-ईसाई-मुस्लिमादिधर्मा अपि भजन्ते गीतायाः समीक्षार्हकोटिम् । गीता युक्तिपूर्वकं निराकरोति पुस्तकपंथानां पार्यन्तिकताभिनिवेशं निरपवादम् । इदं हि धर्मदर्शनस्य क्षेत्रे गीताया अप्रतिमं योगदानम्।

इह संसारे अशान्तेः संघर्षाविश्वासयोः प्रमुखं कारणं हि केचन धर्मसंघानामाग्रहो यत्तेषां धर्मग्रन्थो हि एकमेवाद्वितीयं प्रामाणिकं शास्त्रम्। युक्त्या अस्य स्थापने अनीशाः, शस्त्रेण धनबलेन च ते यतन्ते स्वधर्मस्य वर्चस्वस्थापनाय । तत्तद्धर्माणां वैश्विकवर्चस्वलिप्सा हि संसारे संघर्षस्य मूलं कारणम् । यथोचितमनोवैज्ञानिकविश्लेषणेन गीता दर्शयति सीमितार्थ-वत्तां समीक्षार्हतां च सर्वेषां पुस्तकपंथानाम्। जातीयपुरागाथाकल्पितधर्मग्रन्थानां मध्ये कस्यचिदेक-स्यैवाद्वितीयत्वप्रकल्पने न कोऽपि विनिगमकः।

५. अयं हि सारांशः सामान्यसमीक्षाप्रस्थानस्य वेदवादस्य । किन्त्वस्याः अन्तरंगसन्दर्भस्तु हिन्दूधर्म एव । शाखाप्रशाखास्वनवरतविभाजनानां मध्ये हिन्दूविभजनशीलताया मनोवैज्ञानिकं विश्लेषणं कुर्वन्, तात्त्विकाधारस्यानुसंधानं यदतीत्य विखण्डनसम्भारं हिन्दू-आस्थां एकीभावे स्थापयेत् – इदमेव गीतायां वेदवादसमीक्षायाः प्रमुखं प्रयोजनम्।

५.१. वेदस्यैकान्तिकधर्मानुशासनस्य स्थापनाय प्रयोगं ज्ञापयति वेदवादेति शब्दः। बह्वायामि वैदिकवाङ्मयासमानुपात्यपर्याप्तव्याख्यापरिकल्पाश्रितत्वादयं प्रयोगः नालभदपेक्षितं साफल्यम्।

५.२ अस्य प्रयोगस्यासफलताया द्वौ फलितार्थौ, केन्द्रीयानुशासनस्याभावे आस्थायां अनिर्बन्धविघटन-प्रक्रियायाः समारम्भः तथा चास्थायाः एकीभावस्य परापुस्तकीय-तात्त्विकाधारस्यानुसंधानम् – 'त्रैगुण्यविषयाः वेदाः निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' इति।

६. 'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्' इति गीतोक्तिर्हि सततविघटनशीलहिन्दू-धर्ममालक्ष्यैका विचारयोग्या टिप्पणी। वेदवादस्य समीक्षाव्याजेन हिन्दूधर्मस्य विखण्डनपरायणं स्वरूपं भवत्यत्र गीतायाः निर्ममविवेचनविषयः।

६.१ समीक्षायाः आधारभूतं स्वरूपमुद्वेलयति नैकान् आस्थावान्भाष्यकारान्। ते यथाशक्ति यतन्ते अस्य सुविधाजनकव्याख्यानानि। आत्मनिरीक्षणपराङ्मुखो पुस्तकपंथः, भवतु वेदवादः बाइबिलवादः कुरानशरीफवादो वा । इमे हि पन्थानोऽविपश्चिताम् । विलक्षणः प्रबुद्धजनानां धर्मः। आत्मनिरीक्षणान्न पलायतेऽसौ। स्वकीयानामास्थाविषयाणां विश्लेषणमभिज्ञानं तेषां दुर्बलग्रन्थीनां हि नास्त्यधर्मः, जाग्रदास्थायाः लक्षणमिदम् । वेदवादस्य, तन्मुखेन पुस्तकपंथस्य समीक्षा हि आस्थायाः परापुस्तकीये तात्त्विकैकीभावे प्रवेशस्य प्राथमिकं सोपानम्।

६.२-३ 'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्' इत्यस्य व्याख्यानमपेक्षते विहंगावलोकनं हिन्दूविघटनपरिदृश्यस्य, आकलनमस्यासमाहार्यविकरालताया अगंभीरतायाश्च प्रस्तुत-समाधानानाम्।

६.४. बहुदेव-बहुसम्प्रदायविकल-नानोपासनाजर्जर-आस्थायाः एकीभावे समुद्धाराय गीतायां प्रवर्तते योगस्योपदेशः। नास्ति योगः केवलं शरीरारोग्यसाधनं, यथा मन्यन्ते बहुजनाः। मनसः साधन द्वारा आस्थयाः आरोग्यं, विखण्डनादैकीभावेऽस्या उद्धारं हि योगस्य मूलप्रयोजनम् ।

सन्दर्भ विचार : व्याख्येय सन्दर्भ में अढाई श्लोक हैं. इसके दो भाग हैं, जिनमें क्रमशः (क) अव्यवसायात्मिका बुद्धि के लक्षण और (ख) उपादानसहित उसके प्रपंच विस्तार का संग्रह किया गया है. यह प्रपंच, आस्था के एक प्रकार विशेष को जन्म देता है, जिसे गीता नाम देती है **'वेदवाद'**.

(क) *'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्'* :

१. अव्यवसायात्मिका बुद्धि का लक्षण : व्यवसाय(निश्चयात्मकता) बुद्धि का सहज धर्म है. इस धर्म के क्षरण को, उसके अपकर्ष को गीता नाम देती है, **अव्यवसायात्मिका बुद्धि.** यहां 'बुद्धि' शब्द का अर्थ है धर्मबुद्धि, यह बात पहले कह आए हैं. इस धर्मबुद्धि के अनिश्चयगर्भित रूप का नाम है *अव्यवसायात्मिका बुद्धि,* जो आस्था को अनेक खण्डों, शाखाओं और उपशाखाओं में विभाजित करती है. *'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्'*— अव्यवसायी जनों की बुद्धियां अनेक शाखाओं वाली और अनन्त होती हैं. यहां विखण्डन और बिखराव के व्यवहार को अव्यवसायात्मिका बुद्धि के लक्षण के रूप में प्रस्तुत किया गया है.

इस वाक्य के द्वारा 'अव्यवसायात्मिका बुद्धि' की पहचान को निर्धारित करने के बाद वेदवाद के रूप में आस्था के उस स्वरूप की चर्चा करते हैं जो 'अव्यवसायात्मिका बुद्धि' से प्राप्त होता है. उद्देश्य है, अव्यवसायात्मिका बुद्धि को उसके व्यवहार में देखना, परिणाम के द्वारा उसे समझना. वेदवाद को केन्द्र में रख कर अव्यवसायात्मिका बुद्धि के मनोवैज्ञानिक उपादानों का, उससे उत्पन्न धर्म और उसकी प्रतिबद्धताओं का, तथा उसमें अन्तर्गुम्फित अनभीष्ट परिणतियों का एक साथ निदर्शन कराया गया है : *भोगैश्वर्य प्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्, व्यवसाचात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते.*

अस्थिरता और बिखराव एक बुद्धिदोष है, जो भोगवादी, आपातरमणीय जीवनादर्शों के कारण बुद्धि में प्राप्त होता है. भोगवादी जीवनादर्शों के कारण अपने निश्चयात्मक स्वरूप से विचलित हुई बुद्धि का ही नाम है **अव्यवसायात्मिका बुद्धि**. आस्था का बिखराव इसके स्वरूप से प्राप्त है. यह क्यों और कैसे अवांछित है, इसे समझने के लिए ऊपर दिए एक श्लोक की पंक्ति का अध्याहार करना पड़ेगा, जिसमें योग को महाभय से त्राण देने वाला धर्म कहा गया है — *स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्.* यह महाभय क्या है, जब यह जिज्ञासा होती है कि तो निश्चयात्मिका बुद्धि की प्रतिबंधक, तन्मुखेन योग की प्रतिबंधक, अव्यवसायात्मिका बुद्धि और उसके द्वारा आस्था का विखण्डन ही उस महाभय के रूप में उपस्थित होता है जिससे योग परित्राण देने का आश्वासन देता है.

१.१. अनास्था एक बुद्धिदोष (बौद्धिकबीमारी) है, पाप नहीं :

बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽ व्यवसायिनाम्— अव्यवसायी जनों की बुद्धि अनन्त और अनेक शाखाओं वाली होती है. यह आपातरमणीय जीवनादर्शों से उत्पन्न बौद्धिक बीमारी है जो आस्था में अनिश्चय, विघटन और अस्थिरता को उत्पन्न करते हुए उसे अनेक खण्डों, शाखाओं और उपशाखाओं में विभाजित करती है. भोगवादी जीवनादर्श इसके पूर्वकल्प हैं, जिन्हें साकार करने के लिए यह अन्तःविभाजन के द्वारा यह अभिनव आस्थापर्यायों का सृजन करती रहती है. उक्त विश्लेषण का महत्त्वपूर्ण निहितार्थ यह है कि आस्था का बिखराव कुफ्र या पाप नहीं है. यह एक बौद्धिक बीमारी है जो उपचार की अपेक्षा पखती है दण्ड की नहीं. धर्मशास्त्रों में **अनास्था** के लिए जो दण्ड के प्रावधान मिलते हैं वे अतथ्यमूलक हैं. आस्था के बिखराव का मूल है अव्यवसायात्मिका बुद्धि के रूप में प्राप्त बुद्धिदोष. इसे मनोरोग या यों कहें कि

बुद्धिरोग मान कर, मनोभूमि के विश्लेषण में निदान और मन की साधना में उसके उपचार की तलाश की जानी चाहिए.

१.२. बुद्धिदोष (अव्यवसाय) का उद्भवमूल :

कामनाएं और उनके भोगवादी जीवनादर्श : अव्यवसायात्मिका बुद्धि का उद्भव है कामनाएं और उनका दार्शनिकीकरण. वस्तुतः यह आत्मसम्मोहन की अन्योन्याश्रित प्रक्रिया है. तीव्र आसक्ति से सम्मोहित मनुष्य अपनी कामनाओं को ही देवपीठ पर प्रतिष्ठित कर देता है, और कामनापूर्ति के अलौकिक साधनों को ही धर्म का परमार्थ मान बैठता है. फिर तो फूलों की भांति आकर्षक वाग्विलास, कर्म की कवित्वपूर्ण प्रशस्तियां, इस निसर्गधर्म में मनुष्य की प्रवृत्ति को सहज सुनिश्चित कर देती हैं.

जब कामनाओं की लौकिक सीमा लोगों को अपर्याप्त लगने लगती है, तो वे उन्हें लोकोत्तर अर्थ दे डालते हैं. वे मानते हैं कि कामनाओं से बड़ा यदि कोई प्राप्तव्य हो सकता है तो वह है कामनाओं के लोकोत्तर भोगपर्याय. अपने लोकोत्तर रूप में कामनाएं स्वर्गसुख को परिकल्पित करती हैं. इस भोगवादी जीवनादर्श को समर्पित लोगों के लिए, लौकिक और पारलौकिक सुखों का अपूर्व साधन होने से वैदिक कर्मकाण्ड ही धर्म है, इसके द्वारा कामनापूर्ति धर्म का परमार्थ. धर्म इससे अधिक कुछ नहीं है, ऐसा मानने वालों की ओर संकेत करते हुए गीता में कहा है, ***नान्यदस्तीति वादिनः***.

२. अव्यवसायात्मिका बुद्धि : उपादान और प्रपंच-विस्तार :

(ख) यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीतिवादिनः॥४२।
कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥४३॥

हे पृथानन्दन! वैदिक कर्मकाण्ड में आसक्त, यह कहने वाले कि भोगों के सिवा और कुछ है ही नहीं, कामनाओं को ही आत्मा और स्वर्ग को ही परमार्थ मानने वाले, ऐसे अविवेकी जन जो फूलों जैसी लुभावनी वाणी (शास्त्रवचन) बोलते हैं, वह जन्मरूपी कर्म-फल को निर्धरित करने वाली, तथा भोग और ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये बहुत-सी क्रियाओं का वर्णन करनेवाली है.

२.१. *'यामिमां पुष्पितां वाचं ...भोगैश्वर्यगतिं प्रति'* :

कथ्य की संरचना : विवेचनाधीन दो श्लोकों का सम्पूर्ण कथ्य, विशेषण पदों की सहायता से प्रथमान्त **'अविपश्चितः'**(अविद्वान् लोग) और द्वितीयान्त **'वाचम्'** (वाणी को) इन दो पदों में गुम्फित है. ये महत्त्वपूर्ण ढंग से कथ्य के वर्गीकरण की ओर भी संकेत करते हैं. प्रथमान्त पद, जिनका क्रम इस प्रकार है,, *'अविपश्चितः', 'कामात्मानः' 'वेदवादरताः' 'स्वर्गपरा', 'नान्यदस्तीति वादिनः',* भोगवादी आस्था की मूल मान्यताओं को बताते हैं, जब कि द्वितीयान्त पद *'यामिमां पुष्पितां वाचम्' 'जन्मकर्मफलप्रदाम्' 'भोगैश्वर्यगतिं प्रति क्रियाविशेषबहुलाम्',* उक्त मूलमान्यताओं पर निर्मित आस्था के साकार स्वरूप को कहते हैं, जिसे 'वेदवाद' नाम दिया गया है.

२.२. तदनुसार 'अव्यवसाय' की व्याख्या का सप्तपदीय कल्प :

अव्यवसायात्मिका बुद्धि की चरम उपलब्धि है वेदवाद. विवेच्य श्लोक एक साथ दो धरातलों को छूते हैं, चर्चा वेदवाद की करते हैं, परिचय अव्यवसायात्मिका बुद्धि का देते हैं. कारण स्पष्ट है; भोगवादी आदर्शों को समर्पित वैचारिक और मनोवैज्ञानिक उपादानों में विकसित अव्यवसायात्मकता का इतिहास वेदवाद की चर्चा में साकार होता है. इस उभय-कोट्यात्मक कथ्य के अनुरोध से नीचे दिए गए क्रम में सात चरणों में निबद्ध व्याख्यासरणि प्राप्त होती है :

१. अव्यवसायात्मिका बुद्धि : उसके भोगवादी, आपातरमणीयजीवनादर्श
२. भोगवादी जीवनादर्श का धर्म में रूपान्तरण :
३. इस रूपान्तरण की न्यूनतम मूल मान्यताएं :
४. वेदवाद : सिद्धान्त और विग्रह :
५. उपरोक्त अव्यवसायात्मिका-बुद्धि प्रपंच से प्राप्त आस्था का बिखराव ही महाभय, जिससे योगधर्म परित्राण का आश्वासन देता है : *स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्.*
६. वेदवाद की समीक्षा : उसके *सामान्य* और *विशेष* प्रस्थान :
७. वेदवाद की समीक्षा को आधार बनाते हुए आस्था के परा-पुस्तकीय अर्थ का अनुसंधान :

३. अव्यवसायात्मिका बुद्धि के आपातरमणीय जीवनादर्श :

अव्यवसायात्मिका बुद्धि से संक्रमित लोगों के लिए गीता में कुछ विशेषणों का प्रयोग हुआ है जो ध्यान देने योग्य हैं : *'अविपश्चितः', 'कामात्मानः' 'वेदवादरताः' 'स्वर्गपरा',* तथा

'नान्यदस्तीतिवादिनः'. ये सभी पद समन्वित रूप से, एक अप्रबुद्ध, ग्राम्य जीवनादर्श का निर्माण करते हैं. *'अविपश्चित्'* का शाब्दिक अर्थ है, अविद्वान् . यहां इसका अर्थ है, अप्रबुद्ध, प्रतीयमानपरायण लोग. ये लोग जो व्यक्त है, दिखाई देता है, उसी को परमार्थ मानते हैं; उससे परे किसी तत्त्व की जिज्ञासा को जो अनावश्यक समझते हैं, जिनकी बुद्धि सदा आपातरमणीय में ही रमण करती है, ऐसे लोगों को बताने के लिए ***'अविपश्चितः'*** पद का प्रयोग हुआ है. अन्य सभी परिगणित विशेषण इस अविपश्चित पदार्थ का ही विवरण हैं.

अविचार और सतहीपन भोगवादी जीवनदर्शन की सहज पहचान हैं. जो विचारशील हैं, वे बहुत समय तक भोगों के जीवन में लिप्त नहीं रह सकते. अंग्रेजी के सुप्रसिद्ध नाट्य लेखक जार्ज बर्नार्ड शा ने अपने नाटक ''मैंन एण्ड सुपरमैन" में इस वस्तुस्थिति को बड़े ही सुन्दर ढंग से रूपायित किया है. जो जाग्रत हैं, प्रबुद्ध हैं, उनका मन भोगों में, वे स्वर्ग के ही क्यों न हों, अधिक समय तक उलझा नहीं रह सकता :

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
अद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।। (गीता ५.२२)

(जो स्पर्शजन्य भोग हैं, वे दुःख के ही प्रभव हैं. आदि और अन्त वाले इन भोगों में प्रबुद्ध जनों का मन रमण नहीं करता)

३.१. 'कामात्मानः' का अर्थ :

एक भोगवादी, आत्मा को कामनाओं के अक्षयकोष के रूप में देखता है. इनका तृप्तिपर्याय होने से भोग ही जीवन का परम प्राप्तव्य है. आत्मा का इससे अधिक कोई अर्थ हो भी तो वह अनावश्यक है. ***कामात्मानः*** पद भोगवादीदर्शन की इस मूलमान्यता को सूत्रबद्ध करता है.

आदर्श में एक व्यक्ति अपनी पूर्णता की मंजिल देखता है. अतः व्यक्तित्व की पूंजी, अपने स्वरूप की अवधारणा ही किसी व्यक्ति के लिए उसके आदर्श के स्वरूप को तय करती है. जहां कामना ही व्यक्तित्व का सर्वस्व है, वहां कामना तृप्ति के अतिरिक्त किसी और आदर्श की कल्पना भी नहीं की जा सकती. फ्रायड नाम के एक प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक हुए हैं योरुप में. वे काम को व्यक्तित्व का मूलतत्त्व मानते हैं. कामेच्छा का दमन उनकी दृष्टि में अस्वस्थ जीवनादर्श है, मनोरोगों का जनक है, जबकि कामेच्छा की तृप्ति एक सहज

स्वस्थ व्यवहार. स्पष्ट है कि फ्रायड की यह स्वस्थ्य जीवनादर्श की अवधारणा, उसकी व्यक्तित्व की अवधारणा से प्राप्त है. व्यक्तित्व के स्वरूप और आदर्श के बीच का यह रिश्ता संसार के समस्त नैतिक-धार्मिक चिन्तन में देखा और दिखाया जा सकता है. **'कामात्मा' का अर्थ है, ऐसे लोग जो आत्मा को केवल कामनाओं और तन्निमित्त भोगों के अधिष्ठान के रूप में ही जानते हैं.**

इस कामात्मवाद के दो रूप हो सकते हैं, लौकायतिक (पदार्थवादी) और परालौकिक. नीचे दिया श्लोक लौकायतिक-कामात्मवाद का प्रसिद्ध उदाहरण है :

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

कामात्मवाद का यह शुद्ध सांसारिक रूप है. इसका लोकायतदर्शन नाम सार्थक है, क्योंकि इसमें स्वर्ग, पुनर्जन्म और अपूर्व कर्मफल जैसी अलौकिक मान्यताओं को दृढतापूर्वक अस्वीकार करते हुए, भोगों के संसार की विशुद्ध इहलौकिक अवधारणा प्रस्तुत की गई है. अपने सुपरिभाषित, तार्किक स्वरूप तथा घोषित इहलौकिक प्रतिबद्धताओं के कारण, यह एक धर्म-निरपेक्ष आदर्श है; भद्रलोक का जीवनदर्शन जो समाज में अव्यवस्था को पंसद नहीं करते और जरूरत पड़ने पर ऋण ले कर काम चलाने में विश्वास करते हैं. तार्किक सुखवाद एक सुपरिभाषित इहलौकिक दर्शन है जो कोई भ्रम उत्पन्न नहीं करता. अतः आस्था के लिए भी यह कोई बड़ी चुनौती नहीं बनता. किन्तु सुखवाद का दर्शन जब परालौकिक मान्यताओं को अंगीकार करते हुए आस्था का रूप लेता है तो एक विचित्र प्रकार की धार्मिकता का जन्म होता है, जो समस्याएं उत्पन्न करती है.

३.२. कामात्मवाद का धर्म में रूपान्तरण :

कामात्मवाद अधिक समय तक अपनी तार्किक, इहलौकिक मर्यादाओं में बंध कर नहीं रह सकता, कारण कि कामनाएं स्वयं ही अमर्यादा का, अनिश्चय का, गीता की शब्दावली में *अव्यवसायात्मकता* का मूल हैं. स्थिरता कामात्मवादी मानस का स्वभाव नहीं है; वह लोकायत से भोगों की निरन्तरता का आश्वासन चाहता है. जब यथार्थवादी लोकायत दर्शन उसे यह आश्वासन नहीं दे पाता तो वह उसकी तार्किक, इहलौकिक प्रतिबद्धताओं को सिरे से नकारते हुए, भोगों के लुभावने लोकोत्तर संसार की खोज में निकल पड़ता है. यह भोगवादी आदर्शों की

अव्यवसायात्मकता का प्रमाण है. यहां से प्रारम्भ होता है, एक तार्किक सुखवादी दर्शन के धर्म में, अर्थात् वेदवाद में रूपान्तरण का सिलसिला.

३.३. उक्त रूपान्तरण के लिए तीन न्यूनतम मूलमान्यताएं :

सनातनभोक्ता (आत्मा), लोकोत्तर भोगभूमि(स्वर्ग) तथा प्रमाणभूत शास्त्र : कामात्मवाद के धर्म में रूपान्तरण के लिए जिन तीन परालौकिक मान्यताओं की आवश्यकता पडती है, उनमें से प्रथम दो हैं, लोकोत्तर भोगभूमि और उसके सनातन भोक्ता (आत्मा) की मान्यताएं. ये दोनों ही मान्यताएं क्रमशः ***'कामात्मानः'*** और ***'स्वर्गपरा'*** इन पदों में संग्रहीत हैं. यतः ये मान्यताएं परालौकिक हैं, किसी भी लौकिक प्रमाण के द्वारा इन की पुष्टि सम्भव नहीं है. अतः अपने को प्रमाणित करने के लिए ये आप्तवचन(शब्दप्रमाण) का सहारा लेती हैं. ये शास्त्र (वेद) ही हैं, जो यह आश्वासन देते हैं कि मरने के साथ ही यह सुखों का संसार नष्ट नहीं हो जाता; मरने के बाद भी स्वर्ग में हमारे लिए सुखों का एक संसार सजेगा, अपनी आत्मा के रूप में हम उसके शश्वद् भोक्ता होंगे. इतना ही नहीं, वेद उस कर्मकाण्ड का विधान करते हैं जिसकी सहायता से हम सुखों के इस संसार में प्रवेश पा सकते हैं – ***क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्य गतिं प्रति..***

एक सुखवादी के लिए सुखों की निरन्तरता से अधिक और क्या चाहिए? अपने दिव्य लोकोत्तर रूप में कामनाएं स्वर्गसुख को परिकल्पित करती हैं. भोगों का लोकोत्तर विस्तार, स्वर्ग ही उनके लिए परम प्राप्तव्य हो सकता है. इससे बड़े किसी आदर्श की कल्पना उनके लिए सम्भव नहीं, क्योंकि उनकी व्यक्तित्व की अवधारणा में इससे अधिक के लिए गुंजाइश ही नहीं है. इसीलिए कहा, ***'कामात्मानः स्वर्गपरा'*** – कामात्मा के लिए स्वर्ग ही परम प्राप्तव्य है. वह धन्य हो जाता है और कह उठता है, ***'नान्यदस्तीति'*** इससे अधिक और कुछ नहीं है. जो चाहिए और जितना चाहिए मिल गया, अब उससे परे कुछ हो भी तो उसकी जिज्ञासा क्यों; वह निष्प्रयोजन होने से हमारे लिए न होने जैसा ही है. ***'नान्यदस्तीति वादिनः'***. यह निर्णय वाक्य है जो यह बताता है कि कामात्मवाद के धर्म में रूपान्तरण की सभी शर्तें पूरी हो चुकी हैं.

कामात्मवाद में उपरोक्त मान्यताओं के संग्रह के साथ प्रारम्भ होती है एक विस्फोटक सर्जनात्मक प्रक्रिया जो अपने क्रम में न समाप्त होने वाले आस्थापर्यायों की परम्परा को जन्म देती है. संसार के सभी पुस्तकपंथी संस्थागत धर्म, जिनमें हिन्दुओं के सम्प्रदाय भी शामिल हैं,

इस विराट परम्परा के ही अंग हैं

३.४. *वेदवाद :* धर्म में रूपान्तरित कामात्मवाद का साकार विग्रह :

भोग और ऐश्वर्य के अलौकिक साधनों का संहिताकरण शास्त्रों का रूप लेता है. इनके दिव्य-उद्भव की परिकल्पना से प्राप्त है इनकी अलौकिकता. दिव्यवाक् का संहितानिबंधन, जहां उसके लिए सामाजिक संज्ञान और मान्यता को सुनिश्चित करता है, वहीं दिव्य-उद्भव की मान्यता उसे धर्म के रूप में प्रतिष्ठित करती है. इस प्रकार अस्तित्व में आते हैं धर्म के पुस्तकीय, शास्त्रनिबद्ध संस्करण. भोग और ऐश्वर्य की लालसा, सभी शास्त्रनिबद्ध धर्मों का निर्विशेष अंतरंग होता है. किन्तु कर्मकाण्ड, उनके प्रतीकात्मक अर्थ, और पुरागाथाओं में गुम्फित उनके कलेवर अलग अलग होते हैं. ये उनके जातीय स्वरूप का ज्ञापन करते हैं. इस प्रकार अपने सामान्य और विशेष दोनों ही रूपों में आस्था के सभी पुस्तकीय संस्करण, गीता की दृष्टि में समीक्षार्ह हैं, अपर्याप्त हैं. यतः वेद हिन्दुओं का मौलिक शास्त्र है, गीता में वेदवाद को केन्द्र में रख कर, आस्था के संहिताबद्ध रूप को विचार और समीक्षा का विषय बनाया गया है.

४. विशेष विचार :

४.१. मूल-मान्यताएं : 'वेदवाद' संज्ञा के निहितार्थ : हिन्दुओं के लिए वेद सनातन ज्ञान और विज्ञान का कोष हैं. वेद किसी की कृति नहीं है; वे अपौरुषेय होने से निर्व्यलीक और अमोघवाक् हैं. हिन्दुओं में ही विचारकों की एक ऐसी परम्परा रही है, जो वेदों को कामनापूर्ति का दिव्य विज्ञान मानती है, और उसी रूप में उनकी व्याख्या करती है. कालान्तर में इस परम्परा ने मीमांसाशास्त्र का रूप लिया. मीमांसकों के अनुसार वेद कामनापूर्ति का दिव्यविधान है; इसके अतिरिक्त कुछ नहीं; कर्मकाण्ड के अतिरिक्त वेद का कोई अर्थ नहीं हो सकता (आम्नायस्यक्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थनात्), वेदार्थ के इस ऐकान्तिक विनिश्चय पर टिके होने के कारण, कर्मकाण्डपरायण इस धर्मविशेष को गीता वैदिकधर्म नाम न दे कर *वेदवाद* नाम देती है. यह शब्द प्रयोग ध्यान देने योग्य है. ***वेदवाद*** से मिलता जुलता एक और शब्द गीता में मिलता है, '***प्रज्ञावाद***.

इन शब्दों की संरचना इसलिए ध्यान देने योग्य है क्योंकि इससे गीता की चिन्तन शैली समझने में मदद मिलती है. 'वद्' धातु से बना 'वाद' शब्द, वस्तु के स्वरूप से भिन्न,

उसकी अभिव्यक्ति को, उसके प्रतीयमान अर्थ को बताता है. इस प्रकार ***प्रज्ञावाद*** का अर्थ हुआ, प्रज्ञा से भिन्न, उसकी शाब्दिक प्रतीति अर्थात् प्रज्ञाभास. इसी प्रकार वेदवाद का अर्थ हुआ, वेद का आभास, विधि में वेदाभिमान. वैदिकवाङ्मय के बारे में यह कहना कि 'वेद का एक मात्र उद्देश्य कर्म का विधान करना है और यदि वह ऐसा नहीं करता तो निरर्थक है', उसके बहुआयामी अर्थवैभव का मिथ्याकरण है.

वेदार्थ की इस दरिद्र प्रस्तुति को वेदाभास भी कहा जा सकता है, किन्तु आलोचना की तीखी शब्दावली गीता की शैली नहीं है. साम्प्रदायिक खण्डन-मण्डन का शास्त्र न हो कर गीता समस्त विरोधें के तात्त्विक धरातल पर उद्धार और संग्रह का शास्त्र है. जिसकी आलोचना की जा रही है उसे भी, सुधार कर, रूपान्तरित करके समेंटना है. अतः गीता वेद के कर्मकाण्डपरायण निर्धारण के लिए वेदाभास जैसे पैने शब्द का प्रयोग न करके, एक ऐसे निरापद शब्द की खोज करती है, जो कर्मकाण्ड परायण वैदिक धर्म की अवमानना का आभास दिए बिना उसकी अपर्याप्तता को रेखांकित कर सके. यह शब्द ***वेदवाद*** ही हो सकता है.

४.२. 'वेदवाद' का मूर्तरूप :

वेदवाद के वैचारिक-मनोवैज्ञानिक उपादानों की चर्चा की जा चुकी है. यहां उसके मूर्तरूप की चर्चा करते हैं. श्रीमद्भगवद्गीता में इसका संग्रह इन शब्दों में किया गया है : ***'पुष्पितां वाचम्', 'जन्मकर्मफलप्रदाम्', 'भोगैश्वर्यगतिं प्रति क्रियाविशेषबहुलाम्'.***

क) पुष्पितवाक् *: यामिमां पुष्पितां वाचं ....'* :

यह किसी भी धर्म विग्रह की पहली विशेषता है. सभी धर्मशास्त्र वाक्(शब्द) रूप हैं. इस रूप में वे प्रत्यक्ष प्रकाशन हैं. पुस्तकरूप में उनका गुम्फन तो बाद की घटना है. यह दिव्यवाणी अलौकिक सम्मोहक गुणों से युक्त होती है, जो उसके दिव्य स्रोत को प्रमाणित करते है. कुरानशरीफ तो स्थान स्थान पर संदेहवादियों को चुनौती देती है कि जो उसके दिव्य उद्भव में संदेह करते हैं वें ऐसी ही कोई दूसरी पुस्तक लिख कर दिखाएं. तात्पर्य यह कि कुरान शरीफ ईश्वरीय वाक् के रूप में अपने स्वरूप को प्रमाणित करने के लिए अपने वाग्वैभव को ही प्रमाण रूप में प्रस्तुत करती है. शास्त्रवाक् का खिले हुए फूलों जैसा सम्मोहक रूप, एक ओर उसके अलौकिक, अननुभूत कथ्य में विश्वास को सुनिश्चित करता है तो दूसरी और सवाल करने वाली बुद्धि को सम्मो

करते हुए, संदेहों से विश्वास की रक्षा करता है. ***पुष्पितवाक्*** वेदवाद की, या यों कहें कि किसी भी पुस्तकपंथ की पहली विशेषता है.

ख) भोक्तृ-सातत्य : ***'जन्मकर्मफलप्रदाम् ....'***

शास्त्रवाक्, कर्म को अदृष्ट फल का तथा कर्ता को भोगायतन के नवीनीकरण का आश्वासन देता है. इस संसार में कर्म और उसका कर्ता दोनों ही प्रत्यक्ष नश्वर हैं. इनमें सातत्य की मान्यता के बिना, किसी भी नैतिक-धार्मिक व्यवस्था की कल्पना नहीं की जा सकती. अतः शुभाशुभ मूल्यों के रूप में कर्म के सातत्य को, तथा किसी न किसी रूप में कर्ता के सातत्य को सभी धर्मों के शास्त्र स्वीकार करते हैं. भोगों के जीवन की निरन्तरता का आश्वासन —मृत्यु के बाद भी हम रहेंगे, और यदि हम धर्म विधान का पालन करते हैं तो मरने के बाद स्वर्ग में अप्सराओं और हूरों के संसर्ग का सुख प्राप्त कर सकेंगे — अधिकांश धर्म इस आश्वासन के साथ ही संसार में उतरते हैं. वेदवाद को निमित्त बना कर, गीता आस्था के इसी रूप को, उसकी मूल मान्यताओं को विचार का विषय बनाती है.

'जन्मकर्मफलप्रदाम् (जन्म और कर्म के फल को देने वाला) यह पद कर्ता और कर्म में सातत्य की वैदिक(वेदवादी)अवधारणा को परिभाषित करता है. इसमें ***जन्म*** शब्द भोगायतन के सातत्य को, तथा ***'कर्मफल'*** शब्द अपूर्व (मूल्य) रूप में संग्रहीत कर्म सातत्य को बताता है. जन्म का अर्थ है भोग्य कर्म के अनुसार भोगायतन का नवीनीकरण. एक भोगवादी के लिए, आत्मा का तात्त्विक स्वरूप कोई खास मायने नहीं रखता. उसके लिए महत्त्वपूर्ण है कर्म और शरीर-सम्बन्ध का सातत्य, जो आत्मा को कर्ता और भोक्ता बनाता है. यह सातत्य, इसी लोक में पुनर्जन्म के रूप में हो सकता है अथवा स्वर्गादि लोकों में, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता. मुख्य बात है, भोगायतन का नैरन्तर्य, जिसे हिन्दूधर्म जन्म अर्थात् भोगायतन के नवीनीकरण की अवधारणा के द्वारा सुनिश्चित करता है. पुनर्जन्म का सिद्धान्त इसके अन्तर्गत आता है, किन्तु इसका दायरा पुनर्जन्म से बड़ा है. यह शास्त्रवचन ही है जो मृत्यु के बाद भी भोक्ता की निरन्तरता का आश्वासन देता है, अतः गीता में शास्त्रवाक् के लिए ***जन्मप्रदा*** यह विशेषण दिया.

ग) भोग-सातत्य : केवल भोक्ता की निरंतरता का आश्वासन काफी नहीं है. भोक्ता का सातत्य भोगों की निरंतरता के बिना कोई मायने नहीं रखता. दोनों ही अर्थतः अन्योन्याश्रित हैं.

'जन्मकर्मफलप्रदाम्' इस समस्तपद का कर्मफल शब्द न केवल भोगों की निरंतरता के बारे में शास्त्रों के आश्वासन को अभिव्यक्ति देता है, अपितु उस वैदिककर्मकाण्ड की ओर भी संकेत करता है, जो कर्म को भोग रूप में रूपान्तरित करके, इसी जन्म में अथवा जन्मान्तर में उसकी उपलब्धता को सुनिश्चित करता है. वेदों के व्याख्याकारों की ऐसी मान्यता है कि कर्म यदि यथाविधि सम्पादित किए जाएं तो सूक्ष्मफल रूप अपूर्व को उत्पन्न करते हैं, जो कालान्तर में यजमान के लिए लौकिक अथवा अलौकिक(स्वर्गादि) जैसा भी संकल्प हो, अभीष्ट भोगों की प्राप्ति कराते हैं. इस प्रकार वेदवादी-दर्शन, कर्म का अपूर्व में, अपूर्व का फल में संग्रह करते हुए नश्वर कर्म के दूरस्थ फल पर्यन्त सातत्य को सुनिश्चित करता है.

निष्कृष्टार्थ यह कि कर्म का मूल्य रूप में संग्रह और उसके फल को भोगने हेतु कर्ता की निरन्तरता, ये दो मान्यताएं ऐसी हैं, जिनके बिना किसी भी धर्म की, किसी भी नैतिक व्यवस्था की कल्पना नहीं की जा सकती. यह आश्वासन शास्त्रवाक् की दूसरी विशेषता है, जिसका संग्रह ***'जन्मकर्मफलप्रदाम्'*** विशेषण में किया गया है.

घ) तत्तद् भोगों के लिए विशेष कर्मविधान :

उनकी अपेक्षा से आस्था का शाखा प्रशाखाओं में विभाजन : काम्यविषयों की विविधता के अनुरूप शास्त्रवाक् मानव के लिए भोग और ऐश्वर्य की मंज़िलों तक पहुंचाने लिए अनेक प्रकार के कर्मकाण्डों का विधान करती है. कामनाओं के विस्तार और विविधता को ध्यान में रखते हुए, कर्मकाण्ड की बहुलता, यह शास्त्रवाक् की तीसरी विशेषता है (***क्रियाविशेषबहुलाम् भोगैश्वर्यगतिं प्रति***). पुत्रप्राप्ति, धन की प्राप्ति, शत्रु का विनाश, इन्द्रियों की सामर्थ्य, राज्यलाभ और स्वर्ग की प्राप्ति — ये मानव की कुछ सनातन कामनाएं हैं जिनकी पूर्ति के लिए वेदों में विशेष कर्मकाण्डों का विधान मिलता है. जब लौकिक उद्यम से कामनाओं की पूर्ति सम्भव नहीं दिखती, तो व्यक्ति अलौकिक साधनों की ओर मुड़ता है. वैदिक कर्मकाण्ड तो उसका केवल एक रूप है.

कामनातुर व्यक्ति अधिक समय तक प्रतीक्षा नहीं कर सकता. वह वैकल्पिक साधन तलाशने लगता है, और यहां से प्रारम्भ होता है, तन्त्रमन्त्र और गुह्यसाधनाओं से लेकर भूतप्रेत, मजार-पूजन, ग्रहशान्ति के उपाय, झाड़फूंक और जादूटोना पर्यन्त, आस्थाभासों का अन्तहीन सिलसिला. जितनी कामनाएं, उतने ही देवता, उनके अवान्तर भेद, प्रत्येक की शक्तियां, प्रत्येक

के साथ जुड़ी अलग अलग उपासना पद्धतियां — संक्षेप में, आस्था के बिखराव और विघटन का जो असमाहार्य सिलसिला देखने में आता है, उसके मूल में है, कामनाओं की तरलता, अस्थिरता, हर पल कुछ नया पाने की चाह. कामनाओं की निसर्ग चंचलता, शास्त्रों द्वारा उसका आस्था में संग्रह, उस संग्रह के परिणामस्वरूप आस्था का शाखा-प्रशाखाओं में प्राप्त होता विभाजन का अनवरत क्रम — इसी को लक्ष करके कहा है : ***बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्.***

गीता में आस्था के इस बिखराव का कारण माना है, अव्यवसायात्मिका बुद्धि को. बुद्धि में यह अव्यवसायात्मकता कामनाओं से प्राप्त होती है. अस्थिरता कामनाओं का स्वभाव है; उनका संसर्ग पहले बुद्धि को अस्थिर (अव्यवसायात्मक) बनाता है और फिर उसके द्वारा धर्मनिर्णय तक पहुंच कर उसे अस्थिर करते हुए आस्था में विखण्डन की प्रक्रिया को जन्म देता है. अतः अव्यवहितपूर्व होने के कारण, अव्यवसायात्मिका बुद्धि को गीता में आस्था के विघटन का हेतु माना है.

यह विघटन, नए नए आस्था प्रकारों को जन्म देता है. इस प्रकार अव्यवसायात्मिका बुद्धि को विघटन और सृजन की दो अलग अलग भूमिकाओं में देखा जा सकता है. यह कामनाओं की विविधता का अनुसरण करते हुए, उपासना के विविध प्रकारों को जन्म देती है. इनका जन्म, एक ओर पूर्व आस्था के विघटन की परिणति है, तो दूसरी ओर इनमें से प्रत्येक आस्था प्रकार (उपासना पद्धति) स्वयं, अपने अव्यवसायात्मक कामनामूल के कारण, अनास्था और विघटन की संभावना से सतत संक्रमित रहता है और अवान्तर विभाजनों की प्रतीक्षा करता है. इस प्रकार पुस्तकपंथी सम्प्रदायों के रूप में आस्था इकाइयों का सृजन और विघटन, दोनों ही अव्यवसायात्मिका बुद्धि के परिणाम है.

४.३. वेदवाद, पुस्तकपंथ का उपलक्षण :

तन्मुखेन सभी पुस्तकपंथ गीता की आलोच्य कोटि में : वेद हिन्दुओं का मौलिक शास्त्र है. गीता जब वैदिक धर्म को वेदवाद कह कर उसके कतिपय पक्षों को समीक्षा का विषय बनाती है तो यह मुख्यतया कर्मकाण्डपरायण वैदिकधर्म की एवं तन्मुखेन हिन्दूधर्म की समीक्षा है, जो वैदिक कर्मकाण्ड में विश्वास करता है. किन्तु जिन वैचारिक और मनोवैज्ञानिक आधारों पर गीता वेदवाद की आलोचना करती है, उन्हें वेदवादी आस्था में ही नहीं, सभी विधिपरायण धर्मों में देखा जा

सकता है. वेदवाद यहां उपलक्षण बन जाता है उन सभी धर्मों का जो शास्त्र को धर्म का परमार्थ मानते हैं, जो मृत्योपरान्त स्वर्गसुख का आश्वासन देते हैं, और इस आश्वासन के समर्थन में अपने अपने शास्त्रों का प्रमाण देते हैं. उनके शास्त्र भले ही अलग हों, उन सभी की आस्था की संरचना एक जैसी ही होती है.

सुखवादी आदर्श, शास्त्र विधान, उस शास्त्रविधान पर टिके लोकोत्तर जीवन, लोकोत्तर सुख, उस सुख के साधनभूत अपूर्व कर्म और कर्म की अपूर्व सामर्थ्य का विश्वास — ये मान्यताएं सभी पुस्तकपंथों का सामान्य उपस्कर हैं. अतः वेदवाद को निमित्त बना कर गीता जब संहिताबद्ध आस्था की समीक्षा करती है तो हिन्दूधर्म और उसके विविध सम्प्रदाय ही नहीं, यहूदी, ईसाई और मुस्लिम आदि पुस्तकपंथ भी उसकी समीक्षार्ह कोटि में आ जाते हैं. गीता की यह निर्मम दृष्टि, जो बिना किसी अपवाद के, बिना किसी भेदभाव के, सभी पुस्तकपंथों के पार्यन्तिक दावों को खारिज करती है, धर्मदर्शन के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी योगदान है.

संसार में अशान्ति, संघर्ष और अविश्वास का एक प्रमुख कारण रहा है, कतिपय धर्मावलंबियों का यह आग्रह कि उनका धर्मशास्त्र ही एक मात्र प्रामाणिक शास्त्र है. जब वे तर्क से इसकी स्थापना नहीं कर पाते तो कभी तलवार के बल पर तो कभी धन की ताकत से इसकी स्थापना के लिए निकल पड़ते हैं. गीता का विश्लेषण यह दिखाता है कि सभी धर्मशास्त्र, अपने वैचारिक और मनोवैज्ञानिक उपादानों में एक जैसे हैं. उनमें अद्भुद् समानता है.

सभी पुस्तकपंथ, मानव की भोग तथा ऐश्वर्य की आदिम लिप्सा का दोहन करते हुए, उसके लिए आस्था का एक स्वर्गपरायण विधान प्रस्तुत करते हैं. उनकी यह अद्भुद् समानता ही उनमें से प्रत्येक के अत्यन्तिक दावों को खरिज करने के लिए काफी है. श्रीमद्भगवद्गीता की इस अनन्य अन्तर्दृष्टि का आज तक यदि ठीक से मूल्यांकन नहीं हो पाया है तो इसलिए कि पुस्तक को छोड़ कर धर्म की बात करना हिन्दुओं के लिए भी उतना ही अटपटा लगता है जितना एक ईसाई या मुसलमान के लिए. लेकिन इससे गीता के इस निष्कर्ष में कोई अन्तर नहीं आता कि धर्म का सार्वभौमिक परमार्थ पुस्तक-निरपेक्ष है.

५. *वेदवाद,* हिन्दूधर्म का आधारभूत सन्दर्भ :

वेदवादोपलक्षित आस्था के सामान्य लक्षणों को, कहीं पैने और कहीं अपेक्षाकृत शिथिल तेवरों के साथ, संसार के तत्तद् पुस्तकपंथें में सहज देखा जा सकता है. किन्तु गीता में वेदवाद को निमित्त बना कर की गई समीक्षा का अन्तरंग सन्दर्भ तो हिन्दूधर्म ही है. शाखा-प्रशाखाओं में विभाजन के अन्तहीन सिलसिले के बीच, हिन्दूआस्था के बिखराव का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए, उसमें एकीभाव के उद्धार की राह तलाशना, उस तात्त्विक आधार को ढूंड़ना, जो समस्त बिखरावों से परे, हिन्दू-आस्था को एकीभाव में प्रतिष्ठित कर सके — यही गीता में वेदवाद की समीक्षा का मुख्य प्रयोजन है.

५.१. वैदिक-वाङ्मय को सर्वस्वीकार्य विधान में रूपान्तरित करने का एक प्रयोग जो सफल नहीं हो सका :

वैदिक कर्मकाण्ड हिन्दू-आस्था के विकास का एक महत्त्वपूर्ण मोड़ था, उसे एक विधान में रूपान्तरित करके, हिन्दू आस्था को एक केन्द्रीय अनुशासन के अन्तर्गत लाने का यह प्रथम प्रथम प्रयोग, जो बहुआयामी वैदिक वाङ्मय के असमानुपाती, अपर्याप्त व्याख्या परिकल्प के कारण अपेक्षित सफलता प्राप्त नहीं कर सका. वेदों को जातीय और धार्मिक अनुशासन के निर्विकल्प विधान के रूप में प्रतिष्ठित नहीं किया जा सका, क्योंकि वेद केवल विधान नहीं थे, तौरात, एंजील, बाइबिल और कुरान शरीफ़ की तरह. इन धर्मविधानों के सीधे और एक आयामी कलेवर से सर्वथा भिन्न, वेद मानव के प्रगैतिहासिक अतीत को छूता एक बहुआयामी वाङ्मय हैं, जिसमें इतिहास, यांत्रिकी, गणित, औषधिविज्ञान जैसी लौकिक विद्याओं से ले कर, धर्मशास्त्र, कर्मकाण्ड, उपासना, योग मन्त्रशास्त्र, सृष्टिविज्ञान तथा उपनिषदों के रूप में तत्त्वमीमांसा जैसे विविध विषयों पर विचार किया गया है.

अपने विस्तार में वेद एक बहुत्ववादी सम्भावनाओं का शास्त्र है, अनेकतलीय और बहुआयामी. यह एक ऐसा वाङ्मय है जिसमें एक साथ, अनेकानेक समानान्तर धर्मपर्यायों को देखा और तलाशा जा सकता है. इसमें आश्चर्य नहीं कि हिन्दुओं के लगभग सभी सम्प्रदाय अपने को वेदप्रतिपाद्य मानते हैं; इतना ही नहीं, उनमें से प्रत्येक अपने को एक मात्र प्रामाणिक वेदार्थ के रूप में प्रस्तुत करता है. इस दृष्टि से वेदार्थ की सभी साम्प्रदायिक प्रस्तुतियां वेदप्रमाण भी

हैं, साथ ही वेदार्थ का एकपक्षीय निर्धारण होने के कारण उसके बहुत्ववादी स्वरूप के मिथ्याकरण की परम्परा अंग भी.

वैदिक वाङ्मय को जो विधान में रूपान्तरित करना चाहते थे, उन विचारकों ने सर्वप्रथम वेदों के व्याख्यान की एक सैद्धान्तिकी विकसित की, जो कालान्तर में मीमांसा शास्त्र के नाम से प्रसिद्ध हुई. उनकी मान्यता थी कि वेदों में जो कर्म का विधान करने वाले अंश हैं वे ही सार्थक हैं, बाकी सब निरर्थक है, या वह विधि से सम्बद्ध हो कर ही सार्थक हो सकता है(*आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानार्थक्यमतदर्थनात्*). वैदिक वाङ्मय के बड़े हिस्से को निरर्थक की कोटि में डाल कर, फिर कर्मसम्बन्ध से उसका उद्धार करते हुए जो वेदों का विधान में रूपान्तरण हुआ, वह अपने उत्कर्ष के वैदिक युग में भी सर्वस्वीकार्य नहीं हो सका, और अपनी संकुचित मान्यताओं के संकोच का अनुसरण करते हुए, अन्ततः एक कर्मकाण्डपरायण वैदिक-सम्प्रदाय (वेदवाद) में सिमट हो कर रह गया. यह एक महत्त्वाकांक्षी प्रयोग था, वेद को जातीय और धार्मिक अनुशासन के निर्विकल्प विधान के रूप में प्रतिष्ठित करने का, जो सफल नहीं हो सका.

५.२. असफलता के दो फलितार्थ :
(१) केन्द्रीय अनुशासन के अभाव में आस्था के विघटन की अनिर्बन्ध प्रक्रिया, तथा
(२) पुस्तकीय अनुशासन से परे, आस्था में एकीभाव के परा-पुस्तकीय आधारों का अनुसंधान

यह एक धर्मानुशासन की विफलता थी, जिसने आस्था में नए सिरे से वैमत्य और बहुत्ववाद की वापसी का पथ प्रशस्त किया, पहले वैदिक आधारों में, बाद में अवैदिक आधारों में. वैमत्य का संग्रह एक सर्जनात्मक प्रक्रिया को जन्म देता है, और इसके साथ चल पड़ता है आस्था में प्रयोग, विखण्डन, सृजन और बिखराव का, कभी न थमने वाला सिलसिला, उन्मुक्त और अनिर्बन्ध. स्वयं कर्मकाण्ड-केन्द्रित धर्म ने वैदिक वाङ्मय में भेद दृष्टि का आधान करते हुए, वेदार्थ की वैकल्पिक व्याख्या-पद्धतियों के आधार पर वैकल्पिक आस्था पर्यायों का पथ प्रशस्त किया.

यह कर्मकाण्ड-परायण वैदिक धर्म ही है जिसके विरुद्ध अनेकानेक वैदिक और अवैदिक सम्प्रदाय अपने सिद्धान्तपथ को परिभाषित करते हैं. यह संहिताबद्ध धर्म के अनुपसंहारी अनुशासन का पहला प्रभाव था. लेकिन इसका दूसरा परिणाम कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण था. संहिताबद्ध अनुशासन

की अपर्याप्तता के बोध ने आस्था में एकीभाव के परापुस्तकीय, तात्त्विक आधारों के अनुसंधान को जन्म दिया.

वेदवाद की इन द्विधा परिणतियों से आस्था की एक अभूतपूर्व विधा का आविर्भाव होता है, जो दो सर्वथा भिन्न आयामों में विकसित होती है; एक ओर प्रभावी केन्द्रीय विधान के अभाव में नए नए आस्था पर्यायों का असमाहार्य विस्तार, और दूसरी ओर, पुस्तकीय अनुशासन या अनुशासनों से परे, उनके द्वारा बिखेरे बिखरावों से अविचलित, आस्था में एकीभाव के परा-पुस्तकीय तात्त्विक आधार का अनुसंधान. आस्था के इन दोनों ही आयामों का तार्किक प्रस्थान बिन्दु है, वैदिक कर्मकाण्ड. इन द्विधा आयामों में साकार होते, वैदिक और अवैदिक दोनों को अपने में समेंटते, शास्त्र और उसमें वैमत्य का संग्रह करते, जिस द्वन्द्वात्मक आस्था परिकल्प का आविर्भाव होता है, वह एकआयामी पुस्तकपंथें से भिन्न, अद्वितीय हिन्दू-यथार्थ है. गीता की वेदवाद की समीक्षा इस द्वन्द्वात्मक आस्था परिकल्प का बीज है, जो अपने क्रम में हिन्दूयथार्थ के अध्ययन का एक सम्पूर्ण मानचित्र उपलब्ध कराती है. हिन्दूधर्म के रहस्य को समझने का इससे अच्छा कोई तरीका नहीं हो सकता, यह बात गीता में '**वेदवाद समीक्षा**' के क्रम में आए सूत्रों के विवरण से सहज स्पष्ट हो जाती है.

६. *'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्'* :
हिन्दूधर्म के बिखराव पर विचार के योग्य, एक गंभीर टिप्पणी :

केन्द्रीय अनुशासन के अभाव में, हिन्दूधर्म आस्था के बहुआयामी विभाजन और बिखराव का अभूतपूर्व दृश्य प्रस्तुत करता है. गीता के ***'बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्,'*** इस सूत्र के रहस्य को पूरी तरह समझने के लिए हिन्दूधर्म से बेहतर कोई उदाहरण नहीं हो सकता.

६.१. गीता में बिखराव का विश्लेषण :

वेदवाद के माध्यम से हिन्दूधर्म में आस्था के विभाजन की प्रक्रिया और उसका बहुदेववादी विस्तार, गीता की निर्मम समीक्षा का विषय बनते हैं. यह समीक्षा इतनी आधारभूत है कि गीता के आस्थावान् व्याख्याकार इस स्थल की व्याख्या को लेकर खासी उलझन महसूस करते हैं, और इसकी धार को हलका करने के लिए तरह तरह के स्पष्टीकरण देना जरूरी समझते हैं. इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं. पुस्तकपंथ आत्मनिरीक्षणपराङ्मुख होता है. आत्मसमीक्षा पुस्तकपंथी

हिन्दू के लिए भी उतनी ही मुश्किल है जितनी मुस्लिम और ईसाई धर्मावलंबियों के लिए. गीता की भाषा में ये सभी धर्म अप्रबुद्ध (**अविपश्चिद्**) जनों के धर्म हैं.

प्रबुद्धजन का धर्म इससे विलक्षण है. वह आत्मनिरीक्षण से भागता नहीं है. अपनी आस्था के स्वरूप का विश्लेषण करना, उसकी दुर्बल गांठों को देखना, अपने धर्मग्रन्थ और उसकी मान्यताओं के बारे में सवाल करना, यह अधर्म नहीं, कुफ्र नहीं, जाग्रत आस्था का लक्षण है. पुस्तकपंथ की समीक्षा आस्था के परापुस्तकीय परमार्थ में प्रवेश का द्वार है. किन्तु इसमें प्रवेश की पहली शर्त है, अपनी आस्था को, जैसी वह है, बिना किसी लगाव के, बिना किसी मोह के, खुल कर देखने की सामर्थ्य.

६.२. बिखराव के हिन्दू परिदृश्य का विहंगावलोकन : एक महात्माजी ने हिन्दू आस्था में बिखराव की त्रासदी को इन शब्दों में जीवन्त किया है :

''दुनियां में सबसे अधिक धार्मिक, भजन- चिन्तन करनेवाला, पूजा-पाठ करनेवाला हिन्दू ही है; परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि धर्म के प्रति इतना आस्थावान् हिन्दू जीवन के अन्तिम समय तक यह निश्चय ही नहीं कर पाता कि हमारा इष्ट कौन है? हम किसकी पूजा करके कल्याण को प्राप्त हो सकते हैं? इसके मूल में देखा जाय तो बहुदेववाद का प्रचार ही एकनिष्ठ होने में सबसे अधिक बाधक सिद्ध होता है. एक ही परिवार के दस सदस्य हैं तो सबके देवता अलग-अलग हैं. कोई हनुमान का भक्त है तो कोई शिव का, कोई देवी का, कोई किसी अन्य देवता का. अपने-अपने देवी देवताओं के लिए लोग एक-दूसरे से झगड़ा भी करते देखे जाते हैं. किसी को यह मालूम नहीं है कि शाश्वत कौन है? किसकी उपासना से शाश्वत धाम की प्राप्ति होगी? अनेक देवी-देवता हमारे मन में इस प्रकार समा गये हैं कि अन्त समय तक हम किसी पर विश्वास ही नहीं टिका पाते. मृत्यु के समय जब लड़के आस-पास खड़े होकर कहते हैं कि दादा अब चिंता त्यागकर भगवान का स्मरण कीजिए, तो दादा एक झटके से कह गुजरते हैं - हे हनुमानजी, हे दुर्गाजी, हे शीतला माई, हे विन्ध्यवासिनी देवी, हे मैहर वाली माता, हे हरसू ब्रह्म बाबा, हे शङ्कर जी अर्थात् औसतन पचीस-तीस नामों का एक साथ स्मरण करने लगते हैं. इस तरह भ्रान्ति अन्त तक बनी रहती है, तो भला ''एक मन्दिर दस देवता क्योंकर बसे बजार?'' हृदय एक मन्दिर है जो एक परमात्मा को अपने अन्दर स्थान दे सकता है, उसमें अनेक लोगों को स्थान नहीं दिया जा सकता. ''दुविधा

में दोऊ गये, माया मिली न राम." अतः हृदय-देश में किसी एक को बैठाना ही उचित होगा. (भजन किसका करें - पृ. ५; स्वामी अड़गड़ानन्द)

६.३. समस्या की विकरालता :

उसे बिना समझे सतही समाधानों की भरमार : प्रश्न यह है कि एक बहुदेव पूजक, कैसे एक को अपने हृदय-देश में बैठाए, कैसे उन बहुतों को, जिन्हें कल तक वह पूजता रहा है, मनमंदिर से निष्काषित करे. हिन्दूओं की धर्म-व्यवस्था, अनुशासन के लिए, मूर्तिभंजन और "ईमान या मौत" जैसे बर्बराचार का अनुमोदन नहीं करती. एक हिन्दू को यह निर्णय अपने ही विवेक से करना होता है और यह काम आसान नहीं है. यह उस तरह नहीं, जैसा कि कुछ उपदेशक कहते सुने जाते हैं कि "पत्तल पर हर तरह के भोज्य पदार्थ परोसे हुए हैं, खाने वाला कहां से शुरू करे, क्या खाए और क्या छोड़े, यह उसकी मर्जी की बात है. इसमें कोई नियम नहीं हो सकता". जो उपास्य के चुनाव की समस्या को, पसंद के व्यंजन के चुनाव की समस्या से अधिक नहीं मानते, उनके बारे में इतना ही कह सकते हैं कि उन्होंने समस्या की गंभीरता को समझने की कोशिश नहीं की है.

एक बहुदेवोपासक के लिए एक उपास्य का चुनाव करना, उस एक की ही मन मंदिर प्रतिष्ठा करना, आमूल झकझोर देने वाला, सम्पूर्ण विवेक और सामर्थ्य की अजमाइश करने वाला, उसके जीवन का सर्वाधिक क्रूर, सर्वाधिक कष्टप्रद निर्णय हो सकता है. जिस जगदम्बा के सामने कल तक, रो रो कर अपने कष्टों का भावप्रवण निवेदन किया करते थे, जिस गणपति बप्पा को लड्डुओं का भोग लगा कर अपनी मनोकामनाओं की पूर्ति की प्रार्थना करते थे, जिस लक्ष्मी से धन मांगा था, जिस सरस्वती से विद्या के लिए प्रार्थना करते थे, जिन पवनसुत हनुमान से शत्रुओं का विनाश मांगा था, उन सब से कैसे कह दें कि अब जाओ, हमें तुम्हारी जरूरत नहीं; इससे बड़ी कृतघ्नता क्या होगी; कैसे उन्हें नकार दें, जैसे वे कभी थे ही नहीं. समस्या के भयावह मनोवैज्ञानिक विस्तार हैं जिन्हें ठीक से समझे बिना आस्था के एकीभाव का उपाय नहीं किया जा सकता.

"अतः हृदय-देश में किसी एक को बैठाना ही उचित होगा", यह कह देना भर काफी नहीं है. यदि मन में बिखराव के उपादान मौजूद हैं तो एक में भी भीतर से ही बिखराव आ जाएगा. एक श्री कृष्ण को उपास्य मानने पर भी यह समस्या बनी रहती है कि *हृदय-देश* में बालकृष्ण

को बैठाएं या बांके बिहारी को, रणछोर को या द्वारिकाधीश को या राधावल्लभ को या बहिन सुभद्रा और बलराम जी के साथ विराजमान जगन्नाथ प्रभु को. शिव के बारह ज्योतिर्लिंग हैं; हृदय-देश में किसे पधराएं. इसी प्रकार, देवी, गणपति हनुमान, भैरव आदि देवताओं में से प्रत्येक के, उपासना भेद से अलग अलग विग्रह हैं. जब तक उपयुक्त साधना के द्वारा बिखराव की मनोवैज्ञानिक सामग्री का क्षरण नहीं होता, मन अधिक समय तक एक में टिक नहीं सकता, और यदि वह एक साकार विग्रह है तो विद्यमान विभेदक सामग्री के कारण, उस एक में ही देर सवेर, अन्तः विभाजन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाएगी.

एक उपास्य की आराधना की बात में कुछ भी गलत नहीं है. वास्तविकता यह है कि प्रत्येक हिन्दू आचार्य ने किसी एक उपास्य को ही लक्ष्य करके, आराधना का उपदेश किया है. चैतन्यमहाप्रभु और आचार्यवल्लभ ***'एको देवः देवकीपुत्र एव'*,*'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्'***, इन सूत्रों को सामने रखते हुए श्रीकृष्ण की अनन्य भक्ति की प्रतिष्ठा करते हैं, तो सन्त रामानन्द और गोस्वामी तुलसीदास भगवान् राम को अनन्य उपास्य के रूप में प्रतिष्ठित करने के पक्षधर हैं. दक्षिण भारत और कश्मीर के शैव उपासकों के लिए भगवान् शिव एक मात्र उपास्य हैं तो रामकृष्ण परमहंस की उपास्य हैं मां काली. प्रत्येक आचार्य के साथ एक ही उपास्य है, और हिन्दू है कि हर आचार्य को, हर आचार्य के एकमात्र उपास्य को अपनी आस्था में स्वीकार करता चलता है. इस प्रकार एक की, हर एक प्रतिष्ठा, हिन्दू उपासना के बहुत्व को, उसके बिखराव को समृद्ध करती चलती है. किसी एक आराध्य को चुन कर, कुछ अनुयायियों को उसी एक की अनन्योपासना में दीक्षित करके, हिन्दुओं के बीच एक सम्प्रदाय का निर्माण तो किया जा सकता है, किन्तु हिन्दूसमाज का बहुत्ववादी बिखराव से उद्धार नहीं किया जा सकता.

६.४. गीता का निर्णय :

आस्था में एकीभाव की सिद्धि के लिए योग का उपदेश :

'केवल एक की ही उपासना करो' यह कहने भर से आस्था को एकीभाव में प्रतिष्ठित नहीं किया जा सकता. इसके लिए, बिखराव-तंत्र के सूक्ष्म, मनोवैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर, गीता एक विशेष प्रकार की साधना का, योग का उपदेश करती है. योग की सहायता से, अनन्त बिखरावों के बीच, व्यक्ति आस्था के अविचल, एकीभाव की सिद्धि कर लेता है. गीता के अनुसार,

बिखराव का मूल है, व्यक्ति की असमाहार्य कामनाएं. कामनाओं के निराकरण के द्वारा एकीभाव की साधना का नाम है योग. श्रीमद्भगवद्गीता का उपदेश, केवल अर्जुन के बिखराव को नहीं, आस्था के हर बिखराव को सम्बोधित है. परम करुणामय प्रभु श्री कृष्ण ने हिन्दूआस्था की दुस्तर त्रासदी से विगलित हो कर, गीता के माध्यम से कर्म, ज्ञान, ध्यान और भक्ति के रूपों में योग की उन विधाओं का उपदेश किया है, जिनकी सहायता से, बिखराव के कामनोपादान का क्षरण, अन्तःकरण की शुद्धि, और बहुदेवोपासना के अनन्त बिखरावों के बीच, एकीभाव में आस्था के उद्धार को सम्भव बनाया जा सकता है.

गीता में योग के उपदेश की इस महत्त्वपूर्ण भूमिका का समुचित मूल्यांकन अभी तक नहीं हो सका है तो इसलिए कि गीता को उसके हिन्दू-संदर्भों में देखने समझने के कभी गंभीर प्रयास हुए ही नहीं. कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग पर उच्चकोटि के पाण्डित्यपूर्ण प्रवचन, निराकांक्ष और सन्दर्भपराङ्मुख, आज भी सुनने को मिल जाते हैं. किन्तु आस्था की, विशेष कर हिन्दू-आस्था की जिस विषम समस्या को ध्यान में रख कर, गीता में योग की विधाओं का निर्वचन हुआ है, उसकी दूर दूर तक कोई चेतना इन पाण्डित्यपूर्ण प्रवचनों में देखने को नहीं मिलती. योग हिन्दूधर्म का अंतरंग तत्त्व है, अनन्त बिखरावों के बीच उसके एकीभाव का मर्म. बहुत्ववादी बिखराव से योग आस्था का उद्धार किस प्रकार करता है, इसे अनुपद श्लोक की व्याख्या में स्पष्ट किया गया है.

■ ■ ■

द्वितीय एककः {ग}

(एकीभाव : पुस्तकीय और अपुस्तकीय)

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।।४४।।

(भोग और ऐश्वर्य में आसक्त जिनके अन्तःकरण शास्त्रवाणी से दिग्भ्रान्त हैं, उनकी व्यवसायात्मिका बुद्धि समाधि में पर्यवसित नहीं होती.)

१. **'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन' इति लक्षणनिर्वचनानन्तरं, प्रकृतः श्लोकः व्याकरोति प्रामाणिकं व्यवहारं व्यवसायात्मकतायाः। विक्षेपैरप्रतिहता व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाध्युपलक्षितैकीभावे व्युत्थानं लभते। अयमेव प्रामाणिको व्यवहारः पर्यवसितार्थोऽपि व्यवसायात्मकतायाः। विक्षेपस्त्वत्र अव्यवसायात्मकबुद्धिप्रपञ्चः। तस्य तार्किकपरिणतेः वेदवादोपलक्षित-शास्त्रनिष्ठैकीभावस्य सोपस्करं संग्रहं कुर्वन्, प्रवर्ततेऽत्र साधना-मूलकैकीभावस्य विचारः।**

२. **एवं प्राप्यतेऽस्मिन् श्लोके भिन्नमनोभूमयोः एकीभावस्य द्विधा परिणतयोः व्युत्थानस्य परिस्थिति-साधना-साधनाक्रमफलस्य पिण्डिताभिव्यक्तिः एकस्मिन्नेव सुसम्भृते निबंधे। श्लोकस्य पूर्वार्धस्त्वनुवादः अव्यवसायात्मकप्रपञ्चविक्षेपस्य, वक्ष्यमाणव्यवसायात्मकताया निरूपणाय। उत्तरार्धो हि द्वयोः वाक्ययोः संसृष्टिः। व्याकृत्यायं श्लोकार्थः – भोगैश्वर्यासक्तेषु तत्प्रशस्ति-परायणशास्त्रवाण्यापहृतचित्तेषु न जायते 'व्यवसायात्मिका बुद्धिः'। योगोपयुक्ता मनोभूमिःसा।**

तस्या अभावे साधनाया:,साधनाजन्यसमाध्युपलक्षितैकीभावस्याप्यनुपपत्तिरिति शब्दोत्थितार्थ:। अयं हि भावार्थ: – कामनाप्रसक्तविक्षेपेभ्योऽन्त:करणस्य शुद्धिर्हि व्यवसायात्मकमनोभूमेरौत्पत्तिक: समय:। समयस्यास्य पूर्त्यादनन्तरं अप्रतिहता व्यवसायात्मिका बुद्धि: योगद्वारा समाधिर्हि लक्षणं यस्य तमेकीभावं प्राप्नोति। नायं सहज- बोधगम्य: श्लोक:। सम्यगवगतये विशेषव्याख्यामर्हत्ययम्।

३. जीवनादर्शमधिकृत्य मानसिकताया द्वौ प्रकारौ परमार्थ-प्रतीयमाननिष्ठौ । दृष्टप्रपञ्चात्परं तत्रानुस्यूतश्च कोऽपि परमार्थ: इति मान्यतानिबद्धो हि प्रथम: प्रकार:। भोगवैविध्यसमृद्धदृश्यप्रपञ्च एव परमार्थ: न किमपि तदतिरिक्तं (नान्यदस्तीतिवादिन:) इति विचारपरिवेशो हि द्वितीय: प्रकार:। मानसिकताप्रकाराविमौ बुद्धे: व्यवसायात्मिका- व्यवसायात्मिके'ति पारिभाषिकशब्दाभ्यां व्यज्येते गीतायाम्।

४. *'भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसां व्यवसायात्मिका बुद्धि: समाधौ न विधीयते'* इत्यत्र उपादाननियामकयो: संग्रहेण निर्दिश्यते प्रक्रिया शास्त्रनिष्ठास्थाया: आविर्भावस्य । भोगैश्वर्य-परिग्रहे जनानां सहजा आसक्ति:, तस्या: उपादानभूतत्वात्तयो:। प्राकृतोपादनस्यास्य संग्रहं कुर्वन्, साधनत्वेन विहितकर्मोपचारेण तस्मिन्नैतिक-धार्मिकमूल्यानामाधानं विदधन् मनोहराणि शास्त्रवचनानि विरचयन्त्यव्यवसायात्मिकायां बुद्धिभूम्यां विधिरूपमेकीभावं, आस्थाया: शास्त्रनिष्ठरूपम्।

४.१ उभयोर्बुद्ध्योर्मध्ये भोगैश्वर्ययो: कामना हि सामान्योऽस्थिरताकारक: पदार्थ:। वैविध्यं हि भोगसर्वस्वं, एकरसताया भोगस्य परिपन्थित्वात्। विविधानां भोग्यसंवेदनानां संग्रहोऽपेक्षते समानुपातिकं साधनसाम्राज्यमैश्वर्यापरपर्यायम्। इयं सापेक्षता भोगानां वैविध्यमार्गणजन्यास्थिरतायां निवेशयत्यनिश्चयात्मकताया एकोऽपर आयाम:। एवं भोगैश्वर्यासक्ति: बुध्यां, भवतु व्यवसायाात्मिकाव्यवसायात्मिका वा, आधानं करोति विखण्डन-व्यस्तताबीजस्य ।

४.२ बुद्धिभेदात्प्राप्येते एकीभावस्य द्वे निष्ठे, शास्त्रनिष्ठा साधनानिष्ठा (योगनिष्ठा) च। परमार्थप्रतीयमानपरायणमानसिकपरिवेशयो:कामनाजनितविखण्डनविरूद्धैकीभावा- भिसरणाज्जायते धर्मवृत्ते: द्वे प्रकारे । स्व-भावे प्रतिष्ठापर्यायत्वादेकीभावो हि आस्थाया: स्वरूपलक्षणम्। यत: कामना हि विखण्डनस्य मौलिकमुपादानं तत्प्रतियोगित्वेन द्विधा सम्भाव्यते एकीभावस्योपलब्धि:, आस्थायां कामनानां मर्यादितसंग्रहणेन, क्रमिकापलापेन च।

प्रतीयमानपरायणाव्यवसायात्मिकाबुद्ध्यां कामनानां मर्यादित-संग्रहावधिकं हि एकीभावनिमित्तानुशासनम्। शास्त्रवचनैः सम्पद्यते तत्। एवं शास्त्रप्रतिपन्न- विधिमूलक-कर्मकाण्डपरायणधर्मो भवति आस्थाया एकीभावस्यालम्बनम्। भिन्ना हि एकीभावस्यावगतिः व्यवसायात्मिकायां बुद्ध्याम् । अत्रोपयुक्तसाधनया कामनानां क्रमिकापलापेन (न तु मर्यादित-संग्रहेण) सिद्धिः क्रियते समाध्युपलक्षितैकीभावस्य। एवं व्यवसायात्मकाव्यवसायात्मकमनोभूमौ एकीभावस्य पर्येषणाज्जायेते द्वौ धर्मपर्यायौ, एको विधिमूलकाचारप्रधानोऽपरस्तु साधनामूलको ऽनुसन्धानपरायणः । अयं हि आत्मनिरीक्षणपरायण-स्वानुभवमूलकापुस्तकीयाधार आस्थायाः।

उभाभ्यां भिन्नो हि आस्थायाः तात्त्विकाधारः, एकीभावस्याविचलापरिणामि-भूमित्वात्तत्त्वानुभवस्य । उभाभ्यां पुस्तकीयापुस्तकीयाभ्यां भिन्ना हि आस्थायाः परापुस्तकीया कोटिः, यां प्रति प्रवर्तते गीतायाः आवाहनम् – *'त्रैगुण्यविषयाः वेदाः निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'* इति।

४.३ विधिर्हि एकीभावस्योपपत्ते र्त्वरितं प्रभावशालिनं च साधनम्। अप्रत्याशितपरिणामप्रभवोऽप्ययम्। दुर्बलाभ्यन्तरो हि दण्डभय-पुरस्कार-प्रलोभन- नियोजितैकीभावः, संदेहवादि-प्रश्नानां झंझावातोऽस्य वितानं विशीर्णं करोत्यचिरम्। वैचारिक-मनोवैज्ञानिकाधारस्य दुर्बलत्वात्, विधिमूलकैकीभावः सततमपेक्षते राज्याश्रयं आत्मप्रसाराय सुरक्षायै च। अस्य मौलिकदुर्बलतामेव संकेतयति गीतायाः *भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्, व्यवसायात्मिकाबुद्धिः समाधौ न विधीयते'*, इति वचनात्।

५. एकीभावो नाम अवगतेः। अवगतिर्हि सर्जनात्मको मनोव्यापारः। मनः स्ववृत्यनुसारं वस्तुजगति एकीभावस्यानुसंधानं कुर्वन्नास्ते। घनाच्छन्नाकाशे जनाः पश्यन्ति विविधाः आकृतयः, विकीर्णतारकजालेऽतिदूरे अनुसंदधति रचनाः बहुविधाः। तत्र अतिदूरस्थेषु सम्भवतः सर्वथाऽसम्बद्ध वस्तुषु एकरूपानुदर्शनं हि सर्जनात्मकं मनोव्यापारम्। मनोवृत्तिमनुसरतीदम्। शुद्धे अन्तःकरणे अयमेव मनोव्यापारः पर्यवसति तात्त्विकैकीभावे, अनन्यतायां चोपासनायाः, शुद्धान्तःकरणस्य विचलनोपादनविरहितत्वात्।

५.१ व्यक्तित्वस्याभिनिवेशानुसारं एकीभावस्य साधनायाः ज्ञान-कर्म-योगभक्तिकल्पेषु अन्यतरत्वम्। कर्मकेन्द्रिताचारप्रधानो हि विधिरूपधर्मः। नेदमावश्यकं यत् साधनाधर्मो सदाचारविमुखो भवेदेव, किन्तु साधनायां न केवलं कर्मसंवादेन अनुभवाद्वा अपितु सम्पूर्णव्यक्तित्वस्य

सर्जनात्मकनिवेशात्क्रियते एकीभावस्य सिद्धि:।

५.२ साधनामार्गो (योग:) भजते किमपि विशेषं महत्त्वं हिन्दूधर्मसन्दर्भे। सततविभजन-शीलस्यानन्तशाखाप्रशाखासु विस्तीर्यमाणहिन्दूपरिदृश्यस्य समग्रताया विधेरविषयत्वात्। विखण्डनमूलकामनोपादानस्य क्रमिकक्षरणस्य साधना उद्घाटयति एकीभावस्य सिद्धे: मनोवैज्ञानिकीं पद्धतिं, न केवलं पुस्तकीयानुशासनस्य विकल्पोऽपित्वन्तरङ्गत्वात्, विवेकस्य मानवीय- गरिमायाश्चाविरोधित्वात् पुस्तकीयानुशासनात्प्रशस्यतर: कल्प:। धर्मदर्शनदृशा अस्यानुसंधानं स्थापना चानन्योपलब्धिर्गीताया:।

६. गीतायां ज्ञानकर्मयोगभक्तीति योगपर्यायाणि वस्तुत: आस्थाया एकीभावस्य सिद्धे: प्रणाल्य:। एतेषां संग्रहं कुर्वन् प्रस्तूयतेऽत्रैका सूची साधनाप्रकाराणां येषां प्रयोगं कुर्वन्ति हिन्दूसाधका: आस्थाया एकीभावस्य सिद्धये । अतो हि (१) ज्ञानयोग: (२)कर्मयोग: (३) ध्यानयोग: (४) भक्तियोग: (५) पर्यायाक्षिप्तैकीभाव: (६) इतरभावानुपपत्ति: (७) सर्वत्र इष्टदर्शनम् (८) विभूतियोग: (९) परमात्मन: विराटरूपे विभाजकबहुत्वस्य विसर्जनम्। इमां सूचीमधिकृत्य हिन्दूएकीभावस्य साधनार्हेति गहनमध्ययनम्।

७. साधनया एकीभावस्यानुसंधानो ह्यैका विशुद्ध-हिन्दूधर्मयात्रा।

७.१. श्रीमद्भगवद्गीताया: द्वौ अध्यायौ दशमैकादशौ ईश्वराद्वैतस्य भावरूपसाधनायै समर्पितौ । ज्ञायतेऽनेन बहुदेववादिहिन्दूधर्मस्य कृते एकीभावस्य साधनाया: महत्त्वम्।

७.२. बहुदेवोपासनादारभ्य येन गीतोक्तेन साधनामार्गेण परमार्थे बहुलताया: विसर्जनं न कृतं, येन साधनया एकीभावस्यानुसंधानमकृत्वा केवलं साम्प्रदायिकानुशासनेनैव एकीभाव: स्वीकृत:, नानुभूत: तेन रोमाञ्च: हिन्दूधर्मभावस्य।

७.३. एकस्मिन् भावे आलम्बने वा आस्थाया: प्रतिष्ठा हि हिन्दू-अर्थ: एकीभावस्य (तौहीदेति शब्दपर्यायस्य)। अस्य सिद्धिर्भवति शास्त्रवचनेन,योगेन भगवदनुग्रहेणापि वा। किन्तु सर्वेषामास्था एकस्मिन्नेव भावे स्थिरो भवेत्, अथवा तस्मिन्नेव भावे स्थिरो भवेत् 'यस्मिन् अहं स्थित:' इति विधानस्याधिकारो नास्ति कस्यचिद्, पैगम्बरस्यावतारिपुरुषस्यापि नास्ति। स्वतंत्रानन्यनियोजिताभ्यन्तर- स्वीकृतिर्हि स्वारस्यमास्थाया:। ये जना: समस्तसमाजाय, देशाय

समस्तमानवजातये वा शास्त्राप्तपुरुषरूपैकस्यैवास्थालम्बनस्य विधानं कुर्वन्ति, ते आस्थायाः प्रामाणिकसीमामतिक्रम्य, तस्या आधारे जातीयसंगठनस्य राजनैतिकाकांक्षायाः निवेशं कुर्वन्ति. अयमतिधर्माचारः व्यक्तेः स्वतंत्रास्थाधिकारवञ्चनत्वान्न केवलं मानवीय-गरिमाविरुद्धः अपितु धर्मस्यापि विपर्यासः। जातीयवर्चस आकांक्षायाः धर्मरूपेण विधानं न केवलं अधर्मः, अपितु घातकरूपेणानैतिकमपि।

७.४. अनवरतविघटनविभाजनयोः सततत्रासदीमनुभवतः हिन्दूधर्मस्योद्धाराय योग एव शरणम्। *'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयादि'*ति, महाभयरूपसंदेहसंक्रमितधर्मसंकटादुद्धाराय सर्वधर्मसामान्यं योगस्याश्वासनम्। किन्तु हिन्दूधर्मस्तु योगस्यौत्पत्तिकः सन्दर्भः। हिन्दूविघटनपरिदृश्येन सह निकटतयान्वितो वर्तते योगस्योद्धारकः कल्पः।

७.५. योगो हि एकः सम्पूर्णमनोवैज्ञानिकोपचारो यः विघटननिमित्तकामनोपादानस्य क्रमिकापलापस्य साधनया कल्पते समर्पणस्य समग्रताम्। अविभाज्यमद्वयनिष्ठं हि सम्पूर्णसमर्पणम्। इयं हि अनुभूता पद्धतिः यया अननादृत्य बहूपास्यपरिदृश्यं हिन्दूसाधकाः एकीभावस्योपासकाश्चानन्यतायाः सिद्धिं कुर्वन्ति।

७.६. प्राचीनहिन्दू-उपासनापद्धत्यां योगस्य सुविचारितः समावेशः द्रष्टुं शक्यते। प्राणायामादेव भवति वैदिकनित्यकर्मणः संध्यायाः समारम्भः। वस्तुतस्तु ध्यानस्य एकाग्रतायाः प्रयोजनेन योगाङ्गत्वेन विग्रहपूजायाः प्रचलनमभवत् हिन्दूनां मध्ये। कालान्तरे मूलप्रयोजनादपाकृता स्थूलात्स्थूलतरा बहूपस्करोपकृता जटिलकर्मकाण्डे पर्यवसितेयम्। गीतायाः 'क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रती'ति कथनं उद्दिशति न केवलं वैदिकं कर्मकाण्डमपितु उपासनायाः सर्वान् कर्मकाण्डपर्यायान् । तेषां विकृतीनां संज्ञान एव प्रवर्तते उद्धारकधर्मस्य योगस्योपदेशः।

७.७. आश्वस्तकरमिदं यद्विघटनविकलहिन्दूधर्मस्य दुर्दशामालक्ष्य हिन्दू-आस्थायां योगस्य पुनरुद्धाराय प्रयत्नरताः सन्ति बहवः साधकमनीषिणः। स्वनामधन्यस्वामिरामकृष्णपरमहंस-स्वामिविवेकानन्द-महर्षि-अरविन्द-स्वामिशिवानन्द-महर्षि-महेश-ओशोरजनीश-स्वामिरामदेवप्रभृति मनीषिभिः महत्त्वपूर्णं कार्यं कृतं वर्तते अस्यां दिशि। विशेषविचाराय प्रवर्तते भाषाविवरणम्।

■

१. श्लोक *'भोगैश्वर्यप्रसक्तानां....'* :

नीचे दिया श्लोक बुद्धि में व्यवसाय और अव्यवसाय की सम्भावनाओं का संग्रह करते हुए उन शर्तों को रेखांकित करता है जिनके पूरा होने पर ही व्यवसायात्मिका बुद्धि समाधिलक्षण एकीभाव में व्युत्थान को प्राप्त कर सकती है :

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ।
व्यवसायात्मिका बुद्धि: समाधौ न विधीयते।।४४।।

भोग और ऐश्वर्य में आसक्त जिनके अन्त:करण शास्त्रवाणी से दिग्भ्रान्त हैं, उनकी व्यवसायात्मिका बुद्धि समाधि में पर्यवसित नहीं होती.

सामान्य अर्थ :

श्लोक का पूर्वार्ध अव्यवसायात्मक प्रपंच का अनुवाद करते हुए उसकी तार्किकपरिणति रूप में शास्त्रनिष्ठा का आक्षेप करता है, जबकि इसका उत्तरार्ध व्यवसायात्मिकाबुद्धि के समाध्युपलक्षित एकीभाव में पर्यवसित होने की परिस्थिति और क्रम को बताता है. श्लोक के उत्तरार्ध को दो प्रकार से समझा जा सकता है, जिनका संग्रह करते हुए श्लोक के दो व्याख्या विकल्प प्राप्त होते हैं :

(१) भोग और ऐश्वर्य में आसक्त, शास्त्रों की आपातरमणीय वाणी से जो दिग्भ्रमित हो चुके हैं, ऐसे लोगों की व्यवसायात्मिकाबुद्धि में समाधि का आविर्भाव नहीं होता. समाधि यहां उपलक्षण है साधना के द्वारा सिद्ध हुए एकीभाव का. तात्पर्य यह कि ऐसे लोगों का बौद्धिक व्यवसाय (व्यवसायात्मिकाबुद्धि) शास्त्रनिष्ठा तक ही सीमित रहता है और कामनाजनित विक्षेपों के कारण अनिश्चय और बिखराव की और बढ़ता रहता है. अत: भोगैश्वर्यप्रसक्त विक्षेपों से अन्त:करण की शुद्धि व्यवसायात्मिका बुद्धि के व्युत्थान की पहली शर्त है. इस शर्त के पूरा होने पर अबाधित व्यवसायात्मिका बुद्धि योग के द्वारा, समाधि जिसका उपलक्षण है ऐसे एकीभाव को प्राप्त कर लेती है.

(२) भोग और ऐश्वर्य में आसक्त, शास्त्रों की आपातरमणीय वाणी से जो दिग्भ्रमित हो चुके हैं, ऐसे लोग व्यवसायात्मिका बुद्धि को प्राप्त नहीं करते, और व्यवसायात्मिका बुद्धि के अभाव में उनमें समाधि का आविर्भाव नहीं होता. यहां व्यवसायात्मिका बुद्धि

से तात्पर्य है परमार्थ बुद्धि. जो लोग प्रतीयमानपरायण हैं, जिनमें परमार्थ बुद्धि नहीं है, ऐसे लोग '**समाधि**' को प्राप्त नहीं करते. '**समाधि**' उपलक्षण है, योग की साधना से प्राप्त एकीभाव का, संक्षेप में योगधर्म का.

यहां '**भोगैश्वयप्रसक्तानां**' यह पद, प्रतीयमान-परायण जनों को बताता है. ऐसे लोग योगधर्म के अधिकारी नहीं होते. परमार्थबुद्धि(व्यवसायात्मिकाबुद्धि) ही योगधर्म का समारम्भ पीठ है, यह भावार्थ हुआ.

ऊपर दिए दोनों ही व्याख्याकल्प, अपने अपने ढंग से योगधर्म में अधिकार को परिभाषित करते हैं. जो भोग और ऐश्वर्य में आसक्त हैं वे योग के अधिकारी नहीं हो सकते. उनके द्वारा योग (ज्ञान, कर्म, ध्यान, और भक्ति) की साधना एक अनधिकृत अध्यवसाय होने से अपेक्षित परिणाम नहीं दे सकती. यहां साम्प्रदायिकों के लिए एक स्पष्ट संदेश है. अधिक कहने की जरूरत नहीं

२. सम्भावनाओं से युक्त एक कठिन व्याख्येय :

अपने अध्याहृत-अर्थ-गर्भित-विशेषणों, अन्तर्गुम्फित-वाक्यविन्यास तथा परिकल्पों के कारण यह श्लोक सहज बोधगम्य नहीं है. साथ ही इसमें संग्रहीत हैं एकीभावगाथा के आधारभूत चिन्तनसूत्र जो इसकी विशेष व्याख्या को अपरिहार्य बनाते हैं.

जीवनादर्शों को ले कर दो प्रकार की मानसिकता देखने में आती हैं. प्रथम प्रकार की मानसिकता यह मान कर चलती है कि दृश्य-प्रपंच की अनन्त विविधताओं के परे, या उनमें अनुस्यूत एक ही परमार्थ है. गीता में इस मानस को "व्यवसायात्मिका बुद्धि" नाम दिया गया है. इससे भिन्न, दूसरे प्रकार की मानसिकता वह है जो दृश्य-प्रपंच को, उसकी विविधताओं और आपातरमणीय भोगों को ही परमार्थ के रूप में प्रतिष्ठित करती है और यह मानती है कि इससे परे कुछ भी नहीं है(नान्यदस्तीतिवादिनः). इसे गीता में **"अव्यवसायात्मिका बुद्धि"** कहा है.

इन अलग अलग बौद्धिक-परिवेशों में एकीभाव के दो भिन्न रूपों की सिद्धि होती है, एक शास्त्रविधान केन्द्रित और दूसरा साधनामूलक. ये आस्था के दो भिन्न प्रकारों को जन्म देते हैं, जिन्हें हम सुविधा के लिए 'पुस्तकीय' और 'अपुस्तकीय' नाम दे सकते हैं. विवेच्य श्लोक की दो पंक्तियां यथोक्त मनोभूमियों का क्रमशः संग्रह करते हुए उनमें एकीभाव के विकास की परिस्थितियों को रेखांकित करती हैं. श्लोक का यह अर्थसंभार निकट विवेचना की अपेक्षा रखता है.

३. *भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम् ...'* : व्याख्या

३.१. पंक्ति के अर्थ का विश्लेषण : *"भोग और ऐश्वर्य में आसक्त, शास्त्रों की मनोहर वाणी से अपहृत हो गई है बुद्धि जिनकी ऐसे लोगों की"*, व्यवसायात्मिकाबुद्धि समाधि में पर्यवसित नहीं होती. यहां विभुग्न वाक्यांश नीचे कही तीन बातों को कहता है :

१. यह कि यहां चर्चा एक ऐसे विषय की हो रही है जो व्यवसायात्मिकाबुद्धि का अवरोधक है. यह विषय "अव्यवसायात्मिकाबुद्धि" ही हो सकता है, यह अर्थ आक्षेपलभ्य है.

२. इस अव्यवसायात्मकता का उपादान है, भोग और ऐश्वर्य में आसक्ति; इसमें विनियोजक निमित्त बनते हैं लुभावने शास्त्रवचन.

३. शास्त्रवचन यथोक्त प्राकृत उपादान को नैतिक-धार्मिक अर्थ देते हुए, विधान के द्वारा उन्हें आस्था के एकीभाव में प्रतिष्ठित करते हैं. यह विधिमूलक एकीभाव की प्राप्ति का क्रम है.

३.२. अव्यवसाय का वस्तुगर्भ : भोग और ऐश्वर्य की लालसा :

दोनों ही बुद्धि-प्रकारों के बीच अनिश्चय को उत्पन्न करने वाला सामान्य पदार्थ है, कामना. यह कामना साध्य रूप में भोगों को और साधन रूप में ऐश्वर्य को परिकल्पित करती है. इनमें भी मौलिक मूल्य है भोग; भोगों के अधिकाधिक साधनों के परिग्रह और उन पर अधिकार का नाम है ऐश्वर्य. भोग का स्वरूप ही यह है कि वह कभी भी एक निष्ठ नहीं हो सकता. भोगों के सुख का रहस्य है विविधता. एकरसता इसकी शत्रु है. मिठाई कितनी भी स्वादिष्ट, क्यों न हो, रोजाना खाई जाए तो वह कुछ ही दिनों में अरुचिकर लगने लगेगी.

जहां समृद्धि है, असीम वैभव है, वहां भोगों में विविधता की तलाश लोगों को अनेक प्रकार की विकृत एवं असामान्य आचरण की अंधेरी अन्तहीन गलियों में ले जाती है. सौन्दर्य को सुन्दर बनाए रखने के लिए, उसे बासी होने से बचाने के लिए फैशन का चलन अब आम बात है. यह फैशन विविधता का, अनिश्चय और अस्थिरता का ही अपरपर्याय है. विविध भोग्य संवेदनाओं का संग्रह, समानुपाती साधन साम्राज्य की अपेक्षा रखता है. भोगों के साधनसाम्राज्य का ही नाम है ऐश्वर्य. इसकी सापेक्षता, भोगों में, उनकी विविधता की तलाश में अनिश्चयात्मकता

का एक और आयाम जोड़ देता है. भोग और ऐश्वर्य की तलाश, बुद्धि में, वह बुद्धि व्यवसायात्मिका हो या अव्यवसायात्मिका, अनिश्चय और बिखराव का आधान करती है.

३.३. मनोभूमि के भेद से एकीभाव के दो कल्प :

शास्त्रनिष्ठ और साधनानिष्ठ : जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, ये दो बोझिल पारिभाषिक शब्द (व्यवसायात्मिकाबुद्धि और अव्यवसायात्मिका बुद्धि), क्रमशः तात्त्विक और प्रतीयमान में परमार्थ बुद्धि के भेद से दो प्रकार के जीवनादर्शों को, तन्निरूपित दो प्रकार के व्यक्तित्वों को बताते हैं. ये दो प्रकार के मानसिक परिवेश है, जिनमें कामनाजनित बिखराव के विरुद्ध, आस्था की तलाश एकीभाव के दो प्रकारों को, अर्थात् दो प्रकार की धर्म-वृत्तियों को जन्म देती है. आस्था शब्द का अर्थ ही है स्थिर रहना, अपने भाव में प्रतिष्ठित रहना. इस दृष्टि से, एकीभाव आस्था का स्वरूप लक्षण है. यतः कामनाएं बिखराव का मौलिक उपादान हैं, इनके सम्बन्ध से एकीभाव को दो प्रकार से सुनिश्चित किया जा सकता है, आस्था में कामनाओं के संग्रह और नियमन के द्वारा, या फिर उनके क्रमिक अपलाप के द्वारा. अव्यवसायात्मिका बुद्धि स्वयं कामनारंजित होती है; अतः उसमें कामनाओं का अपलाप अकल्पनीय है.; अधिक से अधिक, जो उसमें स्वीकार्य हो सकता है वह है कामनाओं का नियमन, उनका सशर्त संग्रह. अव्यवसायात्मिकाबुद्धि के लिए यह कार्य धर्मशास्त्रों के द्वारा सम्पन्न होता है. कामनोपादान का संग्रह और नियमन करते हुए शास्त्र आस्था के एक साकार, आचार-केन्द्रित, व्यवस्थामूलक विग्रह को जन्म देते हैं. यह एकीभाव का शास्त्रनिबद्ध कल्प है, कामनागर्भित और विभजनशील. आस्था का यह रूप जिस बौद्धिक-परिवेश में पल्लवित होता है उसका नाम है *अव्यवसायात्मिका बुद्धि.*

इससे भिन्न, परमार्थनिष्ठ होने से *व्यवसायात्मिका बुद्धि,* कामनाओं के संग्रह और नियमन से नहीं, उनके अतिक्रमण और अपलाप के द्वारा एकीभाव को परिकल्पित करती है. इस एकीभाव की सिद्धि शास्त्र से नहीं साधना से सम्पन्न होती है. योग के द्वारा कामनाओं का क्रमिक अपलाप करते हुए, भोगैश्वर्यविक्षेपनिराकृत-व्यवसायात्मिका बुद्धि में उस अविकल एकीभाव की सिद्धि होती है जिसके परिचय के लिए गीता में *समाधि* शब्द का प्रयोग हुआ है. इस प्रकार व्यवसायात्मक और अव्यवसायात्मक — इन दो मानसिक धरातलों पर एकीभाव की तलाश दो भिन्न धर्मपर्यायों को जन्म देती है : एक विधिमूलक, कर्मकाण्डपरायणधर्म, दूसरा साधनामूलक, धर्म का समाध्युपलक्षित रूप.

३.४. विधिनियोजित एकीभाव : उसका समीक्षार्ह पक्ष :

कुछ हिन्दू सम्प्रदाय या यो कहें संसार के सभी सम्प्रदाय, अपने आस्था के एकीभाव को और उसके द्वारा अनुयायियों की एकता को सुनिश्चित करने के लिए विधि का सहारा लेते हैं. इसके लाभ भी हैं, इससे इन्कार नहीं. विधि के द्वारा बिखराव पर नियंत्रण करके आस्था के एकीभाव को त्वरित एवं अधिक प्रभावशाली ढंग से सुनिश्चित किया जा सकता है. इस्लाम धर्म ने यह करके दिखाया है. किन्तु निकट से देखें तो दण्ड के भय और पुरस्कार के प्रलोभन पर आधारित शास्त्रनियोजित एकीभाव न तो तात्त्विक है और न ही वास्तविक, क्योंकि भय और दबाव के हटते ही सवालों के झंझावात, जोर जबरदस्ती पर टिके एकता के वितान को कभी भी ध्वस्त कर सकते हैं. आस्था की विधिमूलक एकता राज्याश्रय की अपेक्षा रखती है. उसका अपना आधार बहुत दुर्बल होता है. विधिमूलक आस्था की इस अन्तरंग दुर्बलता को ही रेखांकित करता है गीता का यह सूत्र — *भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्, व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते.*

अगर किसी कपड़े के अंचल में बोझ है, आस्था का दामन अगर कामनाओं के बोझ को अपने भीतर संजोए हैं, तो पैबन्द कितना भी मजबूत हो, वह इस बात की गारंटी नहीं हो सकता कि कपड़ा दूसरी जगह से फटेगा नहीं. विधि के द्वारा एकीभाव ऐलोपैथी के इलाज की तरह है, तुरन्त प्रभावी और सशक्त. लेकिन ऐलोपैथी के इलाज की तरह उसके परिणाम अप्रत्याशित एवं नई बीमारियों को जन्म देने वाले हो सकते हैं. हाल ही में एक किताब प्रकाशित हुई है, **'हकपरस्ती बनाम बुतपरस्ती'**. नाम से ऐसा लगता है, यह किताब किसी मुस्लिम विद्वान् द्वारा हिन्दूधर्म की आलोचना में लिखी गई है. लेकिन नहीं; दरअसल इस किताब में मुसलमानों के एक फिरके, देवबंदी फिरके के द्वारा बरेलवी फिरके की आलोचना की गई है. इस्लाम के परिदृश्य का निकट निरीक्षण करें तो उसकी तौहीद के दामन में अनगिनत पैबन्द नजर आएंगे. हिन्दुओं की तो बात ही क्या है. एक ही आचार्य द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदाय अनेकानेक शाखा प्रशाखाओं में बंटते चले गए हैं. यह विधि के द्वारा एकीभाव के प्रवर्तन की दुर्बलता को बताने के लिए काफी है.

इससे पहले कि हम साधनानिष्ठकल्प पर विचार करें, एकीभाव की समस्या के मनोवैज्ञानिक पक्ष पर विचार करना उपयोगी होगा, क्योंकि एकीभाव की साधना वस्तुतः मन की साधना है.

४. एकीभाव का मनोविज्ञान :

एकीभाव स्वरूपावगति का नाम है. यह अवगति सर्जनात्मक मनोव्यापार है. मन, स्वयं अपनी वृत्तियों के अनुसार वस्तुजगत् में एकीभाव का अनुसंधान करता रहता है. आसमान में जब बादल घिर आते हैं तो उन बादलों में, लोग तरह तरह की शक्लें, हाथी, घोड़े, ऊंट आदि देखने लगते हैं. शरद ऋतु में जब साफ आसमान में तारे छिटके होते हैं, तब उनमें लोग भांति भांति की रचनाओं का अनुसंधान करते हैं, उन तारों में जो वास्तव में एक दूसरे से करोड़ों मील दूर, सर्वथा अकेले और परस्पर असम्बद्ध होते हैं. यहां विविधता में एकीभाव सृजन है अनुसंधान है.

एकीभाव का यह स्वभावानुगत अनुसंधान मन की वृत्तियों का अनुसरण करता है. किन्तु अन्तःकरण जब साधना के द्वारा कषायमुक्त हो जाता है, तब शुद्धान्तःकरण स्वयं एकीभाव का अधिष्ठाता बन जाता है. इतना ही नहीं, वह परमार्थ के प्रकाशन का, उसकी साक्षात्कारात्मक अवगति का साधन भी बन जाता है. सभी धर्मों के पैगम्बरों ने, गुरुओं और अवतारी पुरुषों ने शुद्धान्तःकरण में ही परमात्मा का साक्षात्कार किया, और उससे दिव्य मार्गदर्शन प्राप्त किया. योग शुद्धान्तःकरण की सिद्धि का मार्ग है, जिसकी सहायता से कोई भी व्यक्ति, बिना किसी माध्यम के स्वयं अपना उद्धारक बन सकता है.

जहां विधि है, वहां एकीभाव विहिताचार का रूप लेता है, जब कि साधना के मार्ग में यह अनुसंधान और अवगति का विषय होता है. बहुदेववादी हिन्दू के लिए एकीभाव की साधना का चुनाव व्यक्तित्व के विश्लेषण और उसके प्रभावशाली तत्त्व की पहचान के आधार पर होता है. व्यक्तित्व के स्वरूप के अनुसार उसके लिए एकीभाव की साधना, ज्ञान, कर्म, योग (ध्यान) और भक्ति का रूप ले सकती है.

विधि रूप धर्म कर्म-केन्द्रित धर्म होता है. विधान के अनुसार आचरण ही वहां धर्म का अर्थ होता है. साधनारूप में प्राप्त आस्था कर्म विमुख हो यह आवश्यक नहीं, किन्तु उसमें निश्चयात्मक तत्त्व, केवल कर्मसंवाद से नहीं, अनुभव से, सम्पूर्ण व्यक्तित्व के सर्जनात्मक निवेश से प्राप्त होता है.

५. एकीभाव का साधनामूलक-कल्प :

५.१. *'व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते'* की व्याख्या : विवेच्य श्लोक का उत्तरार्ध एकीभाव की साधना के पूर्वकल्प (शर्त) तथा फलितार्थ का सूत्ररूप में संग्रह करता है. इसमें दो वाक्य अन्तर्गुम्फित है. भोग और ऐश्वर्य में आसक्त लोग 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' को प्राप्त नहीं करते, और 'व्यवसायात्मिका बुद्धि' के अभाव में उनमें समाधि (योग की साधना) का आविर्भाव नहीं होता.' इस कथन से नीचे दिए विचारसूत्र प्राप्त होते हैं :

१. व्यवसायात्मिकाबुद्धि, यानी परमार्थबुद्धि, योगधर्म में प्रवेश की पहली शर्त है.

२. श्लोक में प्रयुक्त **'समाधि'** शब्द का अर्थ है, मन का एकीभाव में स्थिर होना. यतः **'समाधि'** योग का फलितार्थ है, इसका उल्लेख योग के द्वारा एकीभाव की समस्त साधना का संग्रह करता है.

३. पुस्तकीय अनुशासन से भिन्न, साधना द्वारा एकीभाव, विहित आचरण का नहीं, अनुसंधान और अवगति का रूप लेता है.

धर्म के सम्बन्ध में प्राथमिक निश्चय, शास्त्र या गुरू के वचनों से प्राप्त हो, या फिर अपने अनुभव से, आस्था का प्राथमिक कल्प, अपनी अविचल प्रतिष्ठा के लिए, उपाय की अपेक्षा रखता है. विधि का अनुशासन, कामनाओं को स्वीकार करते हुए, उनके नियमन के द्वारा एकीभाव को सुनिश्चित करता है जब कि साधना के द्वारा एकीभाव की सिद्धि, विघटन के मूल, कामनोपादान के क्रमिक क्षरण की प्रक्रिया का रूप लेती है. यह आस्था के एकीभाव की साधना है, जिसे गीता में योग नाम दिया गया है. योग का अर्थ है, उपाय या साधन. एकीभाव की सिद्धि के ये उपाय, कर्म, ज्ञान, ध्यान और भक्ति के भेद से चार प्रकार के माने गए हैं.

५.२. बिखरावों के बीच आस्था के एकीभाव की साधना : आस्था के विखराव के मूल में हैं, मनुष्य की कामनाएं. अतः कामनाओं के क्रमिक क्षरण की साधना, पुस्तकीय से भिन्न, आस्था के एकीभाव की मनोवैज्ञानिक पद्धति का उद्घाटन करती है, जो उसके विधिनिरूपित पुस्तकीय अनुशासन का न केवल एक विकल्प है अपितु, अंतरंग होने के कारण, मानवीय विवेक और गरिमा के मूल्यों का अविरोधी होने के कारण, सर्जनात्मक स्वरूप के कारण तथा विरोधों के बीच एकीभाव के अनुसंधान की असाधारण सामर्थ्य के कारण, एक बेहतर विकल्प है. धर्मदर्शन

के सिद्धान्त रूप में इसकी पहचान और स्थापना, गीता की अनन्य उपलब्धि है. यह गीता की ही अन्तर्दृष्टि है जो वैदिक काल से लेकर अधुनातन सम्प्रदायों पर्यन्त, अनन्त बिखरावों के बीच, एकीभाव की हिन्दू साधना के सैद्धान्तिक आधार की पहचान करती है. गीता में ज्ञान, कर्म, ध्यान(योग) और भक्ति के रूप में योग के पर्याय, वस्तुतः कामनामूल के क्षरण के द्वारा आस्था की एकता को सुनिश्चित करने की ही प्रणालियां हैं.

६. हिन्दुओं में एकीभाव की साधना के कुछ रूप :

गीता में ज्ञान कर्म भक्ति और योग(ध्यान) की चर्चा उपदेशकों का प्रिय विषय रहा है. किन्तु उपासना वैविध्य और बिखराव के बीच एकीभाव की हिन्दू साधना के रूप में इनकी भूमिका की तरफ विचारकों का ध्यान कम ही गया है.

६.१. ज्ञानयोग (सांख्य) : उपनिषदों में आत्मा आस्था का केन्द्रीय परिकल्प है, यह समस्त उपासनाओं में अनुस्यूत है, और उन सबका अतिक्रमण करके, उनकी तात्त्विक एकता का आधार है. आत्मा का ज्ञान ही आस्था का परमार्थ है. उसका एकात्मक आधार. मानव के सारे उपक्रम, लौकिक और परालौलिक आत्मनिष्ठ होते हैं, आत्मा के द्वारा और आत्मा के लिए होते हैं. गीता के दूसरे अध्याय में सांख्य के अन्तर्गत आस्था के एकात्मक आधार के रूप में तत्त्वज्ञान की सम्भावनाओं का संग्रह किया गया है. यहां तो इसकी चर्चा केवल विवरण की समग्रता के प्रयोजन से की गई है. प्रसंग तो यहां योग का है.

यहां यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रशस्त कर्म होने से योग को धर्म कहा है. सांख्य (ज्ञान) को धर्म नहीं कहा, क्योंकि वह कर्म नहीं है. धर्म होने के लिए कुछ किया जाना जरूरी है. ज्ञान भी तभी ज्ञानयोग बनता है जब वह शील में रूपान्तरित हो कर एकीभाव के अध्यवसाय का रूप लेता है.

६.२. कर्मयोग : कर्म की विविधता के मूल में है कामनाओं की विविधता. कामनाओं की यह विविधता ही, मानव की लौकिक और धार्मिक प्रवृत्तियों की विविधता का उद्गम है. यह कामनामूल ही है जो लोक में विज्ञान को और धर्म में कर्मकाण्ड को जन्म देता है. विज्ञान और कर्मकाण्ड दोनों ही विभाजनशील उपक्रम हैं. दोनों ही कामनामूल का अनुसरण करते हुए, शाखा-प्रशाखाओं के रूप में विस्तार को प्राप्त होते हैं. ज्ञान में विभाजन की प्रक्रिया का नाम

विज्ञान है, जबकि आस्था में विभाजन भी प्रक्रिया का नाम है कर्मकाण्ड. वस्तुतः कामनाओं के अनुसार अलौकिक कर्म के विज्ञान का ही नाम है कर्मकाण्ड.

गीता चिन्तन में यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण होकर सामने आता है कि क्या कर्म कामना-निरपेक्ष हो सकता है. यदि हां, तो वह कामना-निरपेक्ष हुआ कर्म आस्था के एकात्मक भाव को सुनिश्चित करने का एक सरल, सर्वजनसुलभ साधन हो सकता है. यदि कामनाएं ही आस्था के बिखराव का मूल हैं, तो कामना-निरपेक्ष कर्म, लौकिक हो या धार्मिक, स्वयं में आस्था के एकीभाव को सुनिश्चित करने का साधन बन सकता है. यह कर्म का उपेक्षित पक्ष है, जिसकी तरफ गीता ध्यान आकर्षित करती है. कर्मकाण्ड, जो आस्था के कामनाजनित विभाजन की परिणति है, स्वयं आस्था के एकीभाव में प्रवेश का साधन बन सकता है. सामान्यतया हिन्दूचिन्तन कर्म को बंधन मानता है. कर्म की उन्मोचक भूमिका की पहचान करना, कर्मयोग की साधना के रूप में उसका प्रवर्तन, गीता की अनन्य दृष्टि है. स्वयं हिन्दूधर्म के इतिहास में गीता से पहले कर्मयोग की विशेष चर्चा नहीं मिलती, यद्यपि इसके तत्त्व नित्यकर्म की अवधारणा में अवश्य मिलते हैं.

विचार की बात यह है कि कर्म यदि निष्काम हो रहा है, तो असफलता के कारण हताशा और कामनापूर्ति के वैकल्पिक साधन की तलाश पैदा नहीं होगी, अर्थात् नई आस्था का अनुसंधान और तज्जनित विभाजन की परिस्थिति नहीं बनेगी. केवल समर्पण का भाव ही रहेगा, जो एकात्मकता का आधार है.

इस विषय पर विशेष चर्चा आगे होगी. यहां इतना भर कहना पर्याप्त होगा कि योग, वह किसी भी रूप में हो, आस्था की एकता को सुनिश्चित करने का एक प्रमुख साधना है; कामनाओं के क्षरण से, बहुत्व का क्षरण होता है; उपासना में विकल्प बुद्धि का ह्रास होता है. निष्कामकर्म, कर्मफल में अधिकारभाव का क्रमशः क्षरण करते हुए, समर्पण में, अन्ततः सम्पूर्ण समर्पण में पर्यवसित होता है. यह समर्पण, एक परमात्मा के प्रति हो या बहुत से देवताओं में से एक के प्रति, निराकार के प्रति हो या साकार के प्रति या फिर साकार के किसी विग्रह विशेष के प्रति, हर स्थिति में निष्काम-समर्पण समग्र, अविकल और एकनिष्ठ होता है. आस्था के एकीभाव में कोई अन्तर नहीं आता.

बहुदेववादी भी, उपयुक्त साधना के द्वारा जब एक विग्रह के प्रति समर्पित होता है, तो बहुत से देवताओं की मान्यता भी आस्था के व्यवसायात्मक स्वरूप में कोई विकार उत्पन्न नहीं कर सकती. एक विग्रह के प्रति समर्पित व्यक्ति के लिए बहुत से देवताओं की मान्यता उसी तरह होती है जैसे कोई अपने प्रिय के साथ बहुत सी तस्वीरों से सजे कमरे में बैठा हो. अन्य देवी देवता, समर्पित उपासक के लिए केवल उपकारक विभाव बन कर रह जाते हैं. समर्पण में अन्तर्निहित है आस्था के एकीभाव का रहस्य, और समर्पण की आधारभूत शर्त है कामनाओं का विसर्जन. जब तक कामनाएं हैं, तब तक स्वार्थ की पूजी सुरक्षित है; 'कामनाएं' व्यक्ति का अत्यक्त अधिकार है, एक ऐसी पूंजी जिसे वह छोड़ना नहीं चाहता, जिसमें अधिकारभाव उसके त्याग को सशर्त बनाता है. 'मैं अमुक व्रत ले रहा हूं" 'अमुक सुखों का त्याग कर रहा हूं", ताकि मेरी मेरी अमुक कामना पूरी हो'. त्याग का यह सशर्त रूप है, जो समर्पण को अधूरा बनाए रखता है. **कामनाओं के समर्पण के बिना कोई भी समर्पण पूरा नहीं हो सकता. समर्पण की पूर्णता योग की साधना से ही आती है.**

पूर्ण समर्पण कभी भी दूसरे उपास्य को, दूसरे आराध्य को स्वीकार नहीं करता. मीराबाई के बारे में एक प्रसंग है. वे एक बार वृन्दाबन में सन्त जीवगोस्वामी जी के दर्शनों के लिए गई. किन्तु गोस्वामी जी के शिष्य ने यह कहते हुए उन्हें द्वार पर ही रोक दिया कि उसके गुरू स्त्रियों से नहीं मिलते. मीराबाई ने उस शिष्य से कहा, "अपने गुरू से जाकर पूछो कि हमने तो सुना है, वृन्दाबन में केवल एक ही पुरुष है, और वह हैं श्रीकृष्ण. यह दूसरा पुरुष, तुम्हारा गुरू, कहां से आ गया". जीवगोस्वामी जी ने जब यह बात सुनी तो वे अद्वयभाव में मीरा के समर्पण से इतने प्रभावित हुए कि उनके स्वागत के लिए स्वयं दौड़ते हुए द्वार पर आ गए.

यह उदाहरण हिन्दूधर्म में उपास्य के एकीभाव की सिद्धि को समझने में बहुत उपयोगी है. मीरा जब कहती है कि वृन्दावन में केवल एक ही पुरुष है श्रीकृष्ण, तो यह कथन उनके समर्पण की सम्पूर्णता को रेखांकित करता है. श्रीकृष्ण मीरा के उपास्य भी हैं, उसके प्रियतम भी. उनका सम्पूर्ण नारी भाव श्रीकृष्ण में रीता हो चुका है, इतना भी नहीं बचा कि वे कृष्णेतर का संज्ञान भी ले सकें. **यह तौहीद (उपास्यैकत्व) को सिद्ध करने की हिन्दू पद्धति है. इसमें मूर्तियां नहीं तोड़ी जातीं; मंदिर नहीं लूटे जाते; समर्पण की समग्रता निरवकाश होने से स्वयं एकीभाव का दान करती है. समर्पण की यह समग्रता योग की साधना के बिना सम्भव नहीं होती.** यह अलग बात

है कि सर्वत्र इस प्रकार की साधना सुविचारित अध्यवसाय के रूप में नहीं होती. मीरा जैसे संतों में यह साधना भगवत्कृपा से अनायास प्राप्त होती है, और अनजाने चलती रहती है.

६.३. ध्यानयोग : आस्था के एकीभाव की सिद्धि का तीसरा साधन है ध्यानयोग. ज्ञान, कर्म और भक्ति के द्वारा मन की साधना, परोक्ष साधना है, जबकि ध्यानयोग मन की साक्षात् साधना है. धर्मदर्शन की दृष्टि से मन की साधना का एक ही अर्थ है, उसे एकीभाव में प्रतिष्ठित करना, कषायमुक्त करके उसे समर्पण के योग्य बनाना. ध्यान की साधना के द्वारा आस्था के एकीभाव की सिद्धि किस प्रकार होती है, इसकी चर्चा विस्तार से गीता के पांचवें और छठे अध्यायों में हुई है.

६.४. भक्तियोग : भक्ति ऊपर कहे तीनों साधनों से विलक्षण है. यह साधन भी है और साध्य भी. ज्ञान, कर्म और ध्यान के योगपर्याय केवल उपाय हैं, जो अन्तःकरण को क्रमशः रागमुक्त करते हुए उसे समर्पण के लिए तैयार करते हैं. ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी दोनों ही प्रकार के सम्प्रदाय इन साधनों को स्वीकार कर सकते हैं. इतना ही नहीं, इन साधनों के द्वारा परिष्कृत अन्तःकरण का प्रयोग विशुद्ध लौकिक आदर्शों के प्रति समर्पण को सुनिश्चित करने के लिए भी किया जा सकता है. ऐसे लोगों की कमी नहीं है, सच कहें तो ऐसे ही लोगों की बहुतायत है, जो लौकिक उद्यम की प्रशस्ति के लिए *'योगः कर्मसु कौशलम्'* जैसे गीता के वाक्यों का सूक्ति के रूप में प्रयोग करते नहीं थकते. कुछ लोग तो अपने क्रूर व्यावसायिक आचरण के समर्थन में, बिना किसी हिचक के 'सुखदुःखे समे कृत्वा' आदि वाक्यों का प्रयोग करते रहते हैं. ऐसा इसलिए होता है क्योंकि ज्ञान, कर्म और ध्यान, निरपेक्ष साधन हैं; इनके द्वारा परिष्कृत अन्तःकरण का प्रयोग लौकिक आदर्शों की सिद्धि के लिए भी हो सकता है और धार्मिक प्रयोजन अर्थात् आस्था में एकीभाव की सिद्धि के लिए भी. इनसे सर्वथा विलक्षण है भक्ति का स्वरूप, जिसकी समस्त सम्भावनाएं केवल धार्मिक अर्थ में ही पर्यवसित हो सकती है.

इतर उपायों से भिन्न, भक्ति साधन भी है और साध्य भी. अन्तःकरणशुद्धि के उपाय के रूप में यह साधन है और समर्पण के पर्यवसितार्थरूप में साध्य. भक्ति यदि केवल साधन है तो वह भक्ति नहीं हो सकती, वह तो उद्यम है, कर्म है. लोक में भी भक्ति के पर्याय सम्भव है, किन्तु यदि भक्ति का अर्थ समर्पण है, सम्पूर्ण और बिना शर्त, तो ऐसा समर्पण केवल एक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वगुणसम्पन्न, सर्वसुन्दर आराध्य के प्रति ही सम्भव है. इसे यों भी कह सकते

हैं कि समर्पण की सम्पूर्णता ही आराध्य को ईश्वरभाव में प्रतिष्ठित कर देती है. पुनः सम्पूर्ण समर्पण एक के ही प्रति सम्भव हैं. जहां दो या दो से अधिक के प्रति समर्पण है वहां कहीं भी पूरी तरह समर्पण नहीं हुआ है, या यों कहना चाहिए कि समर्पण हुआ ही नहीं. **भक्ति में उपास्य का एकत्व और तन्निष्ठ आस्था का एकीभाव समर्पण के अर्थ से प्राप्त है, किसी विधान से नहीं जहां सम्पूर्ण समर्पण एक के प्रति हो चुका है, वहां दूसरे के लिए बचता ही क्या है? वह ''एक'' साकार है या निराकार है, सातवें आसमान में सिंहासन पर बैठा है, या मंदिर के विग्रह के रूप में, एकनिष्ठा का उदय साधना द्वारा हुआ है या गुरू के उपदेश से या धर्मविधान से – इन विकल्पों से आस्था के एकीभाव में, एकीभाव की गुणवत्ता में कोई अन्तर नहीं आता.**

भक्ति के मार्ग में बहुदेवोपासना का एकीभाव में विसर्जन चार सम्भावित रूप ले सकता है, जिनका निदर्शन शास्त्रों और प्रसिद्ध सन्तों के व्यवहार में मिलता है. ये रूप हैं, पर्यायसर्वेश्वरवाद, इतरभावानुपपत्ति, सर्वत्र इष्टदर्शन, विभूतियोग तथा परमात्मा के विराट रूप में समस्त लौकिक, दैवी और आसुरी शक्तियों का विसर्जन.

६.५. पर्यायाक्षिप्त एकीभाव : वैदिक सूक्तों की यह एक विशेषता है कि जिन विशेषणों का प्रयोग एक देवता के स्तवन में किया जाता है, प्रसंग प्राप्त होने पर लगभग उन्हीं विशेषणों का प्रयोग दूसरे देवताओं के स्तवन में भी किया जाता है. समानार्थक विशेषणों का प्रयोग, देवबहुत्व को एक प्रतीयमान अर्थ देते हुए उसके मूल में एक ही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् सत्ता का आक्षेप करता है. इसी को वैदिक विद्वानों ने पर्यायाक्षिप्त एकेश्वरवाद (Henotheism) नाम दिया है. यह देवबहुत्व में उपास्य की तात्त्विक एकता की सिद्धि की वैदिक शैली थी. वर्तमान युग में, आर्यसमाज और सिखपंथ जैसे सम्प्रदाय जब यह सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं कि देवता, अलग अलग ऐतिहासिक व्यक्तित्व न हो कर एक ही ईश्वर के बहुत से नाम हैं, तो वे एकत्वापादक वैदिक- परम्परा का ही नए संदर्भों में प्रवर्तन करते हैं.

६.६. इतरभावानुपपत्ति : साम्प्रदायिक परम्परा में इस अर्थ को बताने के लिए *अनन्याश्रय* शब्द का प्रयोग हुआ है. यह अन्य के अवलम्बन का निषेध करने वाली विधि है. साधनापथ की कठिनाइयों को देखते हुए, कुछ हिन्दू-सम्प्रदाय, एकीभाव की सिद्धि के लिए विधि का सहारा लेते हैं. किन्तु यह केवल एक व्यावहारिक अभ्युपगम है, हिन्दूधर्म का वैशिष्ट्य तो साधनामूलक एकीभाव ही है.

६.७. सर्वत्र इष्टदर्शन : सभी देवताओं में अपने ही आराध्य के दर्शन करना — यह भी बहुदेववाद से उबरने की हिन्दूसाधना का एक रूप है. गोस्वामी तुलसीदास जब मथुरा गए तो उन्होंने सर्वत्र मंदिरों में मुरलीमनोहर गोपावल्लभ भगवान् श्रीकृष्ण को ही प्रतिष्ठित देखा. वे अपने आराध्य भगवान् श्रीराम के दर्शनों के लिए बेचैन हो उठे, और श्रीकृष्ण के विग्रह के सामने ही उन्होंने अपनी व्यथा का इस प्रकार निवेदन किया —

कित मुरली कित चंद्रिका कित गुपियन कौ साथ।
तुलसी मस्तक तब नवै धनुषबाण लेउ हाथ।।

कहते है, भगवान् श्रीकृष्ण ने तुलसीदास की प्रार्थना को स्वीकार करते हुए धनुषवाण लेकर राम रूप में उन्हें दर्शन दिए. एक अनन्यभावी साधक, जब देवी देवताओं के विभिन्न मंदिरों में जाता है, और वहां उन देवताओं के सामने नतमस्तक होता है, तो वह सामाजिक शिष्टाचार मात्र नहीं होता. एकीभाव की एक विशेष प्रकार की साधना यहां भी चलती रहती है. वह सभी देव विग्रहों में अपने ही उपास्य के दर्शन करता है, उनके माध्यम से अपने उपास्य की ही आराधना करता है. सर्वत्र इष्टदर्शन भी, बहुदेववाद के बीच एकीभाव की साधना का सरल उपाय है.

६.८. विभूतियोग : गीता के दशमअध्याय को विभूतियोग नाम दिया गया है. यह अध्याय विभिन्न देवताओं को परमात्मा की विभूतियों के रूप में प्रस्तुत करते हुए, तद्रूपेण उनके मनन के द्वारा एकेश्वरभाव में प्रवेश की विधि को बताता है. सृष्टि की प्रत्येक वस्तु अपने एक 'सामान्य' अर्थ में, वह सामान्य अर्थ एक आदर्श 'व्यक्ति' में और वह आदर्श व्यक्ति, अपने अधिष्ठाता परमात्मा (पुरुषोत्तम) में प्रतिष्ठित है. यह विस्तृत आधार से विरल होती, चोटी तक जाती, पिरामिड के आकार की मनन की प्रक्रिया है जिसका अभ्यास कराने के प्रयोजन से, गीता के दशम अध्याय में उदाहरणों की लम्बी सूची दी गई है. विभूतियोग मनन की एक विशिष्ट प्रक्रिया को बताता है, जिसके अभ्यास के द्वारा इस बात को हृदयंगम किया जाता है कि न केवल उपासना के विविध आलम्बन, देवी देवता, अपितु सृष्टि में जो कुछ भी मूल्यवान् है या हो सकता है, वे सब परमात्मा की ही विभूति हैं; एक सर्वेश्वर परमात्मा ही उस सबका पर्यवसितार्थ है :

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसंभवम्।। (गी.१०.४१)

(जो भी विभूति से सम्पन्न सत्ता है, जो कुछ भी ऐश्वर्य, कान्ति और ऊर्जा से युक्त है, उस सबको तू मेरे ही तेज के अंश से उत्पन्न हुई जान)

६.९. परमात्मा के विराट रूप में बहुत्व और बिखराव का विसर्जन :

ग्यारहवें अध्याय में भगवान् के विराट स्वरूप को अनन्त विविधताओं के अविभक्त अधिष्ठान के रूप में प्रस्तुत किया गया है. भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को अपने विश्वरूप के दर्शन कराते हैं; अर्जुन देखते हैं कि सभी देवता, यह चराचर ब्रह्माण्ड और उसकी सभी गतिविधियां परमेश्वर के विराट् तेजोमय स्वरूप के अंग रूप में प्रतिष्ठित है. परमात्मा के सर्वोपसंहारी एकात्मभाव की साधना जिस सात्क्षात्कार में परिणत होती है, उससे अर्जुन रोमांचित हो उठता है —

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।
यदिभाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः।।
तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा।। (१८. १२-१३)

(हे देव ! आपके इस शरीर में, सम्पूर्ण देवों को, अनेक भूतसमुदायों को कमलासन पर विराजमान ब्रह्मा को, महादेव को, सम्पूर्ण ऋषियों को तथा दिव्यसर्पों को देखता हूं.)

७. साधना के द्वारा एकीभाव : एक विशुद्ध हिन्दू-धर्मयात्रा :

७.१. गीता में इसका निर्वचन : श्रीमद्भगवद्गीता के पूरे दो अध्याय एकेश्वरवाद की भावरूपा साधना को समर्पित हैं. इसी से पता चलता है कि बहुदेववादी हिन्दूधर्म के लिए साधना मार्ग का कितना महत्त्व है. जिसने बहुदेवोपासना से प्रारम्भ करके परमात्मा के एकीभाव की गीतोक्त साधना नहीं की है, या जिसने एकेश्वरवाद को उक्त रूप में सिद्ध न करके केवल सम्प्रदाय विधि के द्वारा एकेश्वरवाद को स्वीकार कर लिया है, सच पूछें तो उसने हिन्दूभाव को उसकी सम्पूर्णता में जिया ही नहीं है. हिन्दू आस्था के साथ जुड़ा है, बिखरावों के जंगल के बीच अपने लिए प्रामाणिक धर्मपथ की खोज का रोमांस, जो उनके लिए कभी नसीब नहीं होता जो भेड़ों की तरह किसी मसीहा के द्वारा हांक कर ले जाए जाने के आदी हैं.

बहुदेवोपासना से प्रारम्भ करते हुए, परमात्मा के एकीभाव की साधना एक विशुद्ध हिन्दूधर्मयात्रा है, जो सम्पन्न होने पर एकीभाव के साक्षात्कारात्मक अनुभव का, प्रभु के विश्वरूप

के दर्शन का आश्वासन देती है. यह दुर्भाग्य की बात है कि अधिकांश हिन्दू गीता का पाठ भर करते हैं; थोड़े ही लोग होंगे हैं जो उसमें अन्तर्निहित साधना सूत्रों पर मनन करते हों; ऐसे लोग तो और भी कम होंगे जो हिन्दू आस्था के अन्तरंग वैभव के रूप में उनका आकलन करने को तैयार हों. जब भी हिन्दूधर्म के स्वरूप की, उसके एकात्मक आधार की बात आती है तो उसके विद्वान् व्याख्याता, साधना के बजाय सम्प्रदायविधि के द्वारा ही उसकी सिद्धि करना पसंद करते हैं.

७.२. साम्प्रदायिक अनुशासन से प्राप्त अनन्याश्रयत्व : एक अपर्याप्त कल्प :

एक महात्माजी हैं, स्वामी अड़गड़ानन्दजी महाराज. उन्होंने हिन्दू आस्था के बिखराव का बड़ा ही सजीव विवरण दिया है, जिसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है. बहुदेववादी बिखराव की त्रासदी के इस सजीव वर्णन के बाद, समाधान के रूप में अड़गड़ानन्दजी महाराज यह सुझाव दे डालते हैं, कि सभी हिन्दुओं को भगवान् राम को अपने एकमेवाद्वितीय उपास्य के रूप में स्वीकार कर लेना चाहिए. अपने अपने उपास्य को ले कर लगभग इसी तरह के समाधान सभी सम्प्रदायाचार्य देना चाहेंगे. इतना निश्चितहै किकोई भी साम्प्रदायिक समाधान, हिन्दूयथार्थ-निरपेक्ष, और असम्भव की हद तक अतिसरल होने के कारण हिन्दूमानस को स्वीकार्य नहीं हो सकता.

साम्प्रदायिक समाधान, आप्तवचन से जिस एकीभाव का विधान करता है, वह सम्पूर्ण हिन्दूसमाज को एकीभाव में प्रतिष्ठित करने के बजाय, अपने आगमन से विभाजन के परिदृश्य को ही समृद्ध करता है. आश्चर्य की बात है कि हिन्दूधर्म के विद्वान् व्याख्याकार, गीता में और स्वयं अपनी सन्त परम्परा में उपलब्ध एकीभाव की साधना पद्धतियों में समाधान ढूंढ़ने की बजाय, साम्प्रदायिक विधि के आसान और अनुपसंहारी साधन से हिन्दू-एकीभाव की सिद्धि करने की कोशिश करते रहते हैं.

७.३. हिन्दू के लिए उपास्यैकत्व (तौहीद) का अर्थ :

साम्प्रदायिक समाधानों को केवल विधि के द्वारा ही प्रवर्तित कराया जा सकता है. किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि विविधताओं से परिपूर्ण, बहुआयामी हिन्दू-यथार्थ को किसी विधि के अन्तर्गत नहीं लाया जा सकता. पूरी कौम के लिए, एक किताब, एक उपास्य, एक प्रवर्तक (पैगम्बर) की बात हिन्दुओं ने कभी स्वीकार नहीं की, क्योंकि हिन्दूधर्म, सामी धर्मों की भांति किसी कौम

को सम्बोधित जातीय अनुशासन नहीं है. किसी भी व्यक्ति की आस्था का एक भाव में, एक आलम्बन में स्थिर हो जाना, एक हिन्दू के लिए यही आस्था का एकीभाव है. यही तौहीद का अर्थ है. लेकिन 'सभी लोग अपनी आस्था को एक ही भाव में स्थिर करें,' या उसी भाव में स्थिर हो जाएं जिसमें 'मैं स्थिर हूं', यह विधान देने का अधिकार किसी को नहीं है, पैगम्बर या अवतारी पुरुष को भी नहीं, क्योंकि यह एक आरोप होगा, आस्था नहीं.

धर्म का रहस्य है, आभ्यंतर स्वीकृति, बिना किसी बाहरी अनुशासन के, बिना बाहरी पहरेदारी या दवाब के. जो लोग सारी जाति के लिए सारी बिरादरी के लिए या यों कहें कि समस्त मानव जाति के लिए एक ही आलम्बन(आलम्बन निचय) में आस्था के निवेश को अनिवार्य करने की बात करते हैं, वे आस्था की प्रामाणिक सीमाओं से बाहर जाकर, उसके आधार में एक जातीय संगठन का, राजनैतिक आकांक्षा का सृजन करते है, जो व्यक्ति को आस्था के अधिकार से वंचित करने के कारण न केवल मानवीय गरिमा के विरुद्ध है अपितु धर्म का भी विपर्यास है. जातीय वर्चस्व की आकांक्षा से प्रेरित ऐसे विधान न केवल 'अधर्म हैं, अपितु खतरनाक रूप से अनैतिक भी. इसे संहिताबद्ध धर्मो के असहिष्णु, टकरावपरायण, बुद्धिविरोधी, वैयक्तिक स्वतंत्रता एवं बहुत्वाद के उच्छेदक व्यवहार में सहज देखा जा सकता है.

हिन्दूधर्म विधि की उपयोगिता को तो स्वीकार करता है, एक व्यावहारिक परिकल्प के रूप में उसे मान्यता भी देता है. किन्तु वह उसे धर्म की हद नहीं मानता, धर्म के परमार्थ के रूप में उसकी प्रतिष्ठा नहीं करता. हिन्दुओं के लिए आस्था का एकीभाव सिद्ध वस्तु नहीं है. वह साधना और अनुसंधान का विषय है. हर व्यक्ति किसी एक उपास्य को केन्द्र में रखते हुए, उपयुक्त साधना के द्वारा बहुत्ववादी बिखराव से ऊपर उठकर अपने लिए आस्था के एकीभाव की सिद्धि कर सकता है. आस्था के पुस्तकपंथी, जातीय अनुशासन से सर्वथा भिन्न, व्यक्तिप्रमाण आस्था की इस अनुसंधानरूपा कोटि की मान्यता, हिन्दूधर्म का परम वैशिष्ट्य है.

७.४. विभाजन और बिखराव की त्रासदी झेलते हिन्दूधर्म के उद्धार में योग की भूमिका : आस्था का विखण्डन और बिखराव ही महाभय है जिसके विरुद्ध योग आस्था के उद्धार का आश्वासन देता है : ***'स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्'.*** यह आश्वासन सभी धर्मों के लिए है, किन्तु योग का औत्पत्तिक सन्दर्भ होने से इसका आश्वासन खास तौर

पर हिन्दूधर्म के लिए है जो स्वयं में बिखराव का एक अभूतपूर्व परिदृष्य है.

गीता में योग के उपदेश के प्रयोजन को हृदयंगम करते हुए, उपासना में योग संग्रह — यही हिन्दू के लिए आस्था के एकीभाव में जागरण का एक मात्र प्रामाणिक, सर्वस्वीकार्य पथ है. जब एक शास्त्र, एक ईश्वर, एक अवतारी-पुरुष (ईसामसीह) को मानने वाले ईसाई धर्मावलंबी तक आज धर्म में स्थिरभाव के लिए योग की अपरिहार्यता को स्वीकार करते हुए, **क्रिश्चियनयोगा** नाम से उसे अपनी उपासना में स्थान दे रहे हैं, तब बहुआयामी-बिखराव-जर्जर हिन्दूआस्था के एकीभाव में उद्धार के लिए, योग का कोई विकल्प हो ही कैसे सकता है? योग जो अब कलिकाल के प्रभाव से **योगा** हो गया है, एक हिन्दू के लिए केवल शरीर के स्वास्थ्य की प्रणाली नहीं, बल्कि मन के परिष्कार के द्वारा आस्था के स्वास्थ्य की प्रणाली है. नीचे दिए विवरण से यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है.

७.५. पारम्परिक उपासना में योग के तत्त्व :

योग एक सम्पूर्ण मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का नाम है जो आस्था में बिखराव की उपादान सामग्री (कामनाओं) का क्रमिक उच्छेद करते हुए, समर्पण की उस समग्रता को सुनिश्चित करती है, जो सभी धर्मों के लिए आस्था का निहितार्थ है. यह सम्पूर्ण समर्पण एक के प्रति ही सम्भव है. समर्पण यदि दो के प्रति है, या दो से अधिक के प्रति है तो ऐसा समर्पण सम्पूर्ण हो ही नहीं सकता. एक आराध्य की प्रतिष्ठा, समर्पण की समग्रता का तार्किक पर्यवसितार्थ है, जिसकी सिद्धि के लिए गीता में योग का उपदेश हुआ है. यह एक अनुभूत पद्धति है जिसकी विधाओं का हिन्दू सन्तों ने, बिना बहुदेववाद का तिरस्कार किए, अपनी आस्था को एकीभाव में प्रतिष्ठित करने के लिए किया है.

प्राचीन हिन्दू-उपासना में इस बात का ख्याल रखा जाता था कि उसमें योग का यथोचित समावेश हो. संध्या जैसे नित्यकर्म के वैदिक कर्मकाण्ड का समारम्भ प्राणायाम होता है. वास्तविकता तो यह है कि हिन्दूधर्म में ध्यान की एकाग्रता के प्रयोजन से, योग वे उपकारक साधनरूप में मूर्तिपूजा को मान्यता दी गई. बिना एक मूर्त आलम्बन के उपासना में मन की एकाग्रता नहीं बनती, यही प्रारम्भ में विग्रहपूजा की स्वीकृति का औचित्य रहा होगा, जिसे भक्त

महाकवि सूरदास इन शब्दों में कहा है :

''रूपरेख बिन जाति जुगति बिन, निरालम्ब मन चकृत धावै।
सब बिधि अगम विचारहि ताते, सूर सगुन लीला पद गावै॥''

७.६. बिखरावों के बीच योग की ओर वापसी का आवाहन : कालान्तर में हिन्दुओं की विग्रह उपासना ध्यान के इस मूल प्रयोजन से हटती चली गई, स्थूल से स्थूलतर होती गई, और अब तो यह झांकी, झूला भोग-प्रसाद, घंटा, घड़ियाल और आरती का कर्मकाण्ड बन चुकी है. श्रीमद्भगवद्गीता का *''क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्य गतिं प्रति''* यह कथन केवल वैदिक कर्मकाण्ड को नहीं, उपासना के समस्त कर्मकाण्ड-पर्यायों को उद्देश्य करता है, तथा उनकी विकृतियों का संज्ञान लेते हुए, हिन्दुओं को योगपथ में वापसी के लिए पुकारता है.

यह आश्वस्त करने वाली बात है कि निकट अतीत में स्वामी रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, महर्षि अरविन्द, स्वामी शिवानन्द, तथा वर्तमान में महर्षि महेश, गीताज्ञान के अनन्य संवाहक स्वामी चिन्मयानन्दजी महाराज, आचार्य श्रीरामशर्मा, स्वनामधन्य ओशो रजनीश, आसारामबापू, जयगुरुदेव तथा स्वामी रामदेवजी जैसे मनीषियों ने हिन्दूआस्था में योग की वापसी के लिए महत्त्वपूर्ण काम किया है. उपास्य जो भी हो, उपासना का रूप जो भी हो, योग की साधना के रूप में उसका पुनरुद्धार हो तो ठाकुरजी की सेवा अधिक मनोयोग से होगी, तथा आस्था में सहज एकीभाव (अनन्याश्रय) का अभ्युदय हो सकेगा, जिसके महत्त्व को सभी सम्प्रदायाचार्य एक मत से स्वीकार करते हैं.

अपने धर्म में आई कर्मकाण्डिक जड़ता और बिखराव का दंश झेलते आज के हिन्दू के लिए गीता का यह संदेश असाधारण महत्त्व रखता है. पूर्व में हमारे सन्तों ने इसकी सिद्धि कैसे की, इसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है.

यहां यह बात् याद दिलाने योग्य है कि विधानानुशासित से भिन्न, एकीभाव की साधना एक विशुद्ध वैयक्तिक साधना है. प्रत्येक व्यक्ति को उपयुक्त साधना के द्वारा अपने लिए एकीभाव की सिद्धि करनी होती है. सभी का उपास्य एक हो, सभी एक ही नाम का जप करें या एक ही उपासना पद्धति का अनुसरण करें, यह कतई जरूरी नहीं. विधिमूलक एकीभाव, उपास्य और उपासना की एकरूपता की विधि पर टिका एक जातीय अनुशासन है. इससे भिन्न, साधना की

पद्धति में, एकीभाव का अधिष्ठान व्यक्ति है, जाति नहीं. यहां एकीभाव, सिद्ध सूत्र न हो कर साध्य है. आस्था के इस एकीभाव की सिद्धि हर व्यक्ति को अपने लिए करनी होती है. यह एक जिम्मेदार, जागृत आस्था का लक्षण है. इसे वे लोग नहीं समझ सकते जो किसी के द्वारा भेड़ों की तरह हांक कर ले जाए जाने के आदी हैं.

संग्रह और उपसंहार :

गीता में धर्म के पुस्तकीय विग्रह (वेदवाद) की समीक्षा, साधनापथ के द्वार खोलती है, जो उपलब्ध सामाजिक पर्याय से भिन्न, धर्म के व्यक्तिप्रमाण स्वरूप के अनुसंधान का पथ है. साधना का मार्ग, सर्जनात्मक विस्तार, अन्तरंग प्रामाणिकता और मानवीय विवेक और गरिमा के प्रति संवेदनशीलता की विशेषताओं के कारण, पुस्तकपंथ की अपेक्षा आस्था की उच्चतर कोटि है. किन्तु यदि पुस्तकपंथ धर्म का परमार्थ नहीं हो सकता, तो परमार्थ, साधना या उस पर आधारित सम्प्रदाय भी नहीं हो सकते. विधि और साधना, ये एकीभाव के क्रमशः स्थित्यात्मक और गत्यात्मक आयाम हैं. तात्त्विक दृष्टि से दोनों ही सापेक्ष और अपर्याप्त हैं. साधना पुस्तकपंथ को जड़ता से उबारती है, जबकि विधि की सहायता के बिना साधना में संप्रेषणीयता नहीं आती. विधि और साधना, धर्म के जिन समाजप्रमाण और व्यक्तिप्रमाण विग्रहों को जन्म देते हैं, उनसे अलग और विलक्षण है, धर्म का तात्त्विक स्वरूप. यही अग्रिम एकक का कथ्य है.

■ ■ ■

तृतीय एकक:

(आस्था का परा-पुस्तकीयकल्प)

(क) त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥४५॥

(ख) यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥४६॥

हे अर्जुन ! सभी वेद तीनों गुणों के कार्यरूप संसार को विषय करने वाले हैं; तू असंसारी, सुखदुःखादि द्वन्द्वों से रहित, निरंतर सत्त्व में स्थित, योगक्षेम को न चाहने वाला, और आत्मपरायण हो. (४५). सब ओर से पूर्ण जलाशय के साथ जितना प्रयोजन (स्नानपानादि भर कर) होना चाहिए, एक ज्ञानी ब्राह्मण का सब वेदों में उतना ही प्रयोजन रहता है (४६).

पूर्वमास्थाया एकीभावस्य पुस्तकीयापुस्तकीयरूपयोः समीक्षा कृता। सम्प्रति द्वयोः श्लोकयोः क्रमशः निरूप्येते परापुस्तकीयादर्शस्य स्वरूपं व्यवहारश्च।

श्लोकद्वयं हि तार्किकोपसंहारं *'व्यवसायात्मिकाबुद्धिरेकेह कुरुनन्दन'* इत्यारब्धैकीभाव-विमर्शकेन्द्रितधर्मचिन्तनस्य। त्रिषु सूत्रेषु संग्राह्यमिदम्। आप्तालम्बननिष्ठास्थाया ऐतिहासिकविग्रहाः, तत्तद्स्थानीयसंदर्भेषु प्रामाणिकेष्वपि परमार्थविप्रकृष्टाः। परापुस्तकीयो धर्मस्य परमार्थः। निस्त्रैगुण्यलक्षणोऽसौ हि सर्वेषां धर्मपर्यायाणां तात्त्विकः पूर्वकल्पः, विरोधवैविध्यमध्य एकात्मकाधारस्तेषाम्।

पुस्तकपंथानां ऐकान्तिकाभिनिवेशनिमित्त-सततसंघर्षैः संत्रस्ताय वर्तमानसंसाराय, सर्वेषां धर्माणां परापुस्तकीय-तात्त्विकैकीभावस्य गीतासंदशो भजते महत्त्वमतितरम्।

१. अथ प्रथमश्लोकस्येमेऽभिहितार्थाः : वेदानां त्रैगुण्यविषयता (*त्रैगुस्यविषया वेदाः*), निस्त्रैगुण्यादर्श

प्रत्यावाहनं *(निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन)*, आदर्शस्यार्थनिष्पत्तिश्च *(निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्*)।

२. सांख्यमतानुसारं सत्त्वरजस्तमेति त्रिगुणानां साम्यावस्थारूपप्रकृतिप्रभवो हि सृष्टिप्रपञ्चः। सृष्ट्यां सर्वाणि मूल्यानि उपक्रमाणि चानुसरन्ति त्रिगुणात्मिकां प्रकृतिं, कार्यैः उद्भवमूलोपादनस्यानतिक्रमणीयत्वात्।

त्रैगुण्यविषयाणि वेदादिशास्त्राणि, तत्र प्रकाशितज्ञानस्य त्रिगुणात्मिकायाः प्रकृतेः कर्मोपयोगिरहस्योद्घाटनपरत्वात्।

सुखदुःखमोहेति त्रिगुणात्मकानि प्राकृतमूल्यानि। तान्येव विषयं कृत्वा वेदादिशास्त्राणि धर्मग्रन्थाश्चेतरेषां प्रकाशयन्ति अभीष्टसिद्धेः दिव्यविधानानि। अभीष्टानभीष्टव्यवस्था तु प्राकृता एव । तस्याः वेदविषयत्वात् स्फुट एव वेदादिशास्त्राणां त्रैगुण्यविषयता।

२.१. विभिन्नजातीयपरिवेशप्रभवत्वात् भिन्नानि धर्मशास्त्राणि, भिन्नाश्चाप्तपुरुषाः। किन्तु तेषां मूल्यदर्शने दृश्यते विलक्षणं साम्यम्। सर्वे वितरन्ति सुखस्य वैभवैश्वर्ययोः आश्वासनानि, प्रकाशयन्ति चैतेषां सिद्धेः दिव्यविधानानि। अयं प्राकृतमूल्यानुबंध एव वेदादिशास्त्राणां त्रैगुण्यविषयता।

त्रैगुण्यविषयतायाः सर्वप्रवृत्तिमूलत्वात् वेदादिशास्त्रभिन्नास्थास्थानेषु योगादिष्वप्यस्याः प्रसक्तिः। एवं त्रैगुण्यविषयतालक्षणौ पुस्तकीयापुस्तकीयधर्मपर्यायौ इत्यनवद्यम्। अनयोः समीक्षार्हता हि प्रस्थानं परापुस्तकीयपरमार्थस्य जिज्ञासानुसंधानयोः।

२.२. विवेच्यश्लोकः प्रवर्तयत्यास्थायाः द्वे कोटी, त्रैगुण्यविषया, निस्त्रैगुण्या च। त्रैगुण्यविषयतायाः द्वौ पर्यायौ पुस्तकीयापुस्तकीयौ। परापुस्तकीया हि निस्त्रैगुण्यता। एवं प्राप्यते आस्थाया एकीभावस्य त्रय आधाराः : पुस्तकीयः(विधिरूपः) अपुस्तकीयः (साधनामूलकः) परापुस्तकीयश्च (तात्त्विकः)

शुद्धपुस्तकपंथो हि आस्थाया जातीयविग्रह आचारकेन्द्रितोऽनन्यशास्त्राप्रमाणश्च। आस्थाया जातीयविग्रहेऽस्मिन् व्यक्तेरन्तरंगाकांक्षाया आध्यात्मिकसामर्थ्यस्य च नास्ति काऽपि मान्यता, अस्या अपर्याप्ततायाः चेतनायां जायते आस्थाया व्यक्तिप्रमाणस्वरूपस्यानुसंधानं साधनारूपम्। शास्त्रसाधने चोभौ जनयतः आस्थाया व्यावहारिकविग्रहान् देशकालसंयावकल्पितान्। उभयोः आस्थाकोट्योः समीक्षार्हतायाः प्रवर्तते आस्थायाः सार्वभौमिकार्थस्यानुसंधानम्।

एवं प्राप्यतेऽत्र आस्थाया बहुतलीयपरिकल्पः, यस्य परिज्ञानस्याभावो हि कारणं धार्मिकाणामैकान्तिकाभिनिवेशस्य तज्जन्यासहिष्णुतायाश्च।

३. निस्त्रैगुण्यता हि त्यागस्य परमादर्शः। त्यागस्य क्रमिकसिद्ध्या भवति त्रैगुण्यान्निस्त्रैगुण्यतायां प्रवेशः।

त्रिगुणात्मिका-प्रकृतिलब्ध-सुखदुःखमोहादि-प्राकृतवृत्तीनां मूल्यत्वेन स्वीकृतिर्हि आस्थायास्त्रैगुण्यविषयता। प्राकृतमूल्यलब्धनिसर्गस्वेच्छाचारस्य त्यागेन नियमनेन वा भवति धार्मिक-नैतिक-मूल्यानां सिद्धिः। एवं निस्त्रैगुण्यतायां आंशिकसहभागाद् मूल्यानि भवन्ति मूल्यवन्तः। प्राकृतजीवनादर्शानां आमूलत्यागो हि निस्त्रैगुण्यता। इयं हि त्यागस्यानुत्तमा कोटिः, न केवलं काम्यविषयाणामपितु तद्हेतुकप्राकृतवृत्तीनामप्यत्र विसर्जनत्वात्।

धर्मस्य व्यावहारिकौ कल्पौ पुस्तकापुस्तकीयौ तु मूर्तामूर्तोपादानेषु त्यागस्य संक्षिप्तानुमापौ। त्यागस्य परमादर्शस्तु परापुस्तकीयः निस्त्रैगुण्याभिधः।

३.१. पुस्तकपंथेषु त्यागो मुख्यतया गृह्णाति द्रव्यत्यागरूपम्। प्राचीनकाले पशुधनस्य मुख्यद्रव्यत्वात्, ईश्वरनिमित्तद्रव्यत्यागः पशुबलिरूपोऽभवत् त्यागस्य रूढार्थः। 'यज्ञः', 'बलिः', 'कुर्बानी', 'सैक्रिफ़ाइस' इति पदान्यभिदधति तत्तद्धर्मेषु त्यागस्य कर्मकाण्डपर्यायाणि। अपिच, दान-जकात-आर्तजनसेवाप्रभृति-परोपकारकर्माणि प्राणोत्सर्गपर्यन्तानि, सर्वाणि सन्ति शास्त्र-विहितद्रव्ययागस्यैव रूपाणि ।

साकांक्षो हि द्रव्यत्यागरूपधर्माचारः। 'देवान्भावयतानेन ते देवाः भावयन्तु वः, परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ' इति। अत्र निदर्शितपरस्परभावो हि महत्त्वपूर्ण-नियामकः द्रव्यत्यागस्य पुस्तकपंथानाञ्च तन्निरूपकानाम्।

अनेन ज्ञायते सोपाधिकं स्वरूपं पुस्तकपंथस्य, तत्र विहितत्यागस्य स्थूलरूपत्वात्, साकांक्षत्वात् विनियमरूपत्वाच्च।

३.२ साधनापथि त्यागो भवति मानसोपादानानां न तु द्रव्यस्य। किन्तु मनोपदार्थानां रागद्वेषादीनां त्यागो न भवति तथाविधो यथा अन्नपश्वादीनाम्। सूक्ष्मान्तरंगरूपत्वाद्दुष्करात्र त्यागविधिः। मनःसाधनं कृत्वा योगेन सम्पद्यते सा। तत्तदुपादानविशेषितसमर्पणसम्बन्धेन योगो भवति अनेकविधः। एवं प्राप्यते भावनानां समर्पणेन भक्तियोगः, फलासक्तेः समर्पणेन कर्मयोगः, विक्षेपानां समर्पणेन ध्यानयोगः, अनात्मभावस्य समर्पणेन ज्ञानयोगः। व्यक्तित्वस्य विरल-धरातलेषु त्यागस्य निष्पादकत्वात् योगो हि आस्थायाः विरलं, उच्चतरं रूपम्।

जाग्रतं स्वरूपं तु वैशिष्ट्यं योगधर्मस्य, द्रव्यत्यागावच्छिन्नास्थायां, कर्मविजड़ितायां स्वरूप-विसर्जनद्वारा निस्त्रैगुण्यचेतनायां आत्मोद्धारस्य सामर्थ्यं न भवति, तस्या: चेतनविमर्शशून्यत्वात्। भिन्ना हि मानसिकोपादानेषु त्यागस्य साधना। चेतनाधिष्ठानेन सह मनसोऽव्यवहितसान्निध्यत्वाज्जागृतो विमर्शशीलो हि मनस्साधनारूपो योगधर्म:। वैशिष्ट्यमिदं ददाति योगं निस्त्रैगुण्यपरमार्थे प्रवेशस्य सामर्थ्यम्।

त्यागस्य क्रमिकसाधनायां अन्तिमाहुतिस्तु अहंकाराश्रयभूतास्थालम्बनस्यैव भवति। योगधर्म एव सम्भवति तन्नतु पुस्तकीयविग्रहभूते कस्मिंश्चिदपि धर्मे। यत्र धर्मग्रन्थस्यावमानशङ्कया विप्लवा: भवन्ति तत्र तु दूर एव अपास्ता ग्रन्थालम्बनस्य विसर्जनचर्चा।

४. निस्त्रैगुण्यताया: प्राथमिकोऽर्थस्तु त्रैगुण्यविषयताया: निषेधादेव प्राप्यते। भूतमनोद्रव्ययो: त्यागादस्या आंशिकसिद्धि: क्रियते तत्तद्धर्मपर्यायेषु स्थूलसूक्ष्मेषु।

४.१. त्रैगुण्यविरचितौ विधिसाधनावलिम्बनौ धर्मविग्रहौ पुस्तकीयापुस्तकीयौ। त्रिगुणात्मकोपादानानां सूक्ष्मस्थूलानां विसर्जनेन क्रमशो भवति निस्त्रैगुण्यताया: सिद्धि:।

नि:संदेहमत्र साधनाद्वारा मानसिकोपादानानां समर्पणं हि त्यागस्योच्चतरा कोटि:। तथापि त्यागस्य परमार्थान्न्यूनेयं अहंकारस्यात्याजितत्वात्। साधनाजन्याहंकारस्य न सम्भवं साधनाद्वारा निराकरणम्। एतदर्थमपरिहार्यो भवति त्यागस्य साधनाया: त्याग:, विसर्जनमहंकारस्या-न्तिमशरणस्थल्या:।

एवमात्माहुत्या निराकांक्षो भवति त्याग:, परिपूर्णतां याति त्यागस्य साधना। त्यागस्येयं परिपूर्णता एव निस्त्रैगुण्यभाव:, परमार्थ: धर्मस्य, आस्थाया एकीभावस्याविचलाकोटि:। यत्र त्यागाय नावशिष्यते किमपि सा एव पगकाष्ठा त्यागस्य। अतोऽच्यते महाभारते –

त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तं त्यज।। महाभारत (शा.प. ३३१. ४४)

अनेन सम्पद्यते व्यतिरेकमुखेन निस्त्रैगुण्यताया निर्वचनं, व्याख्यानं 'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' इति श्लोकपूर्वार्धस्य।

४.२. 'निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्' इति श्लोकोत्तरार्धे चतुर्भि: विशेषणै: व्याक्रियते भावानुबंधो निस्त्रैगुण्यताया:। अत्राव्यवहितपूर्वात् प्राप्यते 'भवे'ति पदस्याध्याहार: प्रतिविशेषणान्वित:।

व्यक्तित्वस्य प्राकृत-तलनिष्ठहेयोपादेयद्वन्द्वो हि मूलः सर्वेषां प्राकृतव्यवहाराणाम्। अनेन मौलिकद्वन्द्वेन जायन्ते वस्तु विनिश्चयानि द्वन्द्वरूपाणि, यथा सुखदुःख-शत्रुमित्र-प्रियाप्रिय-धार्मिकाधर्मिकादीनि संकुचिताचारमूल्यानि नैतिकधार्मिकाणि. अतो द्वन्द्वनिराकरणेन निस्त्रैगुण्यभावस्य सिद्धिः, द्वन्द्वस्य प्राकृतव्यक्तित्वप्रभवत्वात्। द्वन्द्वनिराकरणेन प्राणिनां प्रतिसमभावः, समभावान्निरुपाधिककरुणा इति क्रमिकशीलपर्यायौ निस्त्रैगुण्यतायाः।

'नित्यसत्त्वस्थो', त्वं सात्त्विकभावे अविचलो भव इत्यर्थः। प्राणिमात्रेषु एकस्या एव चेतनसत्तायाः प्रतिष्ठा, इति निश्चयात्मकभावो हि मनसो नित्यसत्त्वस्थता। सत्त्वस्थतानिर्द्वन्द्वभावावुभौ समदृष्टि-निरुपाधिककरुणयोः साधने; एकाभेददृष्ट्या, अपरस्तुभेदनिराकरणेन साधयतः निस्त्रैगुण्यभावम्।

निरुपाधिककरुणा स्वार्थसंकुचितविनिमयव्यवहारात्त्यागस्योद्धारं कृत्वा परमार्थे संस्थापयति तम्। 'त्वं निर्योगक्षेमो भव' इत्यनेन निर्दिश्यते त्यागास्यादर्शव्यवहारः। त्यागस्य सततसाधनायां यदपरित्यक्तः तत्तु आत्मसन्दर्भ एव। अयं तु निस्त्रैगुण्यतायाः एकाकीसाक्षी, यस्यापलकदृष्टिः संधारयति निस्त्रैगुण्यतां, संस्तम्भयति चास्याः शून्ये स्खलनम्। अतोपरामर्शः 'आत्मवान् भव' इति।

५. 'निर्योगक्षेम आत्मवान्' इत्यादर्शेन सह कथं लोकयात्रा सम्भवेदिति शङ्कामालक्ष्य प्रवर्तते अग्रिमो श्लोकः

यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।।

रूपकेन निरूप्यतेऽत्र निस्त्रैगुण्यादर्शे जाग्रतः वेदज्ञब्राह्मणस्य परिग्रहानुमापः। प्रबुद्धस्य ब्राह्मणस्य स्वकीयया वैदिकजीविकया सह तावदेव सम्बन्धः यावद् सर्वतः सम्प्लुतोदकेन उदकेन सह तस्य सम्बन्धेन निर्दिश्यते! सरोवरस्य विशालजलराशेः सः तावदेव गृह्णाति यावन्मात्रेण साध्यते तस्य दैनिकचर्या। सरोवरस्य पयोराशिः तस्य मनसि न जनयति कमप्याकांक्षातरङ्गम् । अनेन परिभाषितं भवति न्यूनतमं परिग्रहपरिमाणम्। विजानतः ब्राह्मणस्य वेदैःसह सम्बन्धो नास्ति वृत्तिमात्राधिकम्। कथमप्येव योगक्षेमे'ति वक्तुं शक्यतेऽयम्।

६. असाधारणो हि पुस्तकपंथानां पुस्तकव्यामोहः। तेषु प्रत्येकस्यायं दृढाभिनिवेशः यत्तस्य धर्मग्रन्थ एव धर्मे न केवलं परं प्रमाणमपितु एकमात्रं प्रमाणम्। अस्मादभिनिवेशाज्जायते तत्तद्धर्मेषु वैश्विकवर्चस आकांक्षा, कारणं संसारे अशान्तेरसमाहार्यसंघर्षाणाञ्च । परापुस्तकीयो हि धर्मस्य परमार्थः इति गीताया अन्तर्दृष्टिः भजते परं महत्त्वं वर्तमाने विप्लवाक्रान्ते वैश्विकसन्दर्भे।

७. **भिन्नयो: सांस्कृतिकपरिवेशयो: पुस्तकपंथानां समीक्षाया: दृश्येते द्वौ सैद्धान्तिकपरिणती। यूरोपे धर्मनिरपेक्षमानववाद:, भारते धर्मस्य परापुस्तकीयावधारणा। अपर्याप्तं आस्थाजन्यसमस्यानां धर्मनिरपेक्षसमाधानम्। उच्चकोटिकी आस्था एव तासां समाधानम्। अस्यां पृष्ठभूम्यां धर्मस्यादर्शरूपेण गीताया: परा-पुस्तकीयपरिकल्पो भजते निरतिशयं महत्त्वम्।**

एकक विमर्श :

पूर्व में आस्था के पुस्तकीय और अपुस्तकीय(साधनामूलक) रूपों की समीक्षा की गई. अब दो श्लोकों में क्रमशः आस्था के परापुस्तकीय परमार्थ और उसके व्यवहार को बताते हैं.

पहला श्लोक धर्म के परापुस्तकीय आदर्श की ओर आवाहन है. इस आदर्श का लक्षण है निस्त्रैगुण्यता. यह व्यतिरेकी-लक्षण त्याग के आत्यन्तिक अर्थ को रूपायित करता है. दूसरा श्लोक रूपक के द्वारा त्याग के इस आत्यन्तिक आदर्श की व्यावहारिक सम्भावना को परिभाषित करता है. यह परिभाषा ही आस्था के समस्त कल्पों की प्रामाणिकता की कसौटी है.

दो श्लोकों का यह एकक *'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन'* यहां से प्रारम्भ हुए, एकीभावविमर्श- केन्द्रित धर्मचिन्तन का उपसंहार हैं. सम्पूर्ण चिन्तन को तीन सूत्रों में संग्रहीत किया जा सकता है : शास्त्रों और अवतारी पुरुषों के आलम्बनों पर टिके, ऐतिहासिक सांचों में ढले विविध धर्मविग्रह, अपने अपने स्थानीय संदर्भों में प्रामाणिक होते हुए भी धर्म का परमार्थ नहीं हो सकते. धर्म का परमार्थ परापुस्तकीय है. निस्त्रैगुण्यलक्षण, यह परमार्थ सभी धर्मो का तात्त्विक पूर्वकल्प है, विरोध और विविधताओं के बीच उनका एकात्मक आधार. त्याग ही इस परमार्थ का व्यवहार है, जो नैतिकता और धर्म के विधिनिषेधों की सीमित अर्थवत्ता को प्रमाणित करता, उन्हें निस्त्रैगुण्यता के आदर्श की ओर आमंत्रित करता है.

१. श्लोक *'त्रैगुण्यविषया वेदा .....'*,

१.१. धर्मदर्शन की दृष्टि से एक असाधारण महत्त्व का श्लोक : पुस्तकपंथों के आत्यन्तिक दावों के कारण, निरंतर संघर्ष की विभीषिका को झेलते संसार के लिए परापुस्तकीय परमार्थ में सभी धर्मों की तात्त्विक एकता का गीता का यह संदेश असाधारण महत्त्व रखता है. इस संदेश

को सूत्रबद्ध करता है नीचे दिया श्लोक :

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।।४५।।

हे अर्जुन ! सभी वेद तीनों गुणों के कार्यरूप संसार को विषय करने वाले हैं; तू असंसारी, सुखदुःखादि द्वन्द्वों से रहित, निरंतर सत्त्व में स्थित, योगक्षेम को न चाहने वाला, और आत्मपरायण हो.

१.२. श्लोक का कथ्य :

इस श्लोक में तीन बातें कही गई हैं : वेदों की *त्रैगुण्यविषयता, निस्त्रैगुण्यता* के आदर्श की ओर अर्जुन का आवाहन तथा आवाहन का विषय बने आदर्श की भावावगति का वर्णन.

जो श्रेष्ठ है उसी की ओर आवाहन किया जाता है. *'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'* इस आवाहन से यह पता चलता है कि यहां आस्था के व्यावहारिक और तात्त्विक, इन दो धरातलों में अन्तर करते हुए, समस्त व्यावहारिक कल्पों से भिन्न, धर्म के तात्त्विक स्वरूप की स्थापना की जा रही है. इस स्थापना की वैचारिक प्रक्रिया इस प्रकार है : सर्वप्रथम, त्रैगुण्यविषयता को धर्म के व्यावहारिक कल्प के लक्षण रूप में प्रस्तुत किया गया है. अनन्तर इस लक्षण से लक्षित, वेदादि शास्त्र जिन धर्मों का प्रतिपादन करते हैं, वे परमार्थ से हटे हुए, धर्म के बहुत से व्यावहारिक-कल्प हैं, यह निष्कर्ष उपपन्न होता है. ये व्यावहारिक कल्प, अपने लिए एक परमार्थ को परिकल्पित करते हैं, जिसका तर्कित लक्षण है, निस्त्रैगुण्यता. *'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'* यह आवाहन हर आस्थावान् के लिए है. निस्त्रैगुण्यता की ओर आवाहन के अर्थ को स्पष्ट करते हैं, अग्रिम पंक्ति में : *'निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्'*.

२. *'त्रैगुण्यविषया वेदाः'* का अर्थ :

यह संसार सत्त्व, रज और तम — इन तीन गुणों की साम्यावस्था में प्रतिष्ठित प्रकृति का परिणाम है, ऐसी सांख्यदर्शन की मान्यता है. सामान्यभाषा में यह सृष्टि त्रिगुणात्मिका प्रकृति का कार्य है. यावन्मात्र उपक्रम और उनके उत्प्रेरक मूल्य इस त्रिगुणात्मिका प्रकृति का ही अनुसरण करते हैं, क्योंकि कोई भी कार्य अपने सत्तामूल का, अपने उपादान कारण का अतिक्रमण करके प्रतिष्ठित नहीं हो सकता. अतः **'त्रैगुण्यविषयता'** का अर्थ हुआ, प्रकृति के गुणों को विषय करना,

उन्हें प्रकाशित करना. यह त्रैगुण्यविषयता प्राकृत व्यवहार का लक्षण है.

'त्रैगुण्यविषया:वेदा:' का अर्थ हुआ, वेदादिशास्त्र धर्मरूप में जिन मूल्यों का प्रतिपादन करते हैं, निकट से देखा जाय, तो वे वस्तुतः प्राकृतवृत्तियों का अनुवाद मात्र हैं. हर प्राणी, सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति चाहता है. सुखप्राप्ति और दुःखनिवृत्ति के ये मूल्य शास्त्रों से नहीं प्रकृति से, स्वभाव से प्राप्त हैं. वेद और विभिन्न धर्मों के शास्त्र जब लोक और परलोक में सुख की प्राप्ति और दुःखहानि का दिव्य *विधान* प्रस्तुत करते हैं, तो वे स्वभावागत प्राकृत मूल्यों का ही अनुवाद करते हुए ही प्रवृत्त होते हैं. इस स्वभावसिद्ध सीमा का अतिक्रमण करने की सामर्थ्य वेद में नहीं होती, यह सामान्य अर्थ हुआ **'त्रैगुण्यविषया:वेदा:'** का.

२.१. त्रैगुण्यविषयता के दायरे :

पुस्तकीय और अपुस्तकीय, दोनों आस्थापर्याय इसके अन्तर्गत : यहां वेद की त्रैगुण्यविषयता तो शब्द से साक्षात् कही गई है, अतः प्रत्यक्ष प्राप्त है. इसके अन्य दायरों की जानकारी लक्षणा और वितर्क से प्राप्त होती है. वेद निर्विवाद रूप से संसार का पहला धर्मग्रन्थ है. इस रूप में यह उपलक्षण है, सभी धर्मग्रन्थों का. वेदों की **'त्रैगुण्यविषयता'** कर्मविधानलक्षण होने से, उपलक्षणया सभी धर्मविधानों में, संसार के सभी पुस्तकपंथों में प्राप्त होती है. यह त्रैगुण्यविषयता के दायरे का एक विस्तार है.

जहां वेदादिशास्त्र हैं, वहां त्रैगुण्यविषयता है, यह बात समझ में आती है. किन्तु इसका विलोम, 'जहां जहां त्रैगुण्यविषयता है वहां शास्त्रप्रवर्तित धर्म हैं', सही नहीं है. त्रैगुण्यविषयता का अर्थ व्यापक होने से, जहां शास्त्रप्रवर्तित धर्म नहीं हैं वहां भी इसकी प्रसक्ति सम्भव है. वे स्थल कौन से हैं, ऐसी जिज्ञासा होने पर, आस्था के अपुस्तकीयरूप, व्यक्तिप्रमाण अनुसंधान, विविधसाधनाकल्प और उन पर टिके संप्रदायों का ग्रहण होता है. इस प्रकार ***पुस्तकीय*** और ***अपुस्तकीय***, धर्म के ये दोनों ही प्रकार, ***त्रैगुण्यविषयता*** के दायरे में आते हैं. इससे परे, ***निस्त्रैगुण्यता*** के रूप में तात्त्विक आधार की परिकल्पना और उसमें इनका संग्रह, धर्म की एक क्रमिक अवधारणा को जन्म देता है, जिसके समुचित संज्ञान के बिना निस्त्रैगुण्यता को, आस्था के परमार्थ को ठीक से नहीं समझा जा सकता.

२.२. आस्था की सक्रम अवधारणा :

पुस्तकीय, अपुस्तकीय, परा-पुस्तकीय : विवेच्य श्लोक आस्था की दो कोटियों की बात करता है : *त्रैगुण्यविषया* और *निस्त्रैगुण्यलक्षणा*. *त्रैगुण्यविषया* के *पुस्तकीय* और *अपुस्तकीय* दो पर्याय हैं, जिनकी विस्तार से चर्चा की जा चुकी है, जब कि *निस्त्रैगुण्य* परापुस्तकीय है. इस प्रकार विवेच्य श्लोक में एकीभाव के तीन धरातल पूर्वकल्पित हैं. *पुस्तकीय, अपुस्तकीय* (साधनामूलक) और *तात्त्विक*. शुद्ध पुस्तकपंथ आस्था का पुरागाथा-कल्पित जातीय विधान है. यह व्यक्ति के सामाजिक विग्रह को सम्बोधित होता है. यहां धर्म आचारकेन्द्रित होता है, जिसमें शास्त्र ही एकमात्र प्रमाण होता है.

आस्था के इस जातीय (सामाजिक) विग्रह में व्यक्ति की अन्तरंग आकांक्षाओं और आध्यात्मिक सामर्थ्य के लिए कोई स्थान नहीं होता. इसकी अपर्याप्तता की चेतना, आस्था के व्यक्तिप्रमाण स्वरूप के अनुसंधान को जन्म देती है. यह अनुसंधान साधनरूप में शुद्धान्तःकरण को परिकल्पित करता है, और अन्तःकरण की शुद्धि ज्ञान और कर्म की साधनाओं को. इस प्रकार प्राप्त होता है आस्था का साधना-कल्प. पुस्तकीय विधान से भिन्न, साधना द्वारा शुद्ध हुआ अन्तःकरण ही यहां आस्था के एकीभाव का नियामक होता है. अतः इसे आस्था का अपुस्तकीय कल्प भी कहा जा सकता है. साधना और उसके सम्प्रदाय, समाज की मांग की बजाय व्यक्ति की आध्यात्मिक मांग के प्रति अधिक सजग होते हैं.

शास्त्र और साधना, दोनों ही आस्था के एकांगी, परिच्छिन्न विग्रहों को जन्म देते हैं, जो उसका परमार्थ न हो कर, देश और काल के सांचों में ढले, उसके स्थानीय, व्यवहारोपयोगी कल्प हैं. **पुस्तकीय** और **अपुस्तकीय** दोनों ही विग्रहों की अपर्याप्तता की चेतना आस्था के सार्वभौमिक परमार्थ के अनुसंधान के द्वार खोलती है. सभी पुस्तकीय विधिनिषेधों, सभी साधनापंथों और उपासनामार्गों का, ज्ञान, कर्म और भाव के सभी आलम्बनों का अतिक्रमण करके — संक्षेप में त्रिगुणात्मिका प्रकृति का अतिक्रमण करके प्रतिष्ठित है, धर्म का *निस्त्रैगुण्य* परमार्थ.

२.३. आस्था के एकांगी अनुशासन और उनकी संकुचित दृष्टि :

आस्था के उक्त क्रम, संसार के सभी धर्म परिवेशों में देखे जा सकते हैं. उन परिवेशों में भी जहां कठोर शास्त्रानुशासन प्रभावी है, इनकी मुखर अभिव्यक्तियों को सहज देखा जा

सकता है. शरिया इस्लाम के समनन्तर, कभी उससे अप्रतिबद्ध तो कभी सीधे पैगम्बर की हैसियत को नकार कर विद्रोह की हदों को छूते सूफी सम्प्रदाय इस्लाम के इतिहास का अंग हैं. ईसाइयों में भी रहस्यवादी साधकों की एक समृद्ध परम्परा रही है. अन्तर है तो केवल इतना कि इन ठेठ पुस्तकपंथी धर्मों का कठोर अनुशासन, आस्था की इन उच्चतर उड़ानों को कोई मान्यता नहीं देता. इन वैमत्यमूलक साधनाओं को ईश्वर की अवमानना मानने वाले इन धर्मों में सतत उत्पीड़न और यंत्रणा ही सूफी और रहस्यवादी साधकों की नियति रही है. इससे भिन्न, हिन्दूधर्म इन साधकों को न केवल धर्माचार्य रूप में स्वीकार करता है, अपितु धर्म की एक व्यापक, सक्रम अवधारणा में उनकी प्रतिष्ठा करता है. विवेच्य श्लोक में आस्था के इस बहुतलीय यथार्थ को ही सूत्रबद्ध किया गया है.

समस्याएं तब पैदा होती हैं जब हम आस्था के क्रमिक स्वरूप को समझे बिना, पुस्तक और आप्तपुरुष विशेष पर टिके, किसी विग्रहविशेष को धर्म का परमार्थ मान बैठते हैं. मान ही नहीं बैठते, बहुधर्मसंकुल संसार में उसकी ऐकान्तिक प्रतिष्ठा के लिए, उन्माद और अतिचार का सहारा लेते हैं. आस्था के आलम्बनों को लेकर, पैगम्बर और देवीदेवताओं की तथाकथित अवमानना को लेकर जो जातीय उन्माद पैदा करते रहते हैं, ये वे लोग हैं जो पहली सीढ़ी पर खड़े हैं और उसी को आखिरी मान बैठते हैं, और समझते हैं कि उन्होंने आसमान छू लिया है. ऐसे लोग आस्था की उच्चतर सम्भावनाओं से अपरिचित हैं.

बच्चों की किताब में एक कहानी पढ़ी थी. एक मेढ़की और उसके बच्चे की. मेढ़की का बच्चा एक बार फुदकता हुआ खेत में पहुंच गया. वहां उसने एक बैल को देखा. वह भाग कर अपनी मां के पास आया, और उससे कहा, "मां-मां, मैंने आज एक बहुत बड़ा जानवर देखा है, तुमसे भी बड़ा". मेढ़की ने अपने जिस्म को फुलाया और बोली, ''क्या इससे भी बड़ा'? "हां मां इससे भी बड़ा", बच्चे ने जवाब दिया. मेढ़की ने अपने को और फुलाया और बोली, "क्या इससे भी बड़ा?" "हां मां इससे भी बड़ा", बच्चे ने फिर कहा. मेढ़की ने अपने को और फुलाया, और फिर पूछा, "क्या इससे भी बड़ा?" बच्चे के हां में जवाब देने पर, मेढ़की ने अपने को और फुलाने की कोशिश की और इस कोशिश में उसका बदन फट गया. मेढ़की कभी बैल का आकार नहीं ले सकी. किताब और आप्त पुरुष, पहले हों या आखिरी, आस्था

के सीमित विग्रह हैं; वे सार्वभौमिक अर्थात् असीम के अर्थ को कभी अपने में नहीं समेंट सकते. वे देश और काल के सांचों में ढली स्थानीय आकांक्षाओं को साकार करते हैं, अतः सार्वजनीन और सार्वकालिक स्वीकृति के अधिकारी नहीं हो सकते. *'त्रैगुण्य विषयाःवेदा,'* यह सूत्र पुस्तकपंथ की सीमित अर्थवत्ता को रेखांकित करता है.

लखनऊ में एक प्रसिद्ध साधक हुए हैं गुरू जितेन्द्र भारतीजी. वे एक आख्यान सुनाया करते थे. कहीं दूर, एकान्त में एक बहुमंजिला इमारत बनी हुई थी. उसके सबसे नीचे के तल में तांबे के सिक्के भरे हुए थे. उससे ऊपर के तल में चांदी के सिक्के थे. उससे भी ऊपर के तलों में क्रमशः सोने के सिक्के और जवाहरात थे. संयोग से लोगों का एक समूह वहां पहुंचा. कुछ लोग मकान के अंदर गए, और मकान की नीचे की मंजिल में रखे तांबे के सिक्के जेबों में भर कर चले आए. थोड़े से लोग थे, जो उससे ऊपर की मंजिल पर पहुंचे. उन्होंने वहां से चांदी के सिक्के इकट्ठे किए और वापस आ गए. लेकिन उनमें भी चंद जिज्ञासु थे, जिनके कदम ऊपर की मंजिल की ओर बढ़े. उन्होंने वहां से सोने का संग्रह किया, और कृतकृत्य होकर वापस आगए. उनमें भी एक व्यक्ति ऐसा था, जो सोना पाकर भी संतुष्ट नहीं था. वह आखिरी मंजिल पर पहुंचा जो बहुमूल्य रत्नों से लबरेज थी. दरअसल वहां हर किसी ने उद्यम किया, लेकिन पाया वही जो उसकी आकांक्षओं में बसा था. आस्था के भी धरातल होते हैं; हर किसी को अपनी अन्तरंग मांग के अनुसार उसका अनुसंधान करने और उसे जीने का अधिकार है. जिन्हें तांबे के सिक्कों में आस्था है, उन्हें उनका संग्रह करने, और उनसे आजीवन संतुष्ट रहने का अधिकार है. लेकिन उनको यह अधिकार नहीं दिया जा सकता कि वे दूसरों को, उच्चतर मंजिलों में तुष्टि के बेहतर विकल्पों का अनुसंधान करने से रोक सकें.

३. *निस्त्रैगुण्यता* : त्याग का परमादर्श :

संहिताकृत-धर्मों में त्याग के संक्षिप्त पैमाने : प्राकृत जीवनादर्शों के आमूल त्याग का नाम है निस्त्रैगुण्यता. यह त्याग की अनुत्तमा कोटि है, कारण कि इसमें केवल प्राकृत अभीष्ट का ही परित्याग नहीं होता, अपितु उन प्राकृत वृत्तियों का भी विसर्जन होता है जो उन्हें अभीष्ट बनाती हैं. यह त्याग का परमादर्श है. इसमें सहभाग के क्रम से धर्म और नैतिकता के अनेक स्थानीय पर्यायों की सृष्टि होती है. परमार्थ तो अविकल निस्त्रैगुण्यता ही है, धर्मविधानों में त्याग *'यह करो*

यह मत करो', ''इसे सिर्फ इतना और इस प्रकार करो', 'यह दो, वह लो' 'या *'यहां दो वहां लो'* इन रूपों में साकार होता है. त्याग के इन संक्षिप्त पैमानों से भिन्न, निस्त्रैगुण्यता त्याग का अविकल आदर्श है, आमूल, सम्पूर्ण और निरुपाधिक.

त्याग प्रत्येक धर्म का अन्तरंग शील है, जिसे उसकी प्रेरक गाथाओं में, कर्मकाण्ड, उपासना-पद्धति तथा नैतिक सरोकारों में सहज पहचाना जा सकता है. निकट से देखें तो धर्म के व्यावहारिक धरातल, जिनकी हम चर्चा कर चुके हैं —पुस्तकीय (विधि) और अपुस्तकीय (साधना) — मूर्त और अमूर्त उपादानों में त्याग के संक्षिप्त पैमाने हैं, जब कि परापुस्तकीय निस्त्रैगुण्यता, त्याग का चरमोत्कर्ष. यह त्याग ही है जिसका निवेश आचार, विचार और भाव को मूल्य में रूपान्तरित करता है, उन्हें नैतिक और धार्मिक अर्थ देता है.

३.१. पुस्तकपंथों में त्यागांश का रूप :

धर्म के पुस्तकीय अवतरणों में *त्याग* मुख्यतया द्रव्यत्याग का रूप लेता है. यतः प्राचीन काल में मुख्य द्रव्य पशु होता था, ईश्वर के नाम पर उसका त्याग अर्थात् बलि, विभिन्न धर्मों में त्याग (कुर्बानी) का पर्याय बन गया. *'यज्ञ', 'बलि', ''कुर्बानी', 'सैक्रिफाइस'* — ये तत्तद् धर्मों में परमात्मा, देवता या देवताओं के निमित्त द्रव्यत्याग के ही कर्मकाण्ड हैं. इसके अलावा दान, ज़क़ात, गरीबों और दीन दुखियों की सेवा से लेकर परोपकार के लिए प्राणोत्सर्ग पर्यन्त, शास्त्रविहित कर्म, निकट से देखें तो द्रव्यत्याग के ही रूप हैं.

जिस बात की ओर ध्यान कम ही जाता है, या जितना जाना चाहिए उतना नहीं जाता, वह यह कि ये विहित कर्म प्रतिफल के ही लिए किए जाते हैं, जिसके लिए शास्त्रों के साक्षात् या परोक्ष आश्वासन उपलब्ध रहते हैं. यथा : ***देवान्भावयतानेन ते देवाः भावयन्तु वः, परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ*** (तुम इस यज्ञ के द्वारा देवताओं को पुष्ट करो, वे देवता तुम्हारा अभ्युदय करें. परस्पर उन्नति करते हुए तुम परम श्रेय को प्राप्त होओ). त्याग की इस स्थूल अवधारणा में परस्परभाव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है. हम जितना देंगे, हमें अनेकगुना हो कर वह मिलेगा, और मरने के बाद हम ईश्वर के साम्राज्य के उत्तराधिकारी होंगे, जहां धरती पर किये गए सत्कर्मों के बदले, अपने किए गए *त्याग* के बदले दिव्य भोगों का अधिकार मिलेगा. *त्याग* यहां विनिमय की मुद्रा है, जिसमें किए गए निवेश को स्वर्ग में अनेक गुना लाभ के साथ भुनाया

जा सकता है. **बाइबिल का नीचे लिखा उद्धरण ध्यान देने योग्य है :**

"तब राजा (ईसा मसीह) अपनी दाहिनी ओर वालों से कहेगा, "हे मेरे पिता के धन्य लोगो, आओ, उस राज के अधिकारी हो जाओ, जो जगत के आदि से तुम्हारे लिए तैयार किया गया है. क्योंकि मैं भूखा था, और तुमने मुझे खाने को दिया. मैं प्यासा था और तुमने मुझे पानी पिलाया. मैं परदेसी था और तुमने मुझे अपने घर में ठहराया. मैं नंगा था और तुमने मुझे कपडे पहनाए; मैं बीमार था और तुमने मेरी सुधि ली, मैं बंदीगृह मैं था और तुम मुझसे मिलने आए.'. "तब धर्मी उसको उत्तर देंगे,' हे प्रभु हमने तुझे कब भूखा देखा और खिलाया? या प्यासा देखा और पानी पिलाया? हमने कब तुझे परदेसी देखा और अपने घर में ठहराया? या नंगा देखा और कपड़े पहिनाए? हमने कब तुझे बंदीगृह में देखा और तुझसे मिलने आए?' तब राजा उन्हें उत्तर देगा, मैं तुमसे सच कहता हूं कि तुमने जो मेरे इन छोटे से छोटे भाइयों में से किसी एक के साथ किया, वह मेरे ही साथ किया".(मत्ती. २५:३४-४०)

बाइबिल के इस स्थल को उद्धृत करते हुए एक विचारक का दावा है, कि दबे कुचले जरूरतमंद लोगों की भलाई के लिए दान के कार्यों के महत्त्व को बाइबिल (नव्यसंदेश) में स्थान स्थान पर रेखांकित किया गया है, *''जब कि सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में इस तरह की बात खोजने पर भी मिलना मुश्किल है".* दीन दुखियों की सेवा को साक्षात् परमात्मा की सेवा मानना, यह निर्विवाद रूप से ईसाई धर्म का उज्ज्वल पक्ष है. किन्तु यह स्थल, जिसे श्री रवि रवीन्द्रन ईसाई धर्म के परम वैशिष्ट्य का निदर्शन मानते हैं, एक भिन्न कारण से भी ध्यान आकर्षित करता है. भूखे को भोजन देना, प्यासे को पानी पिलाना, जो नंगा है उसे कपड़े देना, बीमार की सेवा करना, उदारता के ये सभी कार्य द्रव्यत्याग के उदाहरण हैं.

द्रव्यत्याग से आगे जा कर, कामनाओं के परित्याग की बात, मन की वासनाओं के परित्याग की बात हमें सामी धर्मग्रन्थों में दूर दूर तक देखने को नहीं मिलती. शायद उनमें यह चेतना ही नहीं थी कि रोटी, पानी, कपड़ा और सुश्रूषा के अलावा हमारे भीतर और भी बहुत कुछ मूल्यवान् है जिसका त्याग किया जा सकता है. द्रव्यत्याग, महत्त्वपूर्ण होते हुए भी, त्याग का प्राकृत रूप है, शरीर के त्याग को भी उसमें गिन लिया जाय तब भी. द्रव्यत्याग निर्विवादरूप से धर्म की प्राथमिक उपलब्धि और शील है. लेकिन यह यात्रा का पहला कदम है, मंज़िल नहीं, न तो त्याग ही की और न ही धर्म की.

मुसलमानों के पवित्र धर्मविधान में यह आश्वासन है कि 'ज़ेहाद' में प्राणोत्सर्ग करने वाले मुसलमान, बिना निर्णय के दिन की प्रतीक्षा किए, तुरंत जन्नत(स्वर्ग) में प्रवेश करेंगे, जहां प्रत्येक के लिए बड़ी बड़ी आंखें वाली ७२ हूरें तथा और भी बहुत से मनोवांछित भोग मिलेंगे. इस आश्वासन से आश्वस्त, हजारों ईमान के पक्के मुसलमान नौजवान हर साल काफिरों के खिलाफ जेहाद करते अपने प्राण दे जाते हैं. अपनी परिणति में भयावह होते हुए भी उनकी यह कुर्बानी, है तो औरतों के लिए ही, उस भोग के लिए जिसमें अति व्यासंग को इस धरती पर भी निकृष्ट ही माना जाता है. स्पष्ट है कि कुर्बानी का यह रूप निम्नकोटिक है, और तत्प्रयोजक धर्मविधान इस धरती के प्राकृत मूल्यों का अतिक्रमण नहीं करते. वे स्वर्ग तक उनके दायरे का विस्तार जरूर करते हैं. **'त्रैगुण्यविषयाः वेदाः'** का यही निहितार्थ है.

पुस्तकपंथ धर्म की अवर कोटि है, क्योंकि, पहली बात यह कि इसमें त्याग प्राकृत भोगेच्छाओं से प्रेरित होता है, दूसरी बात यह कि यह त्याग विनिमय का रूप लेता है, अतः निराकांक्ष न हो कर, इसका रूप सीमित और साकांक्ष है; तीसरी बात यह कि इसमें त्याग का अर्थ द्रव्यत्याग ही हो सकता है, क्योंकि स्थूलरूप के कारण अनुमाप्य होने से, द्रव्यत्याग ही शास्त्रों की दण्ड और पुरस्कार की व्यवस्था का विषय होने की योग्यता रखता है.

३.२. साधनापथ में त्याग का स्वरूप :

साधना के पथ में त्याग द्रव्य का न हो कर व्यक्तित्व के मनोवैज्ञानिक उपादानों का होता है. किन्तु हम व्यक्तित्व की निर्मायक सामग्री का, भाव और विचारों का उस तरह त्याग नहीं कर सकते, जैसे सोना चांदी और आभूषणों का त्याग करते हैं. अतः यहां त्याग का एक सूक्ष्म, अन्तरंग रूप प्राप्त होता है, जिसे मन की साधना के द्वारा सिद्ध किया जाता है.

शास्त्रनिष्ठ आस्था (पुस्तकपंथ) में मन की साधना की कोई खास भूमिका नहीं हो सकती. वहां आचरण महत्त्वपूर्ण है. यदि आचरण विहित है, शास्त्र में बताए तरीके से किया गया है, तो उससे अपेक्षित फल की प्राप्ति होगी ही, मन कहां जा रहा है, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता. लेकिन साधना का तो अर्थ ही मन की साधना है. योग की विभिन्न विधाएं इसका निकट निदर्शन हैं. समर्पण के लिए तत्तद् मनोपादानों के सम्बन्ध से इसकी अनेक विधाएं बनती हैं. भक्तियोग में समर्पण भावनाओं का होता है, तो कर्मयोग में फलासक्ति का, ध्यानयोग में मन के बिखराव

का, तो ज्ञानयोग में अनात्मभाव का. यह द्रव्य का नहीं, केवल शरीर या इन्द्रियों का नहीं, बल्कि मनोवैज्ञानिक उपादानों का समर्पण है जो साधना को धर्म में रूपान्तरित करता है. त्याग की प्रक्रिया को अपेक्षाकृत सूक्ष्म, अंतरंग उपादानों तक ले जाने के कारण यह आस्था का एक विरल, उच्चतर रूप है. इसके वाबजूद, साधना का मार्ग भी व्यक्तित्व के प्राकृत उपादानों में ही ढला है, और पुस्तकपंथों की भांति यह भी सापेक्ष है, त्रैगुण्यविषयक है.

३.३. द्रव्यत्याग की अपेक्षा मनोपादानों के त्याग की श्रेष्ठता :

त्रैगुण्यविषयक होने के वाबजूद, यह योग ही है जिसमें निस्त्रैगुण्यता की साधना में रूपान्तरित होने की सामर्थ्य है. योग में यह योग्यता उसके उपादान वैशिष्ट्य से प्राप्त होती है. त्याग का स्वरूप त्याग की वस्तु (उपादान) से तय होता है. किसी त्याग में अपने उपादान के स्वभाव का अतिक्रमण करने की सामर्थ्य नहीं होती. पशु का त्याग किस हद तक पाशविक होता है, यह देखना है, तो उन लोगों के आचरण को देखें जो पशुवध को कुर्बानी का पर्यायि मानते हैं. इसी प्रकार अन्न, स्वर्ण, भूमि आदि का त्याग भी इन पदार्थों के जड़ स्वभाव का ही अनुसरण करता है. उसमें आत्मविसर्जन के द्वारा उच्चतर चेतना में अपने उद्धार की सामर्थ्य नहीं होती. त्याग के इन द्रव्यमानों से भिन्न, योग मनोपादानों में त्याग की साधना का नाम है. व्यक्तित्व के चेतन अधिष्ठान के साथ अव्यवहित सान्निध्य से प्रकाशित होने के कारण, जाग्रत विमर्शयुक्त इस साधना में आत्मोत्सर्ग के द्वारा निस्त्रैगुण्य परमार्थ में प्रवेश की सामर्थ्य होती है.

३.४. आस्था के समस्त आलम्बनों का त्याग ही त्याग की हद :

साधनापथ में अहंकार की गांठ सर्वाधिक मजबूत, मुखर और उच्छृंखल होती है. यह उसकी त्रैगुण्यविषयता का निकट निदर्शन है. समर्पण की आभ्यन्तर साधनाएं, जिस अहंकार को जन्म देती हैं, वे अक्सर साधना का अवरोधक बनते हुए, अन्ततः साधक के पतन का ही कारण बनती हैं. ऋषीमुनियों की तपश्चर्या, उनकी अलौकिक शक्तियां और उन शक्तियों के साथ उनमें आए दुर्दम्य अहंकार के कथानक गाथा बन चुके हैं. एक ओर साधना, अन्तःकरण की शुद्धि करती है; आवरण को हटाते हुए, अन्तःकरण के ज्ञान और शक्ति के दायरों का विस्तार करती है, तो दूसरी ओर, अपने क्रम में अहंकार की पर्त का आक्षेप करती चलती है, जो अन्तःकरण की शुद्धि को सम्पूर्ण नहीं होने होने देती. इस अहंकारग्रन्थि का भेदन, प्रबुद्ध योगसाधक स्वयं अपनी साधना

का विसर्जन करके करते हैं. त्याग की साधना में अन्तिम आहुति अहंकार का अलम्बन बनी साधना की ही होती है. ऐसी आत्माहुति योगधर्म में ही सम्भव है, पुस्तकीय-धर्म में नहीं. जहां धर्मग्रन्थ की कथित अवमानना को ले कर दंगे हो जाते हैं, वहां धर्मग्रन्थ के विसर्जन की बात सोची भी कैसे जा सकती है. त्याग की आत्यन्तिक सिद्धि आस्थालम्बनों के विसर्जन के द्वारा होती है, और यह विसर्जन एक जाग्रत आत्मचेता आस्था में ही सम्भव है. इस विसर्जन के बाद त्याग के लिए कुछ बचता ही नहीं है. यही निस्त्रैगुण्यता है.

४. *'निस्त्रैगुण्यता'* की निवर्तक उपपत्तियां :

४.१. समस्त धर्मोपाधियों का त्याग, निस्त्रैगुण्यता का प्राथमिक अर्थ : निस्त्रैगुण्यता का प्राथमिक अर्थ तो त्रैगुण्यविषयता के निषेध से ही प्राप्त होता है. एक ओर पुस्तक, गुरू और उनके उपदेशों पर टिके धर्मविग्रह, दूसरी ओर साधना के कल्प – यह सम्पूर्ण विस्तार त्रैगुण्यविषयता का आभोग है. ये बैसाखियां हैं जिन पर आस्था के साकार विग्रह टिके हैं. इनका परित्याग आस्था के परमार्थ में प्रवेश की पहली शर्त है.

त्रिगुणात्मिका वृत्तियों का त्याग, निस्त्रैगुण्य के स्वरूप को, तदनुसार धर्म के परमार्थ को रेखांकित करता है. शास्त्र द्रव्यत्याग का विधान करते हैं, बदले में स्वर्ग के भोगों का आश्वासन देते हैं. साधना में तत्तद् मनोपादानों का समर्पण, अपेक्षाकृत सूक्ष्म, अन्तरंग और उच्चतर कोटि का होते हुए भी त्याग की हद नहीं है, क्योंकि उसमें अहंकार का त्याग नहीं हो पाता. साधना के विमर्शरूप में प्राप्त अहंकार का त्याग साधना के द्वारा सम्भव नहीं है. इसके लिए अपरिहार्य हो जाता है उस साधना का त्याग जो अहंकार की अन्तिम शरणस्थली बनी हुई है.

त्याग की हद वह है जब त्याग की साधना का भी विसर्जन हो जाए; उन साधनों का भी त्याग हो जाए जिनके द्वारा त्याग किया जा रहा है. साधन के परित्याग से त्याग निराकांक्ष हो जाता है. त्याग की यह आत्यन्तिकता ही निस्त्रैगुण्यभाव है, धर्म का परमार्थ, उसके ठहराव की, उसके एकीभाव की अविचल कोटि. जिसमें त्याग करने को भी कुछ न बचे, वही त्याग की पराकाष्ठा है. महाभारत के शान्ति पर्व में निस्त्रैगुण्य की साधना को इन शब्दों में प्रस्तुत किया है :

त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तं त्यज।। महाभारत (शा.प.३३१.४४)

(धर्म का त्याग कर और अधर्म का भी; सत्य और असत्य का त्याग कर; सत्य और असत्य दोनों का त्याग करके, उस साधन का भी, जिससे त्याग करता है, त्याग कर.)

शास्त्रों के विधान, उन पर आधारित धर्म और साधना के विविध पंथ – ये सब आसक्ति की आखिरी पोटली हैं जिनके त्याग के बिना त्याग सम्पूर्ण नहीं होता, और त्याग की सम्पूर्णता के बिना आस्था के परमार्थ में प्रवेश सम्भव नहीं है. सरमद और अहमदशाह बदख्शानी जैसे सूफी संत अल्लाह को मानते हैं और उसके रसूल को मानने से इन्कार करते हैं जो संस्थागत इस्लाम का सैद्धान्तिक मूलाधार है. ''*ला इलाहा लिल्लिलाह, मुहम्मद रसूलिल्लाह* ''(अल्लाह के सिवा कोई पूज्य नहीं है, और मुहम्मद उसका रसूल है.), इस पूरे कलमे को पढ़ने के बजाय, सरमद *ला इलाहा लिल्लिलाह,* केवल इतना ही कलमा पढ़ते थे. इस अपराध के लिए, बादशाह औरंगज़ेब ने उनका सर कलम करवा दिया था. अपने पैगम्बर के प्रति कल्पित या वास्तविक अपमान के लिए, आज भी मुसलमान दुनियां में जब तब तूफ़ान खड़ा करते रहते हैं. लेकिन इस्लाम में ही ऐसे साधक हुए हैं जो अपने और अल्लाह के बीच किसी मध्यस्थ को स्वीकार नहीं करते

पञ्ज दर पञ्ज ए खुदा दारम।
मञ्चि परवा ए मुस्तफ़ा दारम।।

(मैं खुदा से सीधे पञ्जा मिलाता हूं. मुझे मुस्तफ़ा की क्या परवाह).

पुस्तक और पैगम्बर के रूप में धर्म के संस्थागत सांचे का परित्याग धर्म का परित्याग नहीं, बल्कि उसके परमार्थ में, उसकी पूर्णता में प्रवेश का द्वार है. यह निस्त्रैगुण्यता की कोटि है, जिसमें शास्त्र और उनके विधान, साधना के सभी पंथ, उसी तरह अप्रासंगिक हो जाते हैं, जैसे मंजिल पर पहुंचे व्यक्ति के लिए वाहन, नदी पार कर चुके यात्री के लिए नाव अप्रासंगिक हो जाती है. यह अवस्था उस विद्यार्थी की तरह है जिसे अब अभ्यास पुस्तिकाओं की जरूरत नहीं रह गई है; उस बालक की तरह है जिसने उंगली पकड़ कर चलना छोड़ दिया है. त्याग के अभ्यास की सामग्री का परित्याग, त्याग का परित्याग नहीं, अपितु त्याग के अन्तरंग निराकांक्ष वैभव में प्रतिष्ठित होना है. इस सूत्र को ठीक से समझ कर चलें तो यह बात सहज समझ में आ जाएगी कि पुस्तकपंथ की सीमित अर्थवत्ता में आस्था का जागरण, धर्म का निषेध नहीं अपितु धर्म के व्यापक अर्थ में, उसकी परा-पुस्तकीय अवधारणा में प्रवेश का सोपान है. जब तक आस्था

साध्य है, शास्त्रविधि के द्वारा या साधना के द्वारा, वह सापेक्ष है, अपने परमार्थ से दूर है. आस्था के ये सापेक्षतापादक पर्याय ही उसकी त्रैगुण्यविषयता है. समस्त साधनों की अप्रासंगिकता की चेतना में प्रवेश ही निस्त्रैगुण्यता है.

४.२. 'निस्त्रैगुण्यता' का वस्तुगर्भ :

ऊपर निस्त्रैगुण्यता के व्यतिरेकी अर्थ को कहा. इसके भावरूप को गीता में इस प्रकार निबद्ध किया गया है : *निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्'* . यहां चार विशेषणों के द्वारा इसके भावानुबंध को बताया है. प्रत्येक विशेषण के साथ, 'निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' इसमें प्रयुक्त 'भव' पद का अध्याहार होगा. इस प्रकार *'निर्द्वन्द्वो भव,' 'नित्यसत्त्वस्थो भव,'* आदि व्याख्येय वाक्यों की प्राप्ति होगी.

सांख्यदर्शन के अनुसार सत्त्व, रज और तम, इन तीन गुणों के बीच अनवरत द्वन्द्व के द्वारा प्रकृति में सृजन और विकास की प्रक्रिया अस्तित्व में आती है. गुणों के बीच एक दूसरे को अभिभूत करने की स्पर्धा का नाम है द्वन्द्वात्मकता. गुणों का सहज व्यवहार होने से, द्वन्द्वात्मकता में त्रैगुण्यविषयता अर्थतः प्राप्त है. अतः निस्त्रैगुण्य के निर्वचन में **'निर्द्वद्वः'** यह पहला विशेषण दिया गया. प्रकृति का व्यवहारमूल होने से, द्वन्द्वात्मकता को प्रकृति के यावन्मात्र कार्यों में, धर्म और नैतिकता के प्राकृत अवतरणों में सहज देखा जा सकता है. सुखदुख, शत्रुमित्र, प्रिय-अप्रिय, धार्मिक-अधार्मिक, आस्तिक-नास्तिक, मोमिन और काफ़िर — ये द्वन्द्व हैं, जो हमारी चेतना में संकोच का आधान करते हुए, एक संकुचित, विभाजक मूल्यबोध की प्रतिष्ठा करते हैं. निर्द्वन्द्व होने का अर्थ है, द्वन्द्वों से उत्पन्न विभाजक मूल्यबोध से मुक्त होना. यह निर्द्वन्द्वभाव प्रतिबन्धक दायरों को निरस्त करके करुणा के प्रवाह को निरुपाधिक बनाता है.

द्वन्द्व और द्वन्द्वात्मकता में जो बारीक अन्तर है उसे यहां स्पष्ट कर देना जरूरी है, अन्यथा गंभीर प्रकार की गलतफहमियां पैदा हो सकती हैं. अन्योन्याभावी अर्थयुग्मों की प्राप्ति का नाम है द्वन्द्व, यथा सुखदुःख, प्रिय-अप्रिय, शत्रुमित्रादि अर्थयुग्म. विरुद्धार्थों की प्राप्ति, विरुद्धार्थता का अतिक्रम, उच्चतर सत्ता में विरुद्धार्थों का संग्रह — इस सम्पूर्ण पद्धति का नाम है द्वन्द्वात्मकता. यथा सर्वात्मभाव में प्रिय-अप्रिय, शत्रुमित्रादि विरुद्धार्थों का विसर्जन.

'नित्यसत्त्वस्थो (भव)' का अर्थ है, ***तू सात्त्विकभाव में अविचल प्रतिष्ठा को प्राप्त कर.*** सत्त्व शब्द के अर्थ हैं, सत्ता, प्राण, ज्ञान, सद्गुण आदि. सभी प्राणियों में एक ही सत्ता की प्रतिष्ठा है,

इस भाव में अविचल स्थिति का ही नाम है नित्यसत्त्वस्थ होना. *सत्त्वस्थ होना* और *निर्द्वन्द्व होना,* दोनों ही निरुपाधिक करुणा की ही साधना हैं, एक अभेद दृष्टि अर्थात् सांख्य के द्वारा दूसरी भेद-निराकरण अर्थात् योग के द्वारा.

४.३. 'निर्द्वन्द्व' और *'नित्यसत्त्वस्थ'* भावों के नैतिक निहितार्थ *:*

निर्द्वन्द्व होना, निरुपाधिक करुणा की पूर्वशर्त है. जहां द्वन्द्व है वहां हमदर्दियां भी विभाजित होती हैं अपने और परायों के बीच. वहां प्रेम और घृणा हो सकती है, करुणा नहीं. करुणा निरुपाधिक होती है, वह विभाजन स्वीकार नहीं करती. पात्र-अपात्र का भेद नहीं करती. उसका स्नेहिल स्पर्श, सूर्य की किरणों की भांति सब के लिए होता है, निराकांक्ष और निरुपाधिक. पुस्तकपंथों में, विशेष कर सामी धर्मों में, प्यार और नफरत के उपदेश एक साथ चलते हैं. अपने धर्मबान्धवों के लिए प्रेम और कुर्बानी, विधर्मियों के लिए, जिन्हें वे 'विपथगामी' (heretics) 'काफिर' आदि नाम देते हैं, घृणा और असहिष्णुता. यह द्वन्द्व इन धर्मों के प्राकृतमूल से प्राप्त है.

द्वन्द्व का अतिक्रमण करके निरुपाधिक करुणा में प्रवेश करने के लिए आवश्यकता होती है आत्मविमर्श में जाग्रत, चेतन आस्था की. शब्द के अनुपालन को धर्म का परमार्थ मानने वाले विधिविजड़ित पुस्तकपंथ में आत्मालोचन की न सामर्थ्य होती है न ही उसके लिए कोई अवकाश, क्योंकि दिव्यवाक् अनुपालन के लिए होता है, समीक्षा के लिए नहीं. निरुपाधिक-करुणा, वह ज्ञान या योग की साधनाओं से प्राप्त हो या फिर मानववादी जीवनादर्शों से, ठेठ पुस्तकपंथों के लिए अनैतिकता का पर्याय हैं.

दान और दया के सद्गुण करुणा के संक्षिप्त पैमाने हैं. दाता और याचक के भेद पर आधारित, ये गुण दाता में अहंकार का और याचक में दैन्य का आधान करते हैं. इन से भिन्न, करुणा दान की तरह दी नहीं जाती, उसमें दान का अहंकार नहीं होता. सब तक पहुंचना उसका स्वभाव होता है. न ही यह करुणा, दया की तरह दूसरों की दीनता पर आश्रित होती है. सर्वात्मभाव से प्राप्त यह सहजशील है, अहंकार के विमर्श से शून्य. दान और दया जैसे सद्गुण जिनका धर्मग्रन्थों में बड़ा गुणगान हुआ है वस्तुतः करुणा के प्रवाह में डूबते उतराते अहंकार, दैन्य और चाटुवृत्ति के कणमात्र हैं.

द्वन्द्व, विखण्डन का पर्याय है, इस रूप में समग्रता का प्रतिबन्धक. यह एक बड़ा भरम है जिसे बड़े बड़े लोग भी पाले रहते हैं, कि द्वन्द्व के दोनों धुरों के संग्रह से पूर्णता की प्राप्ति हो सकती है, या फिर एक धुरे को छोड़ कर दूसरे को पकड़ने से द्वन्द्व का अतिक्रमण किया जा सकता है.. पहली भ्रान्ति का निदर्शन उन लोगों के चिन्तन में देखने को मिलता है, जो अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक, अगले और पिछड़े आदि द्वन्द्वों को इकट्ठा करके भारत की अस्मिता को परिभाषित करने की कोशिश करते हैं. दूसरे प्रकार के भ्रम का निदर्शन वैष्णवाचार्यों के चिन्तन में देखने को मिलता है. जो भगवान् श्रीकृष्ण में प्रेम के आदर्श की पूर्णता दिखाने के लिए पहले उनकी १६ हजार रानियों की परिकल्पना करते हैं; इस विस्तार में भी समग्रता को न पाकर परकीया प्रेम की परिकल्पना करते हैं.

वे सोचते हैं कि स्वकीया में प्रेम मर्यादाओं के बंधन में होने के कारण सम्पूर्ण नहीं हो सकता. अतः प्रेम और समर्पण की पूर्णता परकीया में ही हो सकती है. वे भूल जाते हैं कि स्वकीय और परकीय, एक ही द्वन्द्व के अन्योन्य फलक हैं. स्वकीय अगर मर्यादाओं के कारण परिच्छिन्न है तो परकीय प्रतिमर्याद होने के कारण. एक सिरे को छोड़ कर दूसरे को ग्रहण करने से द्वन्द्व का अतिक्रमण नहीं होता, सिर्फ संक्रमण होता है, एक विकृति से दूसरी विकृति में. स्वकीया की बजाय परकीया में प्रेम की पूर्णता की अविचारित तलाश ने श्रीकृष्ण के चरित्र में कितने अनर्थों की वृद्धि की है उनकी चर्चा यहां न ही हो तो अच्छा.

त्याग को द्वन्द्व, विखण्डन और विनिमय की दुनियांदारी से उठा कर, करुणा उसे आस्था के परमार्थ की हैसियत देती है. ऐसा परमार्थ, जिसमें अपने लिए कुछ भी बचा कर नहीं रखा जाता. अतः परामर्श है : ***निर्योगक्षेमो (भव) — तू बिना योगक्षेम वाला बन.*** योग (आय) और क्षेम (सुरक्षा), लोकयात्रा के लिए अपेक्षित आर्थिक सुरक्षा के स्वरूप को रेखांकित करते हैं. योगक्षेम के प्रति तटस्थता फ़कीरी आदर्श है जो *निस्त्रैगुण्यता* में संग्रहीत त्याग के आदर्श को एक साकार, सामाजिक बिम्ब प्रदान करता है. त्याग की इस लम्बी साधना में जो नहीं छूटता, जो अन्त तक बना रहता है, वह है आत्मसन्दर्भ. यह निस्त्रैगुण्यता का एकाकी साक्षी है, जिसकी अपलक दृष्टि निस्त्रैगुण्यता को सम्हाले रहती है, उसे शून्य में फिसलने से रोकती है. इसी को लक्ष करके कहते हैं, ***आत्मवान् (भव),*** *तू आत्मवान् बन.*

आत्मा में विश्वास करने से कहीं बड़ी बात है आत्मवान् होना. समस्त प्रपंच के आधार में, समस्त मूल्यव्यवस्था के मूल में और उससे परे आत्मा को देखना, इसी को कहते हैं आत्मवान् होना. जो आत्मा को नहीं मानते, आत्मवान् वे भी हो सकते हैं, या यों कहें कि उन्हें भी होना पड़ता है, क्योंकि आत्मसन्दर्भ को स्वीकार किए बिना, शील की, सदाचार की, यहां तक कि शून्य और अनात्मवाद की भी सिद्धि सम्भव नहीं है.

५. निस्त्रैगुण्यता का अर्थशास्त्र : *'यावानर्थ उदपाने ...'*

'आत्मवान् (भव) इस परामर्श के साथ अवसित होता है ऊपर दिया श्लोक. आत्मभाव भी ऐसा जिसमें योगक्षेम भर की सांसारिकता के लिए भी अवकाश नहीं. ऐसे असंभव आदर्श के साथ लोकयात्रा का निर्वाह कैसे हो पाएगा? निस्त्रैगुण्य के आदर्श में प्रतिष्ठित व्यक्ति का कर्म के साथ कैसा और कितना सम्बन्ध हो, इसे स्पष्ट करने के लिए अग्रिम श्लोक प्रवृत्त होता है :

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥४६॥

समस्त वेदों में एक प्रबुद्ध ब्राह्मण के लिए उतना ही अर्थ (प्रयोजन) होता है जितना एक ऐसे तालाब में जो सब ओर से पानी से लबालब है.

व्यवहार में आने के लिए आदर्श को व्यवहार के योग्य होना पड़ता है. अपने आदर्श रूप के साथ मतलब भर का समझौता करना पड़ता है. अन्यथा, आदर्श तो आदर्श ही रहता है, लेकिन अव्यवहार्य होने से वह किसी का आदर्श नहीं बन पाता. आभूषण में गढ़े जाने के लिए विजातीय को स्वीकार करना सोने की विवशता है. विजातीय को कितना स्वीकार किया जाए, यह व्यवहार के प्रयोजन से ही तय होता है.

निस्त्रैगुण्यता में व्यवहार की विवशता से जिस विजातीय तत्त्व को स्वीकार करना है वह हैं वेद. इस विजातीय से एक प्रबुद्ध ब्राह्मण का कितना सम्बन्ध हो, इसे नाप कर बताते हैं — **यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके, तावान्** — ***उतना ही जितना एक प्रबुद्ध आदमी के लिए, पानी से सब ओर से लबालब तालाब से होता है.***

अर्थ गाम्भीर्य की दृष्टि से यह श्लोक मनन के योग्य है. विद्वान् भाष्यकारों ने इसके अलग अलग अर्थ किए हैं. किन्तु पूर्व श्लोक के संदर्भ से उदपान(तालाब) के रूपक का अर्थ सहज

उद्भासित हो जाता है. पूर्व श्लोक में, निस्त्रैगुण्य की बात कही गई है, जिसका अर्थ है, आस्था को सांसारिक सरोकारों से मुक्त करना, स्वयं अपने योगक्षेम के प्रति निरपेक्ष होना. किन्तु यह तो एक असंभव आदर्श है. न तो आस्था को सांसारिक सरोकारों से पूरी तरह से मुक्त किया जा सकता है और न ही कोई व्यक्ति 'योगक्षेम' रहित होकर जी सकता है. इसी आशंका को ध्यान में रखते हुए, तालाब के रूपक के द्वारा पहले कही बात को नए सिरे से कहते हैं. तालाब भले ही सब ओर से जल से लबालब हो, एक प्रबुद्ध-ब्राह्मण तालाब के साथ केवल उतना ही सम्बन्ध रखता है, जितने से उसकी स्नान, पान आदि की सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहे.

तालाब के साथ समझदार लोग अपनी अपनी वृति के अनुसार अलग अलग प्रकार के सम्बन्ध बना सकते हैं. उसकी अर्थिक सम्भावनाओं को ध्यान में रखते हुए कुछ सिंचाई और पशुपालन के लिए उसके उपयोग की योजनाएं बना सकते हैं, या फिर उसे एक सुन्दर मनोरंजन-स्थल का रूप देने की सोच सकते हैं. परिवेश का अधिकाधिक दोहन आज की उपभोक्ता संस्कृति की मौलिक प्रतिबद्धता है. थोड़े ही लोग ऐसे होते हैं जो अपने परिवेश से कम से कम लेने की बात सोचते हैं. उनके लिए तालाब दैनिक आवश्यकता से प्राप्त चंद क्षणों के रिश्ते से अधिक नहीं. यह निस्त्रैगुण्य में दीक्षित, प्रबुद्ध व्यवहार है, जिसका संग्रह करने के लिए, श्लोक में ***'ब्राह्मणस्य विजानत:'*** को उद्देश्य बना कर प्रस्तुत किया गया है.

'ब्राह्मणस्य विजानत:' का अर्थ है, ऐसा ब्राह्मण जो वेद को जानता है, साथ ही उनकी सीमाओं को, और उन सीमाओं का अतिक्रमण करके प्रतिष्ठित परमार्थ को भी. वैदिक कर्मकाण्ड ब्राह्मण के लिए विहित जीविका है. यदि वह गीता के अर्थ में प्रबुद्ध है, तो उसका अपनी वैदिक जीविका के साथ उतना ही सम्बन्ध होगा, जितना पानी से भरपूर तालाब के साथ. तालाब की विशाल जलराशि में से वह उतना ही लेता है, जितनी उसकी दैनिक आवश्यकता है. सब ओर से लबालब तालाब का वैभव, दुनियांदार लोग जिसके लाभकारी दोहन की योजनाएं बनाते हैं, उसके भीतर दिलचस्पी की कोई लहर पैदा नहीं करता.

बात सार्वजनिक साधनों के प्रयोग की हो या फिर जीविकोपार्जन की, ***निस्त्रैगुण्य*** के आदर्श में दीक्षित व्यक्ति का इनके साथ सम्बन्ध न्यूनतम परिग्रह से परिभाषित होता है. वह जानता है कि वेदों का ज्ञान अभ्युदय की कुंजी है. दूसरों के अभ्युदय के लिए वह इसके प्रयोग भी करता

रहता है. लेकिन जहां तक उसकी अपनी बात है, उसका वैदिक कर्मकाण्ड के साथ सम्बन्ध जीविकोपार्जन भर का होता है, जिसे मुश्किल से ही योगक्षेम नाम दिया जा सकता है.

निस्त्रैगुण्यता के आदर्श में जाग्रत व्यक्ति का वेदों के साथ, तदुपलक्षित अभ्युदयमूलक धर्म के साथ सम्बन्ध केवल इतना भर होना चाहिए कि लोक यात्रा का निर्वाह होता रहे. यह योग धर्म में प्रवेश की प्राथमिक अर्हता है. भोग और ऐश्वर्य की तलाश दुनियांदारी का आदर्श है. इनका कोई भी प्रकर्ष धर्म का परमार्थ नहीं हो सकता. दुनियांदारी के न्यूनतम सरोकारों तक सीमित करते हुए गीता व्यक्ति के भीतर ही उस परमार्थ की तलाश करती है, जो आस्था का अविभाजित, चिरन्तन आधार है. इसको इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि अनीश्वरवादी, यहां तक कि अनात्मवादी भी इसे बिना किसी असुविधा के स्वीकार कर सकते हैं.

६. आस्था के परापुस्तकीय आदर्श का महत्त्व :

इसकी मान्यता अनायास ही सभी पुस्तकपंथों को एक सीमित अर्थवत्ता के दायरे में ले आती है, और उनके कभी न सुलझने वाले मतभेदों को, उनके ऐकान्तिक प्रामाणिकता के दावों को, सारे संसार को चिरंतन संघर्ष की आग में झोंकने वाले परधर्मोच्छेदक संदेशों को, अनायास ही अर्थहीन बना देती है. जब आस्था के पुस्तकीय सांचे, धर्म का परमार्थ न हो कर, देश-काल के संदर्भों में केवल उसके स्थानीय कल्प हैं, जब सभी धर्मों के शास्त्र एक सीमित ऐतिहासिक दायरे में ही सार्थक हैं, सीमित अर्थवत्ता में ही सांस लेते हैं तो क्या 'पहली किताब' और क्या 'आखिरी किताब'. सभी किताबें एक बंद कमरे में दौड़ लगाने की तरह हैं, जिसमें धावकों के इन पारस्परिक दावों के कि कौन तेज दौड़ता है, कोई मायने नहीं होते, क्योंकि उनमें से कोई भी कमरे से बाहर निकलने की सामर्थ्य नहीं रखता.

रेल के डब्बे के अन्दर दौड़ने से न तो स्टेशन जल्दी आ सकता है, और न ही वह दौड़ने वाला और लोगों से पहले मंजिल पर पहुंच सकता है. उसकी दौड़ निरर्थक है, पागलपन है, क्योंकि वह रेल की गति में दूसरों के साथ सहभागी होने के लिए बाध्य है. सभी पुस्तकपंथ एक सीमित अर्थवत्ता में सहभागी हैं; उनके बीच में 'हमारी किताब आखिरी किताब' और 'हमारे नबी आखिरी नबी' आदि मान्यताएं और उन पर आधारित श्रेष्ठता के दावे कोई मायने नहीं रखते.

निस्त्रैगुण्यता की साधना लम्बी तैयारी चाहती है. सबसे इसकी न तो आशा की जाती है, और न ही यह सब के लिए आवश्यक ही है. आवश्यकता है केवल इसे आस्था परिकल्प के रूप में मान्यता देने की. इसकी स्वीकृति धर्म को, उसका नाम और विग्रह कुछ भी हो, एक नया अर्थ देती है, अपनी गोद में उठाकर उसे अपनी मुस्कान से नहला देती है. विग्रहाभिनिवेशजन्य दुराग्रहों से उसका उद्धार करके, उसे उस धरातल से जोड़ती है जो द्वन्द्वमुक्त निरुपाधिक करुणा की भूमि के रूप में सभी धर्मविग्रहों का पूर्वकल्प है.

७. पुस्तकपंथ की समीक्षा की दो भिन्न सैद्धान्तिक परिणतियां : योरुप में धर्मनिरपेक्ष मानववाद और भारत में धर्म की परा-पुस्तकीय अवधारणा :

१. समीक्षा के योरुपीय सन्दर्भ : योरुप ने अपने यहां के प्रचलित पुस्तकपंथी धर्मों (ईसाई, यहूदी और इस्लाम) की तंग कबीलाई नैतिकता के विरुद्ध व्यापक मानवादी मूल्यदर्शन का विकास किया. पुस्तकपंथी धर्मों ने अपने 'ईश्वरीय विधानों' के द्वारा मानव समाज में जो विभाजन, घृणा और अलगाव की अनतिक्रमणीय रेखाएं खींची थीं, उन्हें नकारते हुए, योरुप के विचारकों ने मानव की अंतरंग गरिमा की मूल-मान्यता पर आधारित, मानवमात्र की स्वतंत्रता, समानता और बांधुत्व के मानववादी मूल्यों की प्रतिष्ठा की. वैचारिक दृष्टि से यह योरुप की एक बहुत बड़ी उपलब्धि थी. सैद्धान्तिक दृष्टि से इसकी अपनी सीमाएं थीं – यथा मानववाद का सरोकार केवल मानव था, मानवेतर प्राणिजगत् का दर्द, जो अनादि काल से मानव के अत्याचारों को चुपचाप झेल रहा है, मानववाद के सरोकारों में नहीं आता. लेकिन इससे इसका महत्त्व कम नहीं हो जाता.

हमारे लिए मानववाद की प्रासंगिकता इस बात में है कि इसने धर्म की परलोकोन्मुखी नैतिकता को, धार्मिक और विधर्मी, ईमानवाले और काफिर, के भेद पर टिकी उसकी पक्षपातपूर्ण नैतिकता को नकारते हुए, मानव की अंतरंग गरिमा पर आधारित जीवनदर्शन प्रस्तुत किया.

योरुप के विचारक जब धर्म की आलोचना करते हैं तो उनके लिए धर्म का अर्थ होता आस्था का पुस्तकीय विग्रह. धर्म ***अपुस्तकीय*** या ***परापुस्तकीय*** भी हो सकता है, यह बात तो आज भी योरुप वालों के लिए समझ के बाहर की बात है. योरुप में मानववादी विचारकों द्वारा

धर्म की आलोचना निरपवाद रूप से पुस्तकपंथ की ही आलोचना है, लगभग वैसी ही जैसी गीता में वेदवाद को निमित्त बना कर की गई पुस्तकपंथ की आलोचना. लेकिन दोनों में जो सूक्ष्म अन्तर है, उसे समझ लेना चाहिए.

योरुप के लिए पुस्तकपंथ धर्म का पर्याय है, इससे आगे धर्म के किसी अर्थ में उसकी गति है ही नहीं. अतः वहां धर्म की आलोचना, जोकि वास्तव में उसके पुस्तकीय विग्रहों की आलोचना है, अनन्यगत्या धर्म के विरोध और धर्मनिरपेक्षता के मानववादी आदर्श में पर्यवसित होती है. इससे सर्वथा भिन्न, गीता जब पुस्तकपंथ की आलोचना करती है तो यह आलोचना आस्था का उच्छेद नहीं करती, अपितु आस्था के एक व्यापक अर्थ के, उसके परा-पुस्तकीय स्वरूप के अनुसंधान का सोपान बन जाती है. इसका कारण है हिन्दुओं में आस्था के निरंतर परीक्षण और समीक्षा की प्राचीन परंपरा, जो केवल एक उदार, वैमत्य-सहिष्णु परिवेश में ही सम्भव है.

७.२. समीक्षा के भारतीय संदर्भ : योरुप अपने *प्रकाशितधर्मों* (revealed religions) के जिस निराशाजनक यथार्थ के प्रकाशन को देख कर आज अनास्था में फिसल रहा है, हिन्दुओं ने हजारों साल पहले उसका साक्षात्कार कर लिया था. श्रीमद्भगवद्गीता में विधिमूलक धर्म की जो समीक्षा की गई है, उसका आधार है उपनिषदों की यह अन्तर्दृष्टि -

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति।। (मुण्डकोपनिषद्-२.७)

(ये यज्ञरूप नौकाएं जिनमें अठारह प्रकार के अंगभूत कर्म आते हैं, अदृढ़ हैं. जो मूर्ख 'यही श्रेय है,' ऐसा मानकर इनका अभिनन्दन करते हैं, वे निःसंदेह बारम्बार जरा और मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं)

यहां से शास्त्रों के विधान के बजाय या उनके समनन्तर, अनुभव में आस्था के आधारों को खोजने का सिलसिला प्रारम्भ होता है. इसने सर्जनात्मक धर्मचिन्तन की एक समृद्ध परम्परा को जन्म दिया. इसका विवरण दिया जाए तो हिन्दूधर्म का इतिहास तैयार हो जाएगा. यहां इतना भर कहना काफी है कि यह इतिहास पुस्तकीय अनुबंध से आस्था की मुक्ति का, पुस्तकीय से परापुस्तकीय तक की यात्रा का इतिहास है. इस यात्रा को गीता *'त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन'*, इस एक वाक्य में संग्रहीत करती है.

७.३. संसार के लिए धर्म की परापुस्तकीय अवधारणा का महत्त्व :

विधिमूलक स्वर्गपरायण पुस्तकपंथ आस्था का परमार्थ नहीं हैं, इस यथार्थ को, जिसे समझने में योरुप को वैज्ञानिक प्रगति की अनेक सदियां लग गईं, हिन्दुओं ने उसे हजारों साल पहले हृदयंगम कर लिया था. संसार को इस देरी की बहुत बड़ी कीमत देनी पड़ी है. मानववादी मूल्यों की लगभग सार्वभौमिक स्वीकृति के वाबजूद, पुस्तकपंथों की कबीलाई मानसिकता से, उनके द्वारा प्रचारित आस्था की जातीय-अवधारणा और उसके प्रसारवादी मूल्यबोध की पकड़ से यह धरती आज भी उबर नहीं पाई है.

योरुप की साम्राज्यवादी वृत्ति के पीछे व्यापारिक कारणों के अलावा ईसाई धर्म की सारे संसार में ऐकान्तिक बर्चस्व की ललक भी एक कारण थी. मुस्लिम देशों के साम्राज्य प्रसार का तो एक मात्र प्रयोजन अन्य धर्मों का उच्छेद करके बलपूर्वक इस्लाम की स्थापना करना था. इस्लाम का समस्त सभ्य-संसार के विरुद्ध जेहाद आज भी चल रहा है. दूसरी ओर, इंग्लैण्ड और अमेरिका जैसे प्रमुख ईसाई देशों के सभ्यता को बचाने के नाम पर ईराक आदि देशों पर हमले के रूप में प्रति-जेहाद भी चल रहा है. यह इस बात का पैमाना है कि आज भी एक बड़े भू-भाग पर पुस्तकपंथी धर्मों के कबीलाई संस्कारों की पकड़ कितनी जबरदस्त है. प्रमुख पुस्तकपंथी धर्म — ईसाई और इस्लाम धर्मों की सारे संसार पर ऐकान्तिक वर्चस्व की अदम्य ललक आज इस धरती पर अशान्ति का सबसे बड़ा कारण है.

यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि आस्था के कारण उत्पन्न समस्याओं के धर्मनिरपेक्ष समाधान नहीं हो सकते. आस्था की समस्याओं का समाधान उच्चकोटि की आस्था ही हो सकती है. इस पृष्ठभूमि में, धर्म के आदर्श रूप में गीता का परापुस्तकीय परिकल्प असाधारण महत्त्व का हो जाता है.

■ ■ ■

चतुर्थ एकक:

(बुद्धियोगविचार)

(क) कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि॥४७॥

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योःसमो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥४८॥

(ख) दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥४९॥

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥५०॥

कर्म करने में ही तेरा अधिकार है, फलों में कभी नहीं. अतः तू कर्मफल का हेतु मत बन और तेरी अकर्मण्यता में भी आसक्ति न हो (४७). हे धनञ्जय! तू योगस्थ हो कर आसक्ति का त्याग कर के कर्म कर; सिद्धि-असिद्धि में सम होकर, क्योंकि समत्व को ही योग कहा जाता है (४८).

बुद्धियोग की अपेक्षा कर्म (सकामकर्म) दूर से (अत्यन्त) ही निकृष्ट है. अतः हे धनञ्जय! तू बुद्धि का आश्रय ले; क्योंकि फल के हेतु (अपने को फल का हेतु अतः अधिकारी मानने वाले) अत्यन्त दीन हैं (४९). बुद्धि से युक्त मनुष्य यहीं, पुण्य और पाप दोनों का त्याग कर देता है. अतः तू योग में लग जा, क्योंकि योग ही कर्मों में कुशलता है (५०).

चतु:श्लोकात्मकस्यैककस्यास्य त्रयो विभागा:। साधन-स्वरूपोपपत्ति-फलश्रुतिविषयका:। प्रथमौ द्वौ श्लोकौ (४६-४८) निरूपयत: कर्मयोगस्य साधनाया: द्वौ चरणौ क्रमश: कर्तृकर्मशुद्धि-विषयकौ। कामनाजनितद्वन्द्वानां निराकरणेन समत्वे पर्यवसतीयं द्विधा संशुद्धिसाधना।

बुद्धियोगो न तु समत्वं हि चरमोपलब्धिर्योगस्य। अग्रिमश्लोको(४९)बुद्धियोगादवरत्वं निरूपयन् कर्मण: (विधिरूपधर्माणाम्), शुद्धबुद्ध्यामेव शरणान्वेषणायावाहनम्। पञ्चाशत्तमो श्लोको हि फलश्रुति: बुद्धियोगस्य। श्लोकाविमौ एककस्य क्रमश: द्वितीयतृतीविभागौ।

१. प्रवर्ततेऽत्र योगचिन्तनस्य वैचारिकपृष्ठभूमिविमर्श: समुचितपरिज्ञानाय सिद्धान्तस्य।

१.१ न्यूनतमावश्यकतासु परिग्रहसंकोचो हि निस्त्रैगुण्यपरमार्थोन्मुखस्य योगस्य आधारभूतसमय:। 'यावानर्थ उदपान' इति समयस्थापनानन्तरं योगस्योपदेशक्रमे प्रथमं प्राप्यते कर्मयोगविचार:। अयं हि कर्मानुष्ठानस्य शैलीविशेष: य: कर्मणि करोति परानैतिकवैशिष्ट्यस्याधानम्।

१.२ हिन्दूदर्शनस्य कर्मसिद्धान्त: तन्निष्ठकर्मबंधनस्य परिकल्पो हि वैचाारिक-पृष्ठभूमि: कर्मयोग-चिन्तनस्य। कर्मसिद्धान्तो हि नैतिकमूल्यानां संग्रहस्य सिद्धान्त:। भोग्यरूपेण संग्रहीतानि शुभाशुभ कर्माणि विवशयन्ति पुनर्जन्मं भोगभूमिरूपम्। इदमेव कर्मबन्धनम्। प्रत्येक: प्राणी स्मृत्यां संचितपूर्वानुभवं सम्मुखं निधाय, सुखसंवेद्यं भोगं पुनरापन्नाय प्रवर्तते कर्मणि। एवं वासनासंस्कारनिमित्ताद् भोगेच्छा, भोगेच्छया कर्म, कर्मण: कर्मफलं, फलात्फलभोग: सुखदभोगात्पुन: भोगेच्छा, भोगेच्छया पुन: कर्मप्रवृत्तिरिति एका अनवरतकर्म-भोगश्रृंखला चलत्यविरामम्। इदमेव कर्मबधनं जन्मजन्मान्तरव्यापिनं यस्यातिक्रमणं विना स्वरूपबोधे, आस्थाया: परमार्थे वा प्रवेशोऽशक्य:।

१.३. कथं कर्मबन्धनान्मुक्तिरित्यधिकृत्य भारतीयदर्शने मुख्यतया द्वे मते । कर्मबन्धनस्याज्ञानमूलत्वाद-वास्तविकत्वाज्ज्ञानेनैवास्य निराकरणमिति ज्ञानमार्गिण:। कर्मबन्धनं वास्तविकं, नैतिकाचरणा-दस्य निराकृतिरिति कर्मवादिन:। समीक्षार्हे उभे मते । कर्मबन्धनान्मुक्तेरुपायानुसंधानतत्परा: ज्ञानमर्गिण: बन्धनस्यैव वास्तविकतां अस्वीकुर्वन्त आक्षिपन्ति स्वात्मनोपक्रमस्यैव वैयर्थ्यम्। पुन: कर्मणैव कथं सम्भवति कर्मबन्धनान्मुक्तिरिति कर्मवादिनां मूलसमस्या। परम्परायां प्राप्येते उभयमतविशिष्टे समाधाने।

अस्यां पृष्ठभूम्यां गीता प्रतिग्रहणाति समस्यां आमूलविचाराय। तत्त्वदर्शनकर्ममीमांसयो: स्थाने कर्मण: मनोविज्ञानं भवति गीताचिन्तनस्य प्रस्थानबिन्दु:। परिणामस्तु एका

मनौवैज्ञानिकविश्लेषणाश्रितसाधनापद्धतेर्विकाशः या स्वकीयेन सार्वजनीनसर्वसम्प्रदाय-सामान्यस्वरूपानुरोधेन वैज्ञानिकेनानायासं भजते व्यापकस्वीकार्यताम्।

१.४ कर्मयोगो नाम कामनानुबंधमुक्तकर्मानुष्ठानकौशलम्। संसार एव दृश्यते कामनानुबंधमुक्ताः केचन कर्मप्रकाराः यथा-अनैच्छिककर्म, अनुपालनं, नित्यकर्म, कर्माणि च लोकसंग्रहाय।

कर्मयोगचिन्तनस्य विकाशे परं महत्त्वं भजन्ते इमे कर्मप्रकाराः, नैष्काम्यस्य निकटनिदर्शनत्वात् सिद्धान्तनिर्माणप्रक्रियाया मार्गदर्शकत्वाच्च । अनैच्छिककर्मणः शुभाशुभ-निरपेक्षं बन्धनविमर्श-मुक्तस्वरूपमाकर्षयति गीताम् –

> नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
> पश्यञ्श्रृण्वन्स्पृञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्।।
> प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
> इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।। (गीता. ५. ८-९)

१.५ संकल्पनिरपेक्षं हि अनैच्छिकं कर्म। महत्त्वपूर्णमस्य निर्वैयक्तिकं स्वरूपम्। अनैच्छिकत्वान्न जायते तत्र फलाधिकारस्तज्जन्यफलहेतुताविमर्शश्च। इदं हि अबन्धनकरत्वमनैच्छिककर्मणः। कथमनैच्छिककर्मणः कासांचिदुन्मोचकविशेषतानां ऐच्छिके कर्मणि संग्रहो भवेदियं हि मूलसमस्या कर्मयोगस्य साधनापक्षस्य।

२. 'कर्मण्येवाधिकारस्ते...' इति श्लोके कर्मयोगस्य साधनायाः प्रथमचरणस्य सोपानद्वय-निबद्धस्य निरूपणं कृतं वर्तते। अधिकारभावस्य कर्मणि नियमनं फले च निषेधो हि प्रथमं सोपानं, कर्तरि फलहेतुताया अकर्मणि चासक्तेर्निषेधो द्वितीयः। एवं चतुर्णामासक्तिपर्यायाणां निराकरणेन भवति कर्मयोगस्य साधनायाः प्रथमचरणस्य सिद्धिः।

३. सूक्ष्म-मनोवैज्ञानिक-विश्लेषणाश्रितायां पारिभाषिकशब्दावल्यां गुम्फितं साधनायाः सूक्ष्मरहस्यै गौरवान्वितं इदं हि गीतायाः दुराराध्यस्थलेष्वेकम्। अतोऽर्हतीदं विस्तृतं व्याख्यानम्।

४. *'कर्मण्येवाधिकारस्ते..'*इत्यस्य विचारक्रमे प्रवर्ततेऽत्र फलाधिकारविमर्शः।

४.१ कर्मणि फलाधिकारनिबन्धो हि लोकव्यवस्थाया आधारः धर्मव्यवस्थाया अपि। लोके समाजः राज्यशासनञ्च निश्चायकौ कर्तुः फलाधिकारस्य, अलौकिकभूमौ तु शास्त्राणि अस्य

नियामकानि। फलाधिकारानुबंधो हि नैतिक-सामाजिक-राजकीय-धार्मिकाणां सर्वासां व्यवस्थानां मौलिको सिद्धान्त:।

४.२. फलाधिकारानुबंधस्त्वेक: लोकव्यवस्थाकल्प:। अलौकिकेषु क्षेत्रेषु अस्य विस्ताराज्जायते एकं विलक्षणमर्थशास्त्रं यदत्र कृतं विहिताचारं अदृष्टमुद्रायां रूपान्तरयन्, अमुत्राभीष्टभोगान् सम्प्रापयति। इदं दिव्यार्थशास्त्रं हि सामान्यपरिकल्प: सर्वेषां शास्त्रनिष्ठधर्माणाम्। भोगैश्वर्यस्य लौकिकमूल्यानां अनुवाद-विस्तार-विनिमयरूपत्वात्, शास्त्रनिष्ठा नैव भवितुमर्हति धर्मस्य परमार्थ:। अयमेव निहितार्थ: 'त्रैगुण्य विषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' इति सूत्रस्य।

पारस्परिकविरोधान्तर्विरोधेषु मध्ये विविधानि धर्मशास्त्राणि यं शीलं स्वीकुर्वन्ति निर्विवादं तद्धि त्यागस्य शील:। भोगनिमित्तस्य शास्त्रव्यवस्थाविहितत्यागस्य संक्षिप्तानुमापानि स्वत एव संकेतयन्ति परमार्थं त्यागस्य धर्मस्यापि तन्निरूपितस्य।

४.३. फलाकांक्षानिरपेक्षात्यन्तिकत्यागो हि धर्मस्य परमार्थ:। योगादस्य सिद्धि:। भवतु फलाधिकार: लोकव्यवस्थाया मौलिको सिद्धान्त:, नैतिक-धार्मिकदृशा तु अयमेक: तुच्छ: स्वार्थपरायणादर्श:। अधिकारस्त्वेक: स्वार्थानुबंध:, प्रतिबन्धक: त्यागस्य धार्मिकताया मौलिकशीलस्य। फलाधिकार-स्यांशिकसमर्पणाल्लभ्यन्ते धार्मिकमूल्यानि दान-दया- सेवात्याग-भक्त्यादीनि, येषां संहिताकरणं हि विषय: धर्मशास्त्राणाम्। यदा फलाधिकारस्यांशिक- समर्पणस्यैतादृश: शीलवैभव:, तर्हि का कथा अस्य सम्पूर्णसमर्पणस्य योगलक्षणस्य। फलधिकारस्य त्याग: यं परमार्थमुद्घाटयति तस्यापरिमितक्षितिजस्य सम्मुखं पुस्तपंथानां परस्परविविदमाना: विग्रहा: क्षुद्रा: प्रतीयन्ते, तेषां ऐकान्तिकप्रतिष्ठाभिनिवेशा: बालिशं उपहासास्पदञ्च।

४.४ अधिकारो हि पुरुषस्य योग्यता या ददाति तं कर्मानुष्ठानस्याधिकारम्। काम्यकर्मणि प्रथमा योग्यता तु कामना एव। 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यत्र स्वर्गकामना हि नियामिका अधिकारस्य यज्ञकर्मणि। तत्तत्कर्मणि तत्तद्योग्यता भवत्यधिकारनियामिका यथा 'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत'. इत्यनेन राज्याधिष्ठितस्यैव राजसूयेऽधिकार इति ज्ञापितो भवति। कर्ममीमांसाया: सन्दर्भे अवधेयमिदं यदधिकारेति शब्दस्य प्रयोग: कर्मसम्बन्धे कृतो वर्तते न तु फलसम्बन्धे। फलसम्बन्धनिरूपणाय फलस्वाम्येति शब्दस्य प्रयोग:।

४.५ व्यवहारे समानार्थकयोरप्यन्तरमधिकारफलस्वाम्यशब्दार्थयो:। तत्कालनिर्णयव्यवहारयोग्योऽधिकार: कर्तु: योग्यताप्रभवत्वात्, फलस्वाम्यन्तु तत्कालव्यवहारयोग्यताविरहितं,

उद्यमसापेक्षत्वात्, व्यवहितत्वात्, दूरस्थसम्भावनाविषयत्वाच्च । अयं विवेको ददाति सम्बुद्धिं '*कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन*' इत्यर्थे।

५. कर्मयोगस्य प्रथमचरणस्य साधनानिरूपणपरो 'कर्मण्येवाधिकारस्त'इति श्लोकः। अथेदानीमस्य व्याख्यानम्।

५.१. प्राणिनां कर्तृभोक्तृभावविमर्शहेतुर्हि अहंकारः, पर्यायः व्यावहारिकव्यक्तित्वस्य। अयमहंकारः परिकल्पते एतादृशं संसारं यत्र सर्वाणि मूल्यानि व्यवहारोपकारकत्वेन भवन्ति मूल्यवन्तः, साधयन्ति परिपोषयन्ति च व्यावहारिकं व्यक्तित्वं सर्वात्मना।

५.२. यथोक्तं व्यावहारिकं व्यक्तित्वं हि भूमिरतिक्रमणसन्दर्भोऽपि कर्मयोगस्य साधनायाः। भोक्तृभावस्यापलापनिरूपित-शुद्धकर्तृभावस्य प्रतिष्ठा हि अस्याः प्रथमं सोपानं '*कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन*' इति। कर्मणि कर्तुः अधिकारस्तु कर्तेति शब्दस्यार्थतः प्रसज्यते तद्विना तस्यार्थानुपपन्नत्वात्। नैतादृशं कर्मफलं; विप्रकृष्टत्वात्, व्यवहितत्वात् बाह्यकारणसापेक्षत्वादनन्तरंगत्वात् कर्मफलं नाश्रयति कर्तुरधिकारकोटिम्। इदं मनोविज्ञानं हि नियामकं साधनायाः प्रथमसोपानविनिश्चयस्य। अनेन साधनायां प्रथमं प्राप्यते भोक्तृभावस्य निराकरणम्। सुकरमिदं, कर्तृभावस्य तुलनायां भोक्तृभावस्य विप्रकृष्टत्वात्, बहिरंगत्वात् दुर्बलत्वाच्च। अतो '*कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन*' इति। श्लोकस्योत्तरार्धः '*मा कर्मफलहेतुर्भू मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि*' तमेवार्थमुन्मिषति व्यतिरेकमुखेन सविशेषम्।

६. क्रमागतो ह्यत्र साधनासन्दर्भस्य विशेषविचारो मनोविश्लेषणात्मकः।

६.१. भावरूपं कर्मबन्धनम्। कामनापूर्तये कर्म, कर्मणः फलागमः फलागमात् फलभोगः, भोगात्पुनः भोगेच्छा, पुनः कर्मप्रवृत्तिरिति कर्मचक्रे, विहाय कर्म, भावरूपा विद्यते सम्पूर्णा श्रृंखला। केवलं कर्म गृह्णाति स्थूलाकारम्। मनसोऽगाधोत्तालरंगिते सागरमध्ये आविर्भूतद्वीपवत् कर्म एव आश्रयः परिश्रान्तानां पारगन्तुमुद्यमिनाम्। कर्मयोगस्य साधनाया आधारस्तु कर्म एव निर्विवादम्। किन्तु सम्पूर्णसाधना सम्पद्यते मनोवैज्ञानिकधरातलेषु । अतो बन्धनभूमेर्सूक्ष्म-धरातलानां परिज्ञानं, तेषां भयावहपरिग्रहचेतनाप्रभववैकल्यं स्वत एव भवति मुक्तेरुपक्रमस्य भूमिः,अतो विजिज्ञासितव्यं हि तत्।

६.२. कामना संकल्पं जनयति। तत्रैव उपक्षयितव्या सा। किन्तु संकल्पे अनिःश्शेषा फलाभिसन्धिद्वारा सम्पूर्णोद्यमं संक्रमति सा। यदि कर्मणि कामनारोहो केनापि उपायेन बाधितो भवेत्, यदि

कामनायाः फलपर्यन्तातुर यात्रा अवरुद्धा भवेत्तर्हि काम्यकर्म अपि अनैच्छिककर्मणः उन्मोचकवैशिष्ट्येन युक्तं भवितुं शक्यते। एतावदेव नैष्कर्म्यसाधनारहस्यम्।

उद्यमस्य समान्तरो वासनापरिग्रहो ह्यैकानधिकृताचेष्टा। वासनाशक्त्याः क्रमशः जायते कार्य-परम्परा, कामना-संकल्प-कर्म संतातिरूपा। तत्रैवास्याः शक्तेरुपक्षयो भवितव्यः। किन्तु अनुपयुज्यस्नेहांशस्यानधिकृत-परिग्रहेण, वासनातंतोः विस्तारस्य वाहिका भवतीयं कार्यपरम्परा। यथा काचिद् स्नेहविवशा माता कन्यायाः कुशलवादाय रेलयानपर्यन्तं तामनुगच्छति, अनन्तरं आशंकाग्रस्ता अविज्ञातमेव यानमारुह्य कन्याया श्वसुरालयं प्राप्नोति मोहविवशा एतादृशी भवति कामनायाः फलपर्यन्तातुरयात्रा। सम्पूर्णोद्यमं ददातीयं निरीहमवाञ्छितमासक्तिविस्तारम्।

६.३. कर्ताकर्मसम्बन्धस्य द्वे रूपे अधिकारो विमर्शश्च। कर्तेति शब्दस्यार्थतः प्राप्तत्वात् कर्तरि कर्मसम्बन्धस्यान्तरङ्गता। अनया प्राप्यते कर्मणि कर्तुरधिकारः। तद्भिन्नं, अन्तरङ्गसम्बन्धि-सम्बन्धा अनुयोगिनि संक्रमिताः गृह्णन्ति विमर्शरूपं, स्वाभिमानस्य पुनर्निर्वचनत्वात्तेषाम् । तथाहि – कर्म तु कर्तुरन्तरंगसम्बन्धी। फलहेतुता एवं अकर्मासक्तिरुभे कर्मणः सम्बन्धी न तु कर्तुः। यदा कर्मसम्बन्धानुरोधेन एतयोः कर्तरि संग्रहः क्रियते, तदा जायते कर्तृभावस्फीर्तिः अहंकारविमर्शरूपा । एतेषामाक्षिप्तकर्मानुबंधानां निराकरणेन भवति अहंकारविमर्श-मुक्तशुद्धकर्तृभावस्य सिद्धिः।

फलहेतुता-अकर्मासक्तिश्चोभे आसक्तिपर्याये। फलहेतुता ह्येको व्यवहितः क्रमागतासक्ति-सम्बन्धः, फलाभिसन्धेः परावर्तरूपत्वात्; तद्भिन्नं, अकर्म तु आसक्तेः साक्षाद्विषयः निर्व्यवधानः। इदमन्तरम्। अतो *'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि'* इत्यत्र शब्दशः उक्ता भवति अकर्मासक्तिः, न तु सम्बन्धाक्षेपेण यथा *'मा कर्मफलहेतुर्भू'* रिति।

६.४ अकर्म अर्थात् कर्मणः निलम्बनं तत्क्षण एव प्राप्यते यदा साधकः कर्मणि फलाकांक्षासंक्रमणस्य निरोधायोपक्रमते। अवरुद्धे फलसम्बन्धे आसक्तिरनन्यगत्या अवलम्बते अकर्म। लोकेऽपि प्रतिहतोद्यमेषु जनेषु विशेषरूपेण बलवती दृश्यते अकर्मेच्छा। वासनातन्तोः नैरन्तर्याय आसक्तिः परिरक्षति द्वारं वैकल्पिकालम्बनाय। फलाभिसन्ध्यकर्मासक्तीत्युभयानिष्ट- सम्भावनासंक्रमितं ह्यकुशलं कर्म। आभ्यां सुरक्षितस्य कर्मनिष्पादनस्य योगत्वाद्योगो हि कुशलः कर्मोपायः निर्विकल्पः।

७. शुद्धकर्तृभावस्य प्रतिष्ठा हि कर्मयोगस्य साधनायाः प्रथमं चरणम्। कर्तरि आक्षिप्तआसक्ति-जनितागन्तुकार्थराशेः क्रमिकनिस्तारणात् सम्पद्यत इदम्। द्वितीयं चरणन्तु कर्मशुद्धेः साधनायाः।

यावत् कर्मणः शोधनं न भवेत् तावत्तदारूढ-भावानुबन्धानां कर्तरि प्रत्यावर्तो भवत्यपरिहार्यः, कर्तुरन्तःसम्बन्धित्वात्कर्मणः। एकस्मिञ्श्लोके दीयते ह्यालेखः कर्मशोधन-प्रक्रियायाः :-

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।

७.१. द्वे विधाने एकं स्पष्टीकरणं चार्थगर्भोऽस्य श्लोकस्य। प्रथमं विदधति योगस्थितिं द्वितीयं च कर्मानुष्ठानमनासक्तम्। *'समत्वं योग उच्यत'* इति स्पष्टीकरणं योगस्थपदार्थस्य। अपि च विधानद्वयोरङ्गभूतौ समत्वानासक्तविधी। अस्याः सामग्र्याः सुसम्बद्धविवरणेन प्राप्यते कर्मयोगस्य क्रियाविधिः।

७.२. योगस्थः कुरुकर्माणीति वाक्यं हि 'योगस्थो भव' 'कर्माणि कुरु' इति विरुद्धार्थयोः संसृष्टिः। अनयोः अभीष्टसाधनायां संग्रहः परिकल्पते मनःकर्मयोरुद्देश्यपूर्णं परिष्कारम्। 'समत्वं योग उच्यते' इत्यनेन न्यूनतममनोयोगस्यावश्यकस्य परिग्रहः क्रियते कर्मसंग्रहाय। अपरतः *सङ्गं त्यक्त्वे*ति कर्मणः परिष्कारस्य विधिः, येन परिष्कृतं कर्म सामर्थ्यमर्जयति योगे संग्रहस्य।

७.३ *योगस्थः* इत्यर्थो हि 'समत्वे स्थितो भूत्वा', *'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते'* इत्यस्य विनिगमकत्वात्। समत्वस्यापि द्वौ अर्थौ। मूल्यद्वन्द्वयोर्मध्ये बौद्धिकविनिश्चयलब्धसमत्वं, उपादानभूतासक्तिक्षरणप्रभवद्वन्द्वात्मकतायाः अपलापजन्यसमत्वम्। प्रथमप्रकारो हि बौद्धिक-विनिश्चयलब्धसमारम्भकल्पः, अपरस्त्वभिदधात्यादर्शस्य प्रतिष्ठां साधनापरिकल्पिताम्।

७.४ अस्त्यत्र प्रयोजनविशेषः समत्वस्य प्राथमिक-परिनिष्ठितकल्पयोरभ्युपगमस्य। योगस्थे अनुपपन्ना कर्मप्रवृत्तिः प्रवर्तकहेतुविरहत्वात् । अतो 'योगस्थः कुरु कर्माणि' इति वाक्ये कर्मविधानस्य वैयर्थ्यप्रतिविधानाय, कर्मण्यन्वेष्टव्यं किमपि कार्यम्। अतो योगस्थपदे या समत्वप्राप्तिःसा तु समारम्भपरिकल्पत्वेनैवेत्यभ्युपगमो भवत्यपरिहार्यः। इतः प्रारभ्यते कर्मणः आलम्बने आसक्तित्यागस्य साधना(सङ्गं त्यक्त्वा कर्माणि कुरु), या समत्वस्य परिनिष्ठित- स्वरूपस्य सिद्ध्यां पर्यवसति। समत्वस्य समारम्भ-परिनिष्ठितकल्पयोः मान्यतां विना अनुपपन्नो भवति कर्मयोगः अर्थोऽपि प्रकृतश्लोकस्य।

७.५. कर्मयोगस्तु क्षीणप्रायभावानुबन्धत्वात् उत्साहस्य परम्परया पराक्रमस्यापि अवसानमिति शङ्कामालक्ष्य धनंजयेति सम्बोधनस्योपचारः। स्वपराक्रमेण धनानि जयतीति धनंजयः। अदीनः कर्मयोगी,

अखण्डितपराक्रमः। महाभारते नैके योद्धारः भीष्मद्रोणादयः जयाजये निरपेक्षाः सन्तः युद्धे प्रवृत्ताः। एतेषां कर्मयोगिनां शौर्यं युद्धकौशलं समर्पणं उद्देश्यं प्रति किंचन्मात्रमपि प्रभावितं न दृश्यते फलाकांक्षाया अभावेन। अतो धनंजयेति सम्बोधनं भ्रान्तिनिराकरणाय कर्मयोगविषये।

७.६. 'योगस्थः कुरु कर्माणि' योगे (समत्वे) त्वं स्वकीयां स्थितिं पुष्टां कुरु, इत्यर्थः। एतदर्थं प्रवर्तेते '*सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा*', '*सङ्गं त्यक्त्वा*' इति द्वे निष्पादनसूत्रे समारम्भ-परिनिष्ठित-समत्वकल्पपरे । समत्वस्य प्राथमिकनिवेशादारभ्य, कर्मणि आसक्तिनिराकरणस्य साधना, आसक्तिनिराकरणान्मूल्यबुद्धेर्निराकरणं, तस्माद् द्वन्द्वस्य, द्वन्द्वनिराकरणात्समत्वबुद्धेर्प्रतिष्ठा – अयं हि समत्वात्समत्वपर्यन्तं कर्मयोगस्य साधनापन्थाः।

७.७-९. आसक्तेर्द्वे रूपे, फलाभिसन्ध्यकर्मासक्तिश्च। एतयोः संक्रमणात्सुरक्षितमविचलं मनो भवति योगस्थम्। कर्मणि सुकरा अस्य सिद्धिः। अत उच्यते 'योगस्थः कुरु कर्माणि' इति। कर्म आलम्बनं कृत्वा योगे प्रतिष्ठितो भव इत्याशयः, स्थिरालम्बनानां मूर्तिचित्रादीनां तुलनायां कर्मण आलम्बने ध्यानस्य सुकरत्वात । स्थिरालम्बने ध्यानं यतन्तं मनः तदालम्बनं स्ववृत्तिप्रवाह-समनुपात्यवयवेषु विभज्य अवयवक्रमेण ध्यानं करोति स्थिरालम्बनस्य। प्रवाहरूपे कर्मणि विभाजनस्यावश्यकता नास्ति, स्वभावागतत्वात्तस्य। अतो कर्मणः सहजालम्बनत्वं मनोयोगस्य, प्रयत्नलाघवत्वात्। अनुभूतमिदं यद् ध्यानस्य सहजप्रतिपत्तिस्तु प्रवहमानालम्बनेषु कर्म-दीपकज्योति-जलप्रवाह-श्वासप्रश्वास-मन्त्राक्षरेष्वेव भवति। एतेषां कर्म विशेषत्वात् कर्मण्येव प्राप्यते ध्यानस्य सामान्यालम्बनत्वम्।

७.१०. तत्तधिष्ठानेषु विकीर्णवासनातन्त्रस्य मूलाधिष्ठानं तु अन्तःकरणमेव। कर्तृकर्माधिष्ठानयोरस्य क्रमिकनिराकरणस्य साधना परम्परया अन्तःकरणस्य शुद्ध्यामेव पर्यवसति। शुद्धान्तःकरणस्य सिद्धेर्नाम बुद्धियोगः शुद्धबुद्धिसम्बन्धपर्यायः। समत्वबुद्धिर्हि अस्य पूर्वकल्पः। बुद्धियोगादनन्तरं यत्प्राप्तव्यत्वेनावशिष्यते तत्तु शुद्धबुद्ध्या एव प्रतिष्ठा आचरणस्यैकान्तिकनियामकत्वेन।

८. बुद्धियोगो हि कर्मयोगस्य पर्यवसितार्थः। साधनायाः तृतीयं चरणमिदम्। परिनिष्ठितेऽस्मिन् साधनाचरणे तिरस्कृत्य कर्मविधानान्प्राकृताप्राकृतान् शुद्धबुद्धिरधिभवति एकमेवाद्वितीय-मालम्बनमनुशास्ता चास्थायाः –

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।।

बुद्धौ शरणानुससंधानपरामर्शस्त्वत्र केन्द्रीयकथ्यम् । अस्य समर्थने दीयते द्वे युक्ती, बुद्धेराश्रयस्य तुलनायां अवरत्वं कर्माश्रयस्य दैन्यं च तदाश्रयिणां कर्मफललिप्सूनाम्।।

८.१ बुद्धौ शरणमन्वेष्टव्यं स्वधर्मानुसंधानाय इत्यनुषङ्गः। अभूतपूर्वमाह्वानमिदम्। इह संसारे आप्तपुरुषाः अवतरितशास्त्रवचनानि च पारम्परिकालम्बनानि धर्मस्य। तान् विहाय परप्रणीतानास्थायाः प्रामाणिकालम्बनत्वेन शुद्धबुद्धेः स्थापना त्वेकाभूतपूर्ववैचारिकस्थापना धर्मदर्शनदृशा, दूरगामिपरिणामसंवृत्ता। योगोपपन्नायाः शुद्धबुद्धेर्महिमायं यो जनं सामान्याति-सामान्यमुत्त्थापयति युगदृष्ट्रमनीषीणामुछ्रायेषु, ददाति तं साक्षात्कारात्मकप्रज्ञायां प्रवेशं यो हि पुस्तकपंथेषु विशेषाधिकारः केचिच्चयनितानामवतरितपुरुषाणां पैगम्बरादीनाञ्च।

८.२ शुद्धबुद्धेरुपसत्तिर्हि स्वतंत्रतायाः भूमेरवतरणं, विश्रम्भालयस्यास्थायाः। अस्य सम्मुखं दण्डपुरस्कारचक्रे पतिताः सततसम्भ्रमिता आस्थायाः कर्मानुबंधाः प्रतीयन्ते तुच्छाः अपर्याप्ता-नुपसंहार्याश्रयकल्पाः।

९. 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय', बुद्धियोगादवरपदस्था हि कर्मनिष्ठा, इत्याशयः, तस्याः नित्यपरोक्षत्वात्, परप्रत्ययाश्रितत्वात्, मानवस्यान्तरंगगरिमव्यतिरेकित्वात्, साकांक्षत्वाच्च। अत उक्तं भवति, 'कृपणाः फलहेतव' इति।

१०. ये जनाः आत्मानं मन्यन्ते फलकारकं ते तु कृपणाः अतीव दीना इत्यर्थः। फलकारकत्वाभ्युपगमात्फलाधिकारः, अधिकारादधिकृते आसक्तिः, आसक्त्या अपेक्षा, सततापेक्षया कार्पण्यमित्यनवद्यमानुपूर्व्यम्।

१०.१ फलाधिकारो हि लोकन्यायस्य मूलाधारः। आस्थायामस्य विस्ताराज्जायते धर्मस्य विधिमूला-वधारणा यस्यां दिव्यन्यायो हि केन्द्रीयविचारकल्पो धर्मस्य। एवं लोकन्यायस्य परस्परभाविसंकोचस्याधानाज्जायते एकः आस्थाप्रकारः यः युगपदेव मानवस्य तस्यास्थायाः स्वयं परमात्मनः करुणायाः अवमूल्यनं करोति फलाधिकारसंकोचस्य दरिद्रेण स्पर्शेन।

१०.२. विधिमूलकधर्मेषु मानवो हि अनुपाल्यमात्रम्। अनुपाल्यवदनुशासनीयोऽसौ। विधानाननुमोदितस्य तस्य विवेकस्य बुद्धिविमर्शाश्रितनैतिकबोधस्यापि न किमपि स्थानं संहिताबद्धधर्मेषु, चापल्यवदनुपाल्यस्य। मानवस्य दरिद्रगरिमहीनावधारणेयं अर्थतः प्राप्यते आस्थायाः विधिकल्पाद्।

१०.३. नास्त्यधिकश्रद्धेया 'सप्तमे आकाशे' विराजमानस्य न्यायाधीशरूपेण ईश्वरस्यावधारणा, तस्यानिर्बन्धकरुणायाः विधेरविषयत्वात्। सृष्ट्या सह अनन्तसम्बन्धसम्भावनासु धर्मस्य व्यवस्थापकरूपेण ईश्वरस्यावधारणायां न काऽपि विप्रतिपत्तिः। किन्तु सम्बन्धसम्भावनानां आदर्शस्तु परमात्मनः करुणायां, तस्य पूर्णतायां सहभागेन निष्पन्नकृतार्थता एव। विधानानुसारं दण्डपुरस्कारवितरकन्यायाधिकारित्वं तु परमात्मन्यारोपः परस्परभावानुषंगि- लोकव्यवहारानु-बंधस्य। अवमूल्यनमिदं परमात्मनः करुणायाः। किमाश्चर्यं यद् हिन्दूधर्मः न्यायाधीशरूपेण कल्पते यमराजं न तु परमात्मानम्।

१०.५. '*कृपणाः फलहेतवः*' इति वाक्यं वस्तुतः '*दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय*' इति वाक्ये हेतुं परामृशन् एकवाक्यतां भजते 'बुद्धौ शरणमन्विच्छे'ति मूलसंदेशेन सह.

१०.६ एवं सम्पन्नो भवति आस्थायाः शास्त्रीयानुबंधानां अपर्याप्ततानिदर्शनपुरस्सरं आस्थायाः विश्वसनीयाधारत्वेन बुद्धियोगस्य प्रतिष्ठायाः क्रमः।

११. को लाभः बुद्धौ शरणान्वेषणस्य इत्यालक्ष्य स्पष्टीकरणं दीयते :

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।५०।।

११.१ योगो हि कर्मणः कुशलनिष्पदनस्य विधिर्येन कर्म प्राप्नोति शुद्धस्वरूपमात्रतां बन्धनमूलसर्वमूल्योपसर्जनविमुक्ताम्। निर्बीजत्वान्नेतः प्रभवति भोगभोक्तव्यभोगायतनपरम्परा। एवं निःसन्तानं योगस्थकर्मोपक्षीणं भवत्यस्मिन्नेव लोके । अस्यैव संग्रहः क्रियते '*बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृत*' इति श्लोकपूर्वार्धे।

११.२. वासनाया अमूर्तत्वादसम्भवोऽस्याः साक्षान्निरोधो निराकरणं वा। अस्याः निराकरणं तदैव सम्भाव्यते यदेयं कर्मण्यारूढा भवति। अतो उपायः परामृश्यते, 'तस्माद्योगाय युज्यस्वे'ति।

११.३ कर्मविग्रहस्तु वासनायाःसर्वाधिकं दुर्बलं सर्वाधिकं आक्रमणीयं स्थलम्। क्षीणबला हि कर्मारूढा वासना, कामना-संकल्प-कर्मेति उत्पादप्रक्रियायां शक्तेः क्रमिकोपक्षरणत्वात्। अत्र मनसो तमिस्रगह्वरनिलीनवासना बहिरागत्य, कर्मणि साकारा भूत्वा व्यक्तिं याति। अतो निग्राह्यापीयमत्रैव। सुदुष्करः आखेटः कन्दरागह्वरे निलीनस्य। सुकरो भवत्ययं यदा लक्ष्यं निर्बाधे सुप्रकाशिते समभूमौ आविर्भवति। आसक्तेरभिज्ञानं, निरोधः, उच्छेदश्च तदैव सम्भवति

यदेयं कर्मण्यारूढा भवति। अत्रैव सावधानसाधकः आसक्तिं परिवृणोति, प्रतिहन्ति तस्याः कर्मावरोहणम्। कर्मणि एव कर्मद्वारैव कर्मबन्धनान्मुक्तेरुपायो हि कर्मकौशलम्। अत उच्यते '*योगः कर्मसु कौशलमि*'ति।

११.४ क्षीणप्रायो भवत्यत्र लौकिकधार्मिकयोर्भेदः। कर्मयोगिनः सामान्यातिसामान्यं दैनिकं कर्म अपि भवतीश्वराधनम्।

१२. बुद्धौ शरणान्वेषणस्य गीतासंदेशः भजते परं महत्त्वं धर्मदर्शनाचारमीमांसानुशासनेभ्यः। आसक्तिनिराकरणनिमित्तशुद्धबुद्धिर्भवति प्रमाणं न केवलं तत्त्वावगतेः अपितु परानुशासिका आचरणस्यापि। साधकः यदीश्वरवादी, इयं शुद्धबुद्धिरेव भवति ईश्वरीयप्रेरणायाः संवाहिका। युगयुगेभ्यो 'भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयादि'ति गायत्रीमंत्रो हि हिन्दूनामधिकृता ईशवन्दना। बुद्धियोगस्य साधनया समान्यजनोऽपि लभते ईश्वरीयप्रेरणायां साक्षात्सहभागस्यार्हतामित्याश्वासनं विशेषयति हिन्दूधर्मं विविधेभ्यः पुस्तकपंथेभ्यः। ये न सन्ति ईश्वरवादिनस्तेभ्यस्तु बुद्धियोगो हि एकमेवाद्वितीयमास्थालम्बनम्। निरपवादं शुद्धान्तकरणलक्षणबुद्धियोगस्य महत्त्वम्।

एकक विमर्श :

चार श्लोकों के इस एकक के तीन विभाग है, जो क्रमशः कर्मयोग की साधना, परिनिष्ठितोपलब्धिरूप में बुद्धियोग की प्रतिष्ठा, तथा कर्म की तुलना में बुद्धियोग की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करते हैं.

प्रथम दो श्लोकों में (४७-४८), कर्मयोग की साधना के दो चरणों का सांगोपांग निरूपण है, जो क्रमशः कर्ता और कर्म के अधिष्ठानों में संशुद्धि की साधना को रूपायित करते हैं. कामनाजनित द्वन्द्वों के निराकरण के द्वारा सम्पन्न ये साधनाएं समत्वबुद्धि में पर्यवसित होती हैं. यह एकक का प्रथम विभाग है.

कर्मयोग की चूडान्तोपलब्धि बुद्धियोग है, समत्वबुद्धि नहीं. श्लोक ४९ में, बुद्धियोग की तुलना में कर्म के मार्ग को तुच्छ बताते हुए बुद्धि में शरण तलाशने का आवाहन है. श्लोक ५० में बुद्धियोग की फलश्रुति है. ये दो श्लोक एकक के क्रमशः दूसरे और तीसरे विभाग हैं.

१. कर्मयोग-चिन्तन की वैचारिक पृष्ठभूमि :

१.१. सन्दर्भ विचार : परिग्रह को न्यूनतम आवश्यकताओं तक सीमित करना, यह निस्त्रैगुण्य की दिशा में उन्मुख सभी साधनाओं (योगपर्यायों) की आधारभूत शर्त है. श्लोक ३६(**यावानर्थ उदपाने...**) में इस सामान्य शर्त के निर्धारण के बाद, योग-विशेषों की चर्चा के क्रम में सर्वप्रथम कर्मयोग के स्वरूप पर विचार किया गया है. कर्म के निस्त्रैगुण्यचेता अनुष्ठान का ही नाम है कर्मयोग. यह कर्म के करने की एक शैली है जो कर्म में एक परानैतिक वैशिष्ट्य का आधान करती है. गीता के दूसरे और तीसरे अध्यायों में कर्मयोग की चर्चा हुई है. दूसरे अध्याय में, कर्मयोग की साधना के मनोवैज्ञानिक आधारों का अनुसंधान करते हुए, उसके सिद्धान्त पक्ष पर विचार हुआ है जब कि तीसरा अध्याय मुख्यतया उसके व्यवहार-पक्ष पर विचार करता है. कर्म को उसके कामनानुबन्धों से मुक्त करने की साधना का नाम है कर्मयोग.

गीता के कर्मयोग विषय पर बहुत कुछ लिखा गया है, और जितना लिखा, कहा जाता है उतना ही विभ्रम का धुआं फैलता जाता है. उपदेशकों का यह प्रिय विषय है, किन्तु ईमानदारी से पूछा जाए तो आदर्श के रूप में यह आस्थावान् हिन्दुओं के भी मन को नहीं छूता, क्योंकि कोई यह मानने को तैयार नहीं कि प्रवृत्ति निष्काम भी हो सकती है. अनैच्छिक कर्म निष्काम कहे जा सकते हैं, इस अर्थ में कि वे हमारे संकल्प से उत्पन्न नहीं हैं. किन्तु वे भी हमारे शरीर की उद्देश्यपूर्ण संरचना से जुड़े हैं, शरीर की मांग को पूरा करते हैं, भले ही हम उसे पूरी तरह जानते न हों. अतः इन्हें भी निष्काम नहीं कहा जा सकता. इस जबर्दस्त विभ्रम को ध्यान में रखते हुए, समझ की स्पष्टता के लिए हिन्दूधर्म में कर्म के सिद्धान्त और कर्मबंधन के स्वरूप को निकट से समझ लेना जरूरी है.

१.२. कर्मबंधन का स्वरूप : कर्म का सिद्धान्त नैतिक मूल्यों के संग्रह का सिद्धान्त हैं. शुभाशुभ कर्म भावी भोगों के रूप में संग्रहीत होते चलते हैं और यह भोग संग्रह ही पुनर्जन्म का हेतु है, अतः बंधन है. भोग अर्थात् सुखद संवेदनाओं की तलाश प्राणी को कर्म में प्रवृत्त कराती है. सफल कर्म, कभी त्वरित फलागम के रूप में तो कभी अपूर्व रूप में संग्रहीत होते हुए कालान्तर में भोगों को उपलब्ध कराता है. फलागम के साथ कर्म का अवसान हो जाता है, किन्तु फल का भोग, संस्कारों में संग्रहीत 'तृप्ति' के एहसास के द्वारा पुनः भोगेच्छा को जन्म

देता है, जिसके कारण प्राणी पुनः उद्यम में प्रवृत्त हो जाता है. इस प्रकार वासना (भोगेच्छा) से कर्म, कर्म से फल, फल से फलभोग, उस भोग को यदि वह सुखद है तो फिर से भोगने की इच्छा के साथ भोग और कर्म की एक अटूट श्रृंखला अस्तित्व में आती है, जो जन्मान्तरों तक चलती है. यही कर्मबंधन है, जिसका अतिक्रमण किए बिना हम न तो अपने स्वरूप की समग्रता में प्रवेश कर सकते हैं और न ही आस्था के परमार्थ में.

१.३. कर्मबंधन से बाहर आने की की समस्या : इस कर्मबन्धन से बच निकलने का उपाय क्या है, इस बात को लेकर भारतीय दर्शन में मुख्यतया दो मत हैं. ज्ञानमार्गी कर्मबंधन को अज्ञानमूलक अतः अवास्तविक मानते हुए ज्ञान के द्वारा उसके निराकरण की बात कहते हैं. दूसरी और कर्मवादी सम्प्रदाय हैं जो इस बन्धन को वास्तविक मानते हुए नैतिक आचरण के द्वारा इससे मुक्ति की बात करते हैं. दोनों मतों की अपनी अपनी समस्याएं हैं.

ज्ञानमार्गी कर्मबन्धन से बचने का उपाय बताने के बजाय बन्धन की वास्तविकता को ही नकारते हैं, और समाधान के रूप में एक सर्वोपसंहारी तत्त्वदर्शन की परिकल्पना करते हैं, जिसमें कर्म के लिए, धर्म और सदाचार के लिए मुश्किल से ही कोई भूमिका तलाशी जा सकती है. दूसरी ओर, कर्म के ही द्वारा कर्मबंधन से कैसे मुक्ति मिल सकती है, इस बात का स्पष्टीकरण कर्मवादियों की मूल समस्या है. ऐसे कौन से कर्मविशेष (शील) हो सकते हैं, जो विशेष होते हुए उन विशिष्ट संस्कारों को न छोड़ें जिनसे कर्मबन्धन का निर्माण होता है, यह अनुसंधान कर्मवादी चिन्तन का बोझ है. दोनों ही विचारधाराएं, अपनी अपनी दृष्टि से कर्मबंधन के निराकरण के लिए विशेष प्रकार की साधना पद्धतियों का उपदेश करती हैं.

इस पृष्ठभूमि में गीता कर्मबन्धन के स्वरूप और उससे बाहर निकलने की समस्या पर नए सिरे से विचार करती है. तत्त्वदर्शन और कर्ममीमांसा के बजाय वह कर्म के मनोविज्ञान पर ध्यान केन्द्रित करती है. अपने अन्वेषण में गीता सर्वप्रथम उन कर्मों पर ध्यान केन्द्रित करती है, जो बंधनकारी नहीं होते. इस प्राथमिक तथ्य को सामने रखते हुए, वह कर्मयोग के रूप में, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर आधारित एक ऐसी साधना पद्धति का विकास करती है, जो साम्प्रदायिक प्रतिबद्धताओं से मुक्त, सर्वजन सुलभ, सर्वसम्प्रदायसामान्य होने से व्यापक स्वीकृति की योग्यता रखती है.

१.४. चिन्तन की मूल-सामग्री : कर्म जो बंधनकारी नहीं होते :

कर्म को कामनानुबंध से मुक्त कराने के उपाय का नाम है कर्मयोग. संसार में कुछ कर्म ऐसे होते हैं जो कामनानुबंध से मुक्त होते हैं. ऐसे कर्म, कर्मयोग चिन्तन के लिए दो दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं. नैष्कर्म्य के निकट निदर्शन के रूप में और सिद्धान्त निर्माण की प्रक्रिया के मार्गदर्शक तथ्यों के रूप में. अतः निष्काम. कर्मयोग की साधना को समझने के लिए ऐसे कर्मों का संज्ञान में लेना जरूरी है, जो बंधनकारी नहीं होते.

(क) अनैच्छिक कर्म : कर्म दो प्रकार के होते हैं ऐच्छिक और अनैच्छिक. जो कर्म हमारे निर्णय के आधीन हैं, कर्म जिनका हम संकल्प करते हैं, वे ही नैतिक-धार्मिक विनिश्चय के विषय होते हैं, और शुभाशुभ भोगों को जन्म देते हुए बन्धन के कारण होते है. उनसे भिन्न कुछ अनैच्छिक कर्म होते हैं जैसे सांस लेना, जमुहाई लेना, छींकना आदि. इस प्रकार के कर्म हमारी इच्छा के आधीन नहीं होते, अतः उन्हें नैतिक विधि या शुभाशुभ विनिश्चय का विषय नहीं बनाया जा सकता. यतः वे किसी नैतिक मूल्य को जन्म नहीं देते, अतः उनके 'भोगमूल्य' रूप में संग्रह का प्रश्न ही नहीं उठता. इस प्रकार अनैच्छिक कर्म काम्य कर्मों की भांति बंधनकारी नहीं होता.

(ख) अनुपालन : एक भृत्य स्वामी की आज्ञा का पालन करने के लिए प्रतिबद्ध होता है. अतः वह नैतिक दृष्टि से, आज्ञा-पालन के क्रम में किए कर्म के लिए जवावदेह नहीं हो सकता (आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया). शास्त्रों की आज्ञा का अनुपालन भी इसी कोटि में आता है. अनुपालन के क्रम में, वह अनुपालन स्वामी की आज्ञा का हो या शास्त्र की आज्ञा का, अनुपालनकर्ता के नैतिकदायित्व के प्रश्न नहीं उठाए जा सकते, क्योंकि जो कुछ वह करता है, उसमें उसका अपना कोई निर्णय नहीं होता.

(ग) नित्यकर्म : शास्त्र तीन प्रकार के कर्मों का विधान करते हैं : नित्य, नैमित्तिक और काम्य. इनमें नित्यकर्म ऐसे शास्त्रविहित कर्म को कहते हैं, जिसे किसी काम्यफल के लिए नहीं किया जाता, केवल इसलिए किया जाता है कि शास्त्र उनके करने का विधान करते हैं. इनके करने से किसी फल की तो सिद्धि नहीं होती, किन्तु न करने से प्रत्यवाय (पाप) होता है. इस रूप में नित्यकर्म निष्काम कर्म का मुखर निदर्शन हैं.

(घ) लोकसंग्रह : अपने लिए लाभहानि पर विचार किए बिना, लोकहित में किए गए कार्य भी नैष्कर्म्य का सहज निदर्शन हैं.

कर्मयोग के सिद्धान्त को समझने में कुछ समस्याएं हो सकती हैं, किन्तु ऊपर दिए गए उदाहरणों को ध्यान से देखा जाए तो साधारण से साधारण व्यक्ति भी कर्मयोग के भावार्थ को सहज हृदयंगम कर सकता है, और उन पर विचार करे तो उस चिन्तन-प्रक्रिया को भी समझ सकता है, जिसके द्वारा कर्मयोग के सिद्धान्त का विकास हुआ है. ये निदर्शन समझ का रास्ता बनाते हैं अतः विशेष चर्चा को यहीं से प्रारम्भ करते हैं.

१.५. उक्त तथ्यों के विश्लेषण से प्राप्त विचारसूत्र :

श्रीमद्भगवद्गीता अनैच्छिक कर्म के स्वरूप पर निकट से विचार करती है. उसका शुभाशुभ निरपेक्ष, न बांधने वाला रूप गीता को आकर्षित करता है, यह बात नीचे लिखे श्लोक से स्पष्ट है -

नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्श्रृण्वन्स्पृञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन्।।

प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्।। (५. ८-९)

तत्त्व को जाननेवाला सांख्ययोगी देखता, सुनता, छूता, सूंघता, खाता, चलता, ग्रहण करता, बोलता, त्याग करता, सोता, श्वास लेता तथा आंखें खोलता और मूंदता हुआ भी, इन्द्रियां इन्द्रियों के विषयों में बरत रही हैं, ऐसी धारणा करते हुए 'मैं (स्वयं) कुछ भी नहीं करता हूं,' ऐसा माने.

ऊपर दिए श्लोक में परिगणित सभी कर्म अनैच्छिक हैं. अनैच्छिक कर्म के बारे में ध्यान देने लायक बात यह है कि व्यक्ति का संकल्प या इच्छा इसमें संक्रमित नहीं होती. इसका निर्वैयक्तिक रूप महत्त्वपूर्ण है. अनैच्छिक कर्म और उसके फल में व्यक्ति हेतु नहीं होता, अतः उसमें नैतिक-मनोवैज्ञानिक बंधन का निर्माण नहीं होता. यही अनैच्छिक कर्म का उन्मोचक स्वरूप है. क्या ऐच्छिक कर्म में अनैच्छिक कर्म की कुछ उन्मोचक विशेषताओं का संग्रह किया जा

सकता है, और किया जा सकता है तो किस विधि से, यह निष्काम कर्मयोग की मूल समस्या है. कहने की आवश्यकता नहीं कि कर्म का मनोविज्ञान ही इस दिशा में किसी सार्थक चिन्तन का प्रारम्भबिन्दु हो सकता है.

२. श्लोक *'कर्मण्येवाधिकारस्ते.... '*

ऊपर दी गई वैचारिक-पृष्ठभूमि में हम इस एकक के श्लोकों पर यथा क्रम विचार करते हैं :

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।४७।।

कर्म करने में ही तेरा अधिकार है, फलों में कभी नहीं अतः तू कर्मफल का हेतु भी मत बन और तेरी अकर्मण्यता में भी आसक्ति न हो.

२.१. श्लोक का भावार्थ :

कर्मयोग की साधना दो चरणों में सम्पन्न होती है. व्याख्येय श्लोक में साधना के प्रथम चरण का निरूपण किया गया है. अधिकारभाव का कर्म में नियमन और फल में निषेध साधना का पहला सोपान है. कर्ता में फलहेतुता का और अकर्म में आसक्ति का निषेध, यह दूसरा सोपान है. इस प्रकार चार आसक्तिपर्यायों के निराकरण से कर्मयोग की साधना के प्रथम चरण की सिद्धि होती है.

२.२. प्रसंग की दुरूहता :

सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर आधारित, कठिन पारिभाषिक शब्दावली में गुम्फित, साधना के सूक्ष्म रहस्यों से बोझिल यह गीता के उलझे हुए स्थलों में से एक है. यह उलझन और बढ़ जाती है इन स्थलों की लोकप्रियता के कारण. व्याख्येय प्रसंग का पहला श्लोक *'कर्मण्येवाधिकारस्ते.....'* गीता के उन चंद श्लोकों में से है जिन्हें मुहावरे की तरह उदृत किया जाता है. मुहावरों और लोकोक्तियों के साथ मुश्किल यह है कि वे लोक में अपनी निर्विवाद स्वीकृति के कारण गंभीरचिन्तन का विषय बनने से रह जाते हैं. ऐसे स्थल आमूल गवेषणा की अपेक्षा रखते हैं.

३. अधिकारार्थ निरूपण :

३.१. फलाधिकार की अवधारणा : न्यायविधि का मौलिक तत्त्व : कर्म में कर्ता का फलानुबंध, लोक व्यवस्था का भी आधार है और धर्म व्यवस्था का भी. लोक में समाज की मर्यादाएं और राज्य यह सुनिश्चित करते हैं कि कर्म का फल उसके कर्ता तक पहुंचे. फल की भूमि अगर अलौकिक है (स्वर्गादि), फलागम दूरस्थ और अदृष्ट है, तो उस फल को कर्ता में सुनिश्चित करने का काम धर्म-व्यवस्था का है. इस प्रकार तत्तद् धर्मों के शास्त्र एक प्रकार से लौकिक व्यवस्था का ही अलौकिक दायरों में विस्तार करते हैं. कर्ता, कर्म और फल के तारतम्य के रूप में यह न्याय की एक सनातन अवधारणा है. जिसे, नैतिक, सामाजिक, राजकीय और धार्मिक, सभी व्यवस्थाओं के मूल में सहज देखा जा सकता है. निर्विवादरूप से कर्मफलाधिकार समस्त व्यवस्थामूलक चिन्तन का मौलिक सिद्धान्त है.

३.२. फलाधिकार-व्यवस्था का परालौकिक विस्तार :

धर्म के रूप में एक अलौकिक अर्थशास्त्र का आविर्भाव : कर्म का फल कर्म करने वाले का अधिकार है. उत्पाद पर मेहनतकश मजदूर का हक है; फसल पर खेत में काम करने वाले किसान का अधिकार है, तथाकथित प्रगतिशील विचारकों द्वारा बहुप्रचारित ये निष्कर्ष, युगों युगों से चली आ रही न्याय की अवधारणा का मौलिक तत्त्व है. तत्तद् धर्मों के शास्त्र, जब कर्मफलाधिकार के सिद्धान्त का अदृष्ट दायरों (स्वर्ग और नरक आदि) में विस्तार करते हैं तो एक अजीबोगरीब अर्थशास्त्र अस्तित्व में आता है, जो दृष्ट में अपने विहित त्यागांश को अदृष्ट मुद्रा में रूपान्तरित करते हुए, उसके द्वारा अभीष्ट लौकिक और पारलौकिक भोगों का उपलब्ध कराने का आश्वासन देता है. यह दिव्य अर्थशास्त्र इस धरती पर फैले अनेकानेक धर्मपर्यायों का सामान्य परिकल्प है. जिसे हम धर्म नाम देते हैं, वह *'यहां दोगे वहां मिलेगा',* इस विनिमय को आस्था का मूलाधार बनाता है. धर्माचरण से अर्जित मूल्य को, जैसे हम बैंक में पैसा संचित करके रखते हैं उसी तरह संचित करके रखा जा सकता है, और फिर यहीं, यहां नहीं तो स्वर्गादि लोकों के अलौकिक भोगों के लिए उसे भुनाया जा सकता है.

३.३ अलौकिक अर्थशास्त्र की समीक्षार्हता : यदि धर्म की यही भूमिका है, तो इसे ले कर कुछ सहज सवाल मन में उठते हैं. जहां तक इस दुनियां की बात है, एक अच्छी राज्यव्यवस्था

के द्वारा प्रभावी रूप से फलाधिकार को सुनिश्चित किया जा सकता है. इसमें धर्म की कोई भूमिका नहीं हो सकती. जिन दिव्य सुखों का आश्वासन धर्मशास्त्र देते हैं, उनकी भूमि और प्रकर्ष भले ही अलौकिक हों, मूल्य रूप में भोग और ऐश्वर्य लैकिक मूल्य ही कहे जाएंगे. अतः इन्हें भी धर्म का मौलिक योगदान नहीं कहा जा सकता. लोकान्तरों में फलाधिकार के विस्तार को जरूर धर्म की मौलिक भूमिका कहा जा सकता है.

किन्तु निकट से विचार करें तो लोकान्तरों में लौकिक मूल्यों का संवाहक होना — यह धर्म के लिए कोई सम्मानजनक भूमिका नहीं हो सकती. जैसे कोई बैंक, विदेशों में या यों कहें कि मंगल ग्रह पर अपनी शाखा खोल ले, तो यह बैंक के लिए उपलब्धि तो जरूर है, किन्तु है यह व्यापार का विस्तार मात्र ही. इसे कोई क्रान्ति नहीं कहा जा सकता. धर्म जब तक भोग और ऐश्वर्य के लौकिक मूल्यों का दामन थामे हुए है, वह लौकिक अर्थशास्त्र का ही विस्तार है. भोगों का आश्वासन देने वाले आस्था के पुस्तकीयविग्रह धर्म का परमार्थ नहीं हो सकते, यही निहितार्थ है, *त्रैगुण्यविषया वेदा:निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन,* इस कथन का.

३.४. कर्मयोग :

अर्थशास्त्र के बंधन से आस्था की मुक्ति का उपाय : ऊपर दिया विश्लेषण शास्त्र और शास्त्रोक्त धर्मों में परमार्थबुद्धि का ही निराकरण करता है. लोक में(या लोकान्तरों में) उनकी हैसियत या भूमिका को नकारना इसका प्रयोजन नहीं है. विभिन्न धर्मो के शास्त्र, अपने पारस्परिक विरोध और अन्तर्विरोधें के वाबजूद, निर्विवाद रूप से जिस सामान्य शील को स्वीकार करते हैं, वह है त्याग का शील. विधि की व्यवस्थाओं में ढले, दिव्य सुखों का लालच देते, तत्तद् धर्मशास्त्रों में त्याग के संक्षिप्त पैमाने, स्वतः अपने से परे, त्याग के उस परमार्थ की ओर संकेत करते है, जोकि धर्म का भी परमार्थ है.

आस्था की फलाकांक्षा से मुक्ति, अर्थात् अर्थशास्त्र के बंधन से मुक्ति के उपाय का नाम है कर्मयोग. विभिन्न धर्म, अपने अपने शास्त्र और अवतारी पुरुष के द्वारा अनुयायियों को उद्धार का आश्वासन देते हैं. लेकिन विहिताचार के बदले, भोगों के संसार का स्वर्गपर्यन्त सातत्य ही जिनके लिए उद्धार का अर्थ है, जिनकी आस्था स्वयं अर्थशास्त्र की संकुचित जंजीरों में उलझी है, उससे दूसरों का उद्धार क्या होगा? कर्मयोग धर्म को अर्थशास्त्र की जंजीरों से मुक्त करके

उसके परमार्थ में उद्धार का मार्ग दिखाता है.

फलाधिकार भले ही लोक-व्यवहार का मौलिक सिद्धान्त हो, नैतिक और धार्मिक दृष्टि से यह एक तुच्छ, स्वार्थपरायण आदर्श है. लोक में जिसे अधिकार कहा जाता है वह एक स्वार्थानुबंध है, त्याग का प्रतिबंधक है, जो धार्मिक आस्था का मौलिकशील है. अधिकारचेतना, स्वार्थानुवर्तन को जीवनादर्श के रूप में प्रस्तुत करती है. अपने अनवद्य रूप में यह अधिक से अधिक एक जागरूक नागरिक का लक्षण है, इससे अधिक कुछ नहीं इस फलाधिकार के आंशिक समर्पण मात्र से दान, सेवा, दया, त्याग और भक्ति जैसे मूल्यों का आविर्भाव होता है, जिनका विधि के नपे तुले पैमानों में संग्रह करके शास्त्र धर्मशास्त्र बनते हैं. फलाधिकार के आंशिक समर्पण की परिणति हैं, संसार के समस्त धर्म. जब आंशिक समर्पण में यह सामर्थ्य है तो फलाधिकार का आत्यन्तिक समर्पण, फलाभिनिवेश का त्याग, आस्था के जिस परमार्थ का उद्घाटन करता है, उसके अपरिमेय क्षितिज के सामने, दिव्य न्याय की बाट जोहते पुस्तकपंथों के घरोंदे, एकाएक तुच्छ और छोटे लगते हैं, ऐकान्तिक प्रतिष्ठा के लिए उनके दावे बचकाने और उपहासास्पद.

३.५. वैदिक कर्मकाण्ड में अधिकारविवेक :

व्याख्येय श्लोकों को समझने में इसकी प्रासंगिकता : *कर्मण्येवाधिकारस्ते* (कर्म में ही तेरा अधिकार है), इस वाक्य में अधिकार पद के प्रयोग से दो बातें स्पष्ट हैं. पहली यह कि जिस कर्म की चर्चा हो रही है वह अनैच्छिक कर्म नहीं है. अनैच्छिक कर्म अधिकार का विषय नहीं होता. दूसरी बात यह कि जिस कर्म की बात हो रही है, वह काम्यकर्म है. काम्यकर्म में ही अधिकार की बात उठती है. अतः यह कथन कि निष्काम कर्मयोग का अर्थ कामनारहित कर्म है, मूल में ही व्याहत है.

'अधिकार' शब्द उस सामर्थ्य या योग्यता को बताता है जिससे युक्त होना, किसी व्यक्ति को किसी कर्म विशेष में प्रवृत्त होने का अधिकारी बनाता है. सकाम कर्म में प्रवृत्त होने की पहली योग्यता व्यक्ति की कामना ही है जो उसे कर्म की ओर उन्मुख करती है. यथा — *स्वर्गकामो यजेत,* स्वर्ग की कामना वाले को यज्ञ करना चाहिए. यह अधिकार का प्राथमिक अर्थ है. इसके अलावा अधिकार के अन्य नियामक भी हो सकते है. राज्य की कामना करने वाले राजा के लिए राजसूय यज्ञ का विधान है : *'राजा राजसूयेन स्वाराज्यकामो यजेत'*. स्पष्ट है कि जो राजा नहीं है वह राजसूय यज्ञ नहीं कर सकता. यहां राजा होना, राजसूय यज्ञ में अधिकारी होने के लिए

जरूरी है. यदि कामना धर्माविरुद्ध है तथा अन्य अपेक्षित योग्यताएं व्यक्ति में है तो वह कामना व्यक्ति को काम्यकर्म में अधिकार देती है. कर्म में यह अधिकार, व्यक्ति के फलाधिकार को सुनिश्चित करता है. *तच्च फलस्वाम्यं तस्यैव योऽधिकार विशिष्टः.* फलस्वामित्व उसी का होता है, जो अधिकार युक्त है.

३.६. अधिकार और फलस्वाम्य में अन्तर :

मा फलेषु कदाचन* ' का अर्थ :** कर्ममीमांसा के सन्दर्भ में यह बात ध्यान देने योग्य है कि अधिकार शब्द का प्रयोग कर्म के लिए हुआ है, फल के लिए नहीं. फल के सम्बन्ध में ***फलाधिकार न कह कर ***फलस्वाम्य*** शब्द का प्रयोग हुआ है. व्यवहार में समानार्थक होते हुए भी 'अधिकार' और 'फलस्वाम्य' के बीच अन्तर एकदम स्पष्ट है. अधिकार कर्ता के स्वरूप से, उसकी योग्यता से उत्पन्न होता है, अतः उसमें तत्काल निर्णय और व्यवहार की योग्यता होती है, जब कि फलस्वाम्य कर्ता के उद्यम से, वह भी सफल उद्यम से उत्पन्न होता है. व्यवहित, दूरस्थ सम्भावनामात्रिक होने से फलस्वाम्य में तत्काल व्यवहार की योग्यता मूल में ही व्याहत होती है. फलस्वाम्य का तत्काल भोग और व्यवहार तो कल्पना में ही हो सकता है. कोई व्यक्ति अपनी जायदाद का दानपत्र किसी को लिख दे तो इससे प्राप्त करने वाले के अधिकार का तत्काल सृजन हो जाता है, किन्तु यदि वह व्यक्ति ऐसी वसीयत करे कि मेरे मरने के बाद अमुक व्यक्ति को मेरी जायदाद मिलेगी, तो यहां अधिकार का नहीं, केवल एक सम्भावना का सृजन होता है.

हम किसी कर्म को करें या न करें, यह हमारी इच्छा की बात है. कर्म हमारे तात्कालिक निर्णय का विषय होता है. यही कर्म में अधिकार का आशय है. फल तो एक सम्भावित, दूरस्थ कल्प है, अतः उसमें फलस्वाम्य का तो सृजन होता है, अधिकार का नहीं वैदिकचिन्तन का यह अधिकारविवेक *'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'* के व्याख्यान की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है.

कामना व्यक्ति को कर्म में अधिकार देती है. यह व्यक्ति की इच्छा है कि कर्म करे या न करे यही कर्म में उसका अधिकार है. किन्तु कर्म सम्पादित होने के पश्चात् जो परिणति या परिणतियां सामने आ सकती हैं, उन पर व्यक्ति का कोई अधिकार नहीं होता. भविष्य के गर्भ में पल रहा फल कर्ता के किसी विनिश्चय के आधीन नहीं होता. अतः कर्मकाण्ड व्यवस्था में जहां कर्म को कर्ता का ***'अधिकार'*** कहा गया है, फल के लिए अधिकार पद का प्रयोग न करके केवल ***'फलस्वाम्य'*** शब्द का प्रयोग हुआ है.

४. कर्मयोग की साधना का प्रथम चरण :

४.१. कर्ता और कर्म के शोधन की क्रमिक साधनाएं : *'कर्मण्येवाधिकारस्ते .....'* इस श्लोक में कर्म में अधिकार की बात कर्तृभाव को बताती है जब कि फल में अधिकार का निषेध भोक्तृभाव को लक्ष करता है. *'मैं अमुक कर्म का करने वाला हूं,'* यह अभिमान ही कर्तृभाव है, जब कि *'अमुक कर्म का फल मेरा भोग्य है',* यह अभिमान भोक्तृभाव. इन दोनों भावों का संग्रह जिस व्यावहारिक व्यक्तित्व का निर्माण करता है, शास्त्रभाषा में उसे अहंकार कहते हैं. यह अहंकार, अपने लिए व्यवहार के एक ऐसे संसार का सृजन करता है, जिसमें सभी मूल्य — लौकिक, नैतिक और धार्मिक — व्यावहारिक व्यक्तित्व की सीमा और आकांक्षाओं में ढले होते हैं.

इस व्यवहार के धरातल का अतिक्रमण किए बिना, धर्म के परमार्थ की न तो समझ बन सकती है और न ही उसमें प्रवेश हो सकता है. इस अतिक्रमण के लिए विशेष प्रकार के प्रयास की आवश्यकता पड़ती है. यतः संसारिकता का रहस्य व्यावहारिक व्यक्तित्व (अहंकार) है, और व्यावहारिक व्यक्तित्व का रहस्य कर्तृत्व और भोक्तृत्व की मनोग्रंथियां हैं. ये ग्रन्थियां कर्ता में भोक्तृभाव का और कर्म में फलानुबंध का आक्षेप करती हैं. इससे ***कर्ता*** और ***कर्म*** के शोधन की क्रमिक साधनाओं के रूप में प्रथमचरण को साधना के दो सोपान प्राप्त होते हैं. इन पर यथाक्रम विचार करेंगे.

४.२. कर्तृभाव की शुद्धि की साधना :

कर्मयोग की साधना का प्रथम सोपान : *'कर्म में तेरा (कर्ता का) अधिकार है'.* इस वाक्य में 'अधिकार' कर्ता शब्द के अर्थ से ही प्राप्त है. कर्म में अधिकार के बिना कर्ता का अर्थ अनुपपन्न रहेगा. किन्तु कर्म में अधिकार की भांति कर्मफल विप्रकृष्ट तथा बाह्य कारणों पर निर्भर होने के कारण कर्ता की अधिकार कोटि में नहीं आता. यह मनोवैज्ञानिक तथ्य ही कर्मयोग की साधना का कथंकार है, उसकी व्यावहारिक प्राथमिकता का नियामक. जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, अहंकार के रूप में कर्तृ-भोक्तृभावास्तरणों का संग्रह ही व्यावहारिक व्यक्तित्व है. इसके अतिक्रमण की साधना में, पहले भोक्तृभाव का निराकरण होना चाहिए, क्योंकि कर्तृभाव की तुलना में वह दुर्बल, विप्रकृष्ट और बहिरंग है. अतः कर्तृभाव को सुरक्षित रखते हुए, भोक्तृभाव का अपलाप कर्मयोग की साधना का प्रथम सोपान होना चाहिए. यह मनोविश्लेषण से प्राप्त विनिश्चय है जिसे

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन, इस वाक्य में संग्रहीत किया गया है. इसी बात को व्यतिरेकमुखेन कहता है श्लोक का उत्तरार्ध, *'मा कर्मफल हेतुर्भू, मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि'.*

कर्म का कर्ता के साथ अन्तरंग सम्बन्ध है. यह अन्तरंग सम्बन्ध ही कर्ता की *कर्महेतुता* है. किन्तु कर्म स्वयं कर्ता में दो सम्बन्धों का आधान करता है. ये सम्बन्ध हैं, **फलहेतुता** और **अकर्महेतुता. जहां कर्म के साथ कर्ता का सम्बन्ध अन्तरंग है वहीं कर्म द्वारा आक्षिप्त, इन कर्मसम्बन्धियों के साथ कर्ता का सम्बन्ध बहिरंग और आरोपित है. इन बहिरंग सम्बन्धों का क्रमिक निषेध करते हुए, इनके द्वारा आयातित बहिरंग अर्थराशि के अपलाप के द्वारा परिशोधित, भोक्तृभावविनिर्मुक्त, शुद्धकर्तृभाव की प्रतिष्ठा कर्मयोग की साधना का पहला कदम है.**

५. विशेष विचार :

५.१. बंधन का मनोभावात्मक स्वरूप : कर्मबंधन का स्वरूप मनोभावात्मक है. कामनापूर्ति के लिए कर्म, कर्म से फलागम, फल का भोग, भोग से सुखद अनुभव को पुनः जीने की कामना, कामना से पुनः कर्म में प्रवृत्ति — यह अपने सतत नवीनीकरण में लगे कर्मचक्र का स्वरूप है. कर्म को छोड़ कर, यह समस्त श्रृंखला भावरूप है; इसमें केवल कर्म स्थूल आकार ग्रहण करता है. कर्म की स्थिति, मन के अथाह, तरंगित सागर के बीच उभरे उस छोटे से टापू की तरह है, जो डूबतों को आश्रय देता है, जिस पर बैठकर वे सागर के पार जाने का उपक्रम कर सकते हैं. लेकिन यात्रा का मार्ग तो सागर से ही हो कर गुजरता है. कर्मयोग का आधार तो निर्विवाद रूप से कर्म ही है, किन्तु सम्पूर्ण साधना सम्पन्न होती है मनोवैज्ञानिक धरातलों पर, जिन्हें सीधे सीधे किसी कर्म या विधि का विषय नहीं बनाया जा सकता. इस साधनापथ के अनुसंधान में अगर कोई सहायक हो सकता है तो वह है कर्म का मनोविज्ञान. कोई व्यक्ति कर्मयोग का साधक हो या न हो, बंधन के सूक्ष्म धरातलों की समझ, उसकी भयावह पकड़ की चेतना और उससे उपजी बेचैनी स्वयं में मुक्ति की दिशा में एक कदम होता है. अतः उसे निकट से समझने की कोशिश होनी चाहिए.

५.२. कर्म का मनोविज्ञान और फलाभिसंधि का अनधिकृत रूप :

अमूर्त वासना प्रवाह में, प्रबल वासना संतान कामना का रूप लेती है. कामना इच्छा को, इच्छा संकल्प को, संकल्प कर्म को जन्म देता है जो फल पर पहुंच कर अवसित होता है. ऐच्छिक

कर्म के इस व्यापार से कामनामूल को तो हम हटा तो नहीं सकते, किन्तु उपाय के द्वारा उसकी भूमिका को सीमित किया जा सकता है. कामना संकल्प को जन्म देती है; उसे वहीं उपक्षीण हो जाना चाहिए; लेकिन होता यह है कि कामना संकल्प को जन्म देकर निःश्शेष नहीं होती, अपितु फलाभिसंधि के रूप में सम्पूर्ण उद्यम में संक्रमित होती चली जाती है. संकल्प कर्ता को केवल कर्म का अधिकार देता है, फल पर्यन्त कामना के विस्तार का नहीं. ***यदि इस कामना को कर्म पर आरूढ होने से रोका जा सके, फलपर्यन्त उसकी आतुर यात्रा को अवरुद्ध किया जा सके, यदि कर्म को उसकी सहज परिणति तक जाने दिया जाए, तो काम्यकर्म भी अनैच्छिक कर्म के उन्मोचक वैशिष्ट्य से युक्त हो सकता है. यही कर्मयोग की साधना का रहस्य है.***

कर्ता का संकल्प उसे कर्म करने का अधिकार देता है, उसे फलाभिसंधि से संक्रमित करने का अधिकार नहीं देता. कर्मफल पर्यन्त कामना की यात्रा अनधिकृत चेष्टा है, बिना टिकट यात्रा की तरह. कर्म की कारण- सामग्री निर्वैयक्तिक होती है. उसमें कामना का संक्रमण न केवल अन्यथासिद्ध है, अपितु अवांछित भी, क्योंकि वह कर्ता से फलपर्यन्त एक बंधन का, एक अटूट वासनातन्तु का निर्माण करता है, जो कर्ता को कर्मफल का हेतु बनाकर उसे बांध देता है.

'फल के लिए कर्म में प्रवृत्त होना' और ***'फल की आकांक्षा संजोए रखना'*** ये दो अलग बातें हैं. कर्म में प्रवृत्त कराने के बाद कामना के लिए कोई भूमिका नहीं बचती. उसे निवृत्त हो जाना चाहिए था, स्नेहांश को चुक जाना चाहिए था. किन्तु संकल्प से ले कर फलागम पर्यन्त, फलाभिसंधि तंतु कर्म को बांधे रहता है. उद्यम के समनन्तर, यह वासना परिग्रह एक अनधिकार चेष्टा है. कामना, संकल्प और तज्जनित कर्म जिन्हें वासना के रीता करने का काम करना चाहिए, इस अनधिकार चेष्टा के द्वारा वासना के विस्तार के संवाहक बन जाते हैं. **जैसे कोई स्नेह विवश मां लड़की को विदा करने के लिए स्टेशन तक छोड़ने जाए और फिर अविश्वास और आशंकाओं के वशीभूत चुपके से रेल पर सवार होकर लड़की के ससुराल तक यात्रा कर डाले, ऐसे ही होती है, फलाकांक्षा की बेचैन यात्रा, जो सम्पूर्ण ऐच्छिक कर्म को वासना के विस्तार में परिणत कर देती है.**

कर्ता में कर्माधिकार तो अन्तरंग सम्बन्ध से प्राप्त है, क्योंकि उसके बिना **कर्ता** शब्द का अर्थ ही उपपन्न नहीं होगा. किन्तु फल में कर्ता का अधिकार एक अनपेक्षित विस्तार है, एक मनोवैज्ञानिक विभ्रम. जो बहिरंग और आरोपित है, उसका निराकरण करते हुए, कर्ता को उसके

शुद्ध स्वरूप में वापस लाना, यही उद्देश्य है प्रथम चरण की साधना का.

फल का अर्थ है काम्यकर्म से प्राप्त भोग. फलाधिकार का अर्थ हुआ फल को भोगने का अधिकार. कर्म में अधिकार कर्ता को परिभाषित करता है, जब कि फलाधिकार भोक्ता को. इस प्रकार ***'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन',*** यह कथन भोक्तृभाव का निराकरण करते हुए शुद्ध कर्तृभाव को साधना के आदर्श रूप में प्रस्तुत करता है. किन्तु इतने भर से शुद्ध कर्तृभाव की सिद्धि नहीं होती, क्योंकि भोक्तृभाव, महत्त्वपूर्ण होते हुए भी कर्तृभाव को आच्छन्न करने वाला एक मात्र आगन्तुक धर्म नहीं है. कर्ता में आगन्तुक धर्मों की एक और अपेक्षाकृत अन्तरंग सतह है, जिसके निराकरण की साधना श्लोक की दूसरी पंक्ति का विषय है.

५.३. *'मा कर्मफल हेतुर्भू मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि'* :

कर्तृभाव की संशुद्धि का दूसरा सोपान : फलहेतुता और अकर्मासक्ति — ये कर्ता पर आरोपित विकार की दूसरी सतह हैं. ये विषय हैं कर्तृसंशुद्धि की साधना के दूसरे क्रम का.

कर्म के साथ कर्ता का सम्बन्ध दो रूप ले सकता है अधिकार और विमर्श. कर्ता में कर्मसम्बन्ध का निषेध करने पर कर्ता शब्द का अर्थ ही अनुपपन्न हो जाएगा. *'कर्ता वह जो कर्म करे'.* कर्ता शब्द से अर्थतः प्राप्त होने के कारण कर्ता का कर्म के साथ अन्तरंग सम्बन्ध है. यह अन्तरंग सम्बन्ध ही कर्ता को कर्म में अधिकार देता है : ***'कर्मण्येवाधिकारस्ते'***. इससे भिन्न, अन्तरंग सम्बन्ध के सम्बन्धी के सम्बन्धों की जब अनुयोगी में प्रसक्ति होती है, तब वह अधिकार न हो कर विमर्श का रूप लेता है, स्वाभिमान का पुनर्निर्वचन होने के कारण. यथा — कर्ता का अन्तरंग सम्बन्धी है कर्म. फलहेतुता और अकर्मासक्ति, ये दोनों ही कर्म के सम्बन्धी हैं कर्ता के नहीं. इनका जब कर्ता में, कर्मसम्बन्ध के अनुरोध से संग्रह किया जाता है, तब यह कर्तृभावस्फीति को, कर्ता में एक अभिनव अहंकार विमर्श को जन्म देता है. कर्ता को इनसे मुक्त करने से शुद्ध कर्तृभाव की सिद्धि होती है.

मा कर्मफलहेतुर्भू का अर्थ हुआ कि कर्म का जो फल, उसकी जो हेतुता, उस हेतुता के भाव का संग्रह तू अपने कर्तृभाव में मत कर. कर्ता अपने को कर्म के फल का कारण न समझे, यह भावार्थ है. कर्ता को कर्म में और कर्म को फल में कारण माना जाता है. कर्ता में

फलहेतुता का निवेश एक अवांछित विस्तार है जो कर्तृभावस्फीति (अहंकार) को जन्म देता है. कर्म के साथ कर्ता का सम्बन्ध स्वाभाविक है. स्वाभाविक सम्बन्ध किसी अहंकार विमर्श को जन्म नहीं देता. हम सांस लेते हैं, जमुहाई लेते हैं, पलक झपकाते हैं. इन कार्यों को हम इतने सहज रूप से करते रहते हैं कि हम इन कार्यों के कर्ता हैं, ऐसा ख्याल भी हमारे भीतर नहीं आता. कर्ता कर्म का हेतु होता है, किन्तु यह हेतुता इतनी स्वाभाविक है कि यह किसी अहंकार को जन्म नहीं देती. किन्तु कर्ता जब अपने को केवल कर्महेतु न मान कर कर्मफल हेतु मान बैठता है, तब यह हेतुताविमर्श, कर्मसम्बन्धकेवली, शुद्ध-कर्ता में अवांछित अहंकारविमर्श का आधान करता है. इसीलिए कहा, ***मा कर्मफलहेतुर्भू*** — तुम कर्मफल के हेतु मत बनो.

५.४. *'फलहेतुता'* और *'अकर्मासक्ति'* :

दोनों ही आसक्ति के ही रूप हैं. किन्तु दोनों में एक सूक्ष्म अन्तर है. फलहेतुता में इसका आगम क्रमिक और व्यवहित है. कर्ता, कर्म और फल के बीच कार्य-कारण सम्बन्ध पर आरूढ हो कर फलासक्ति साकार होती है और अपने क्रमागतविग्रह के द्वारा कर्ता के लिए बंधन बनती है. इससे भिन्न, *अकर्म,* आसक्ति का साक्षात्, अव्यवहित विषय है. इसीलिए अकर्म के संदर्भ में आसक्ति को सम्बन्ध से नहीं, शब्द से कहा है : ***'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि'***.

अकर्म, अर्थात् कर्म का निलंबन या निरोध उस क्षण भी प्राप्त हो सकता है जब साधक, कर्म में फलाकांक्षा के संक्रमण को रोकता है. आसक्ति जब फलकांक्षा रूप में कर्म पर आरूढ़ नहीं हो पाती तब वह अकर्म में आधार तलाशती है. आसक्ति को तो आलम्बन चाहिए कर्म का नहीं तो अकर्म का सही. कर्मफलानुबंध इसकी पहली पसंद है. फलमार्ग के अवरुद्ध होने पर आसक्ति अकर्म को अपना आधार बना लेती है. लोक में भी देखा जाता है कि जब कर्म हतोत्साहित होता है तब कुछ भी न करने की इच्छा एकाएक बलवती होने लगती है. तमोगुण प्रधान लोगों में तो अकर्म के लिए खासा उत्साह देखने को मिलता है. वासना तन्तु का तारतम्य बना रहे, इसके लिए आसक्ति कर्म के विकल्प (अकर्म) का रास्ता खुला रखती है. इस दृष्टि से देखें तो योग अर्थात् कुशल कर्म का कोई विकल्प नहीं है. अकुशल कर्म में ***फलाभिसंधि*** और ***अकर्म*** दोनों के लिए रास्ता खुला रहता है. दोनों आसक्ति-पर्यायों से बचते हुए, कर्म को करना ही कर्म की कुशलता है. यह कुशलता येग से ही आती है.

शुद्ध-कर्तृभाव की प्रतिष्ठा कर्मयोग की साधना का पहला चरण है. यह कार्य, कर्ता में आक्षिप्त, वासनाजनित आगन्तुक अर्थराशि के क्रमिक निस्तारण के द्वारा सम्पन्न होता है. यह आगन्तुक अर्थराशि कर्मसम्बन्ध से प्राप्त हो सकती है या अकर्म सम्बन्ध से. **कर्मसम्बन्ध,** फलाभिसंधि (भोक्तृभाव) और फलहेतुता के रूप में, कर्ता में कार्यकारण श्रृंखलानिबद्ध, वासनासम्बन्धों का आधान करता है, जब कि **अकर्मसम्बन्ध** साक्षात् बंधन है. इस प्रकार ***'कर्मण्येवाधिकारस्ते*** .... ' यह श्लोक **कर्तृसंशुद्धि** की साधना का एक सम्पूर्ण मार्गदर्शक आलेख प्रस्तुत करता है. इसके साथ सम्पन्न होता है कर्मयोग की साधना का प्रथमचरण.

६. साधना का द्वितीय चरण : '*योगस्थ: कुरु कर्माणि ....*' :

६.१. कर्म के शोधन की साधना : प्रथम चरण की साधना कर्ता पर केन्द्रित थी. द्वितीय चरण की साधना, जिसकी अब चर्चा करने जा रहे हैं, कर्म पर केन्द्रित है. नीचे दिया श्लोक ठेठ अर्थों में कर्मयोग की साधना का आलेख प्रस्तुत करता है.

योगस्थ: कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्यो: समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥४८॥

हे धनञ्जय! तू योग में स्थित हुआ, आसक्ति का परित्याग करके, सिद्धि-असिद्धि में सम हो कर कर्मों को कर; समत्व को ही योग कहा जाता है.

इस श्लोक के बारे में नीचे लिखी बातें ध्यान देने योग्य हैं :

१. यह श्लोक समत्वयोग की साधना के क्रम को, उसकी क्रियाविधि का बताता है. यत: यह साधना कर्म के आलम्बन में सम्पन्न होती है, इसे कर्मयोग नाम दिया गया है. वस्तुत: समत्वयोग कर्मयोग का प्राथमिक कल्प है.

२. श्लोक में उल्लिखित प्रत्येक क्रियाविधि कर्म पर केन्द्रित है, यथा — *योगस्थ: कर्मणि कुरु* (योगस्थ हो कर कर्म कर), *सङ्गंत्यक्त्वा कर्माणि कुरु* (आसक्ति का त्याग करके कर्म कर) *सिद्धयसिद्धयो: समो भूत्वा कर्माणि कुरु* (सिद्धि और असिद्धि में समभाव रख कर कर्म कर) . पूरी तरह कर्मकेन्द्रित होने के कारण इसे ठेठ अर्थों में कर्मयोग की साधना का आलेख कहा जा सकता है.

६.२. श्लोक के कथ्य का विश्लेषण :

दो विधान और एक स्पष्टीकरण इस श्लोक का अर्थगर्भ है. पहला विधान है योगस्थ होने का, दूसरा है आसक्ति का त्याग करके कर्म करने का. इसके अलावा श्लोक में ही 'समत्वं योग उच्यते' इस लक्षण के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया है कि योग में स्थित होने का अर्थ है समत्व में स्थित होना.

इनमें से प्रत्येक विधि के साथ एक अवान्तर विधि जुड़ी हुई है. योग में स्थित होने के लिए समत्वविधि तथा कर्म के अनुष्ठान के लिए अनासक्त विधि. इस विश्लेषण से कर्मयोग की साधना का जो क्रम प्राप्त होता है वह इस प्रकार है : (१) समत्व की साधना, (२) उसके द्वारा योग में प्राथमिक स्थिति (३) आसक्ति का त्याग करते हुए कर्म का अनुष्ठान (४) उक्तरूप में परिष्कृत कर्म का योग में संग्रह अर्थात् कर्मयोग की निष्पत्ति.

६.३. प्रक्रियापथ का रेखांकन :

'योगस्थ:कुरु कर्माणि' इस वाक्य में दो विधियां प्राप्त होती हैं, ***'योगस्थो भव'*** तथा ***'कर्माणि कुरु'***. ये न केवल भिन्न अधिष्ठानों में सम्पन्न होती हैं अपितु अपने सहज रूप में एक दूसरे की प्रतिबंधक भी हो सकती हैं. योग में स्थिति मन का अनुशासन है जब कि कर्म एक भौतिक व्यापार. कर्म की ओर उन्मुख होने पर योग की स्थिति में व्यतिक्रम की भी सम्भावना बनती है. ऐसी स्थिति में एकीकृत साधना में इनका संग्रह कैसे हो यह मूल समस्या है साधना की भी और श्लोक की व्याख्या की भी. अभीष्ट संग्रह मन और कर्म के उद्देश्यपूर्ण परिष्कार के बिना सम्भव नहीं. अतः ***'समत्वं योग उच्यते'*** यह कह कर, मनोयोग के उस न्यूनतम अर्थ की पहचान की गई जिसके आधार में कर्म का संग्रह हो सके. दूसरी ओर ***'संगं त्यक्त्वा'*** यह कह कर उस विधि की पहचान करते हैं जिसके द्वारा परिष्कृत हुआ कर्म सामर्थ्य अर्जित करता है, योग का आलम्बन बनने की. यहां ***'योगस्थो भव'*** तथा ***'कर्माणि कुरु'*** इनके बीच पौर्वापर्यभाव नहीं, उपकार्य-उपकारकभाव ही विवक्षित है.

कर्म के आलम्बन में योग की निष्पत्ति ही उक्त प्रक्रिया का फलितार्थ है. अर्थावयवक्रम में नीचे दी गई श्लोक की व्याख्या वस्तुतः इस प्रक्रिया का ही विशद निरूपण है.

६.४. 'योगस्थः' पद की व्याख्या :

योगस्थः का शाब्दिक अर्थ है 'योग में स्थित होकर' या 'योग में स्थित हुआ'. कर्मयोग की साधना का यह प्राथमिक सोपान है. इस समारम्भ के लिए जितना और जैसा योग(मन का अनुशासन)जरूरी है उसका लक्षण और अनुमाप श्लोक की दूसरी पंक्ति में दे दिया गया है : ***सिद्ध्यसिध्यो समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते***. इसके साथ जोड़ कर पढ़ने पर योगस्थ का अर्थ हुआ 'समत्व बुद्धि में स्थित हो कर'.

६.५. *'समत्व'* के प्राथमिक और परिनिष्ठित अर्थ : *समत्व* के दो अर्थ हैं, मूल्यद्वन्द्व के बीच संकल्पित ताटस्थ्य के रूप में प्राप्त समभाव और उपादानभूत आसक्ति के उच्छेद के द्वारा द्वन्द्वात्मकता के अपलाप के रूप में प्राप्त समभाव. प्रथम प्रकार, बौद्धिकविनिश्चय से प्राप्त एक प्रारम्भिक कामचलाऊ कल्प है जब कि दूसरा प्रकार, आदर्श की उस प्रतिष्ठा को बताता है जिसकी सिद्धि साधना से होती है. समत्व के इन दो प्रकारों को क्रमशः *'सिद्ध्यसिध्यो समो भूत्वा'* तथा *'संगं त्यक्त्वा''* इन वाक्यों में संग्रहीत किया गया है. परिकल्पित समारम्भ की क्रमशः उसके परिनिष्ठित स्वरूप में प्रतिष्ठा एक विशेष प्रकार की साधना की अपेक्षा करती है. कर्म के अधिष्ठान में समत्व से समत्व तक की इस साधना का ही नाम है कर्मयोग.

यहां समत्व के प्राथमिक और परिनिष्ठित, दो कल्प मानने का विशेष प्रयोजन है. ***'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते'*** इस वाक्यप्रमाण से योग के पर्याय होने से, समत्व का अर्थ 'योगस्थः' के अर्थ में अन्तर्निविष्ट है. तदनुसार *योगस्थः* का अर्थ हुआ 'योग में स्थित' अर्थात् 'समत्व में प्रतिष्ठित'. जो व्यक्ति पहले से ही योग में प्रतिष्ठित है, उसके लिए कर्म का कोई प्रयोजन प्राप्त नहीं होता. कर्म करना और न करना, उसके लिए दोनों ही अप्रासंगिक हैं, क्योंकि जो प्राप्तव्य है (समत्वभाव) उसे वह पहले ही पा चुका है. अतः ***योगस्थः कुरु कर्माणि***, इस वाक्य में प्राप्त कर्मविधान को वैयर्थ्य दोष से बचाने के लिए कर्म के लिए कुछ काम ढूंढ़ना होगा. तभी कर्मयोग का स्वरूप बनेगा.

ऐसी स्थिति में यह मानना जरूरी हो जाता है कि *योगस्थः* पद में जो समत्व की प्राप्ति है, वह केवल समारम्भ-परिकल्प के रूप में है. यहां से प्रारम्भ होती है, कर्म के आलम्बन में अनासक्ति की साधना, जो समत्व के परिनिष्ठित स्वरूप की सिद्धि में पर्यवसित होती है. इस प्रकार, समत्व के समारम्भ और परिनिष्ठित, इन दो कल्पों की मान्यता के बिना, न तो श्लोक की अनवद्य व्याख्या

सम्भव है, और न ही कर्मयोग की निष्पत्ति.

समारम्भ परिकल्परूप में समत्व की स्वीकृति कर्मयोग की पहली शर्त है. दूसरी शर्त है, कर्म में आसक्ति के निराकरण की साधना (*सङ्गंत्यक्त्वा धनञ्जय*). कर्म पर आरूढ़ हो कर सम्पन्न होती है आसक्ति की फलपर्यन्त यात्रा. *फलानुसन्धि* और *अकर्मासक्ति,* ये आसक्ति के ही रूप हैं इनके निराकरण की साधना पर विस्तार से विचार हो चुका है. यहां वक्तव्य केवल इतना ही है कि इन आसक्तिपर्यायों से संशुद्धि, कर्म को योग में संग्रह के योग्य उपादान में रूपान्तरित करती है.

६.६. *धनञ्जय* सम्बोधन की सार्थकता : आसक्ति पर्यायों के विसर्जन का अर्थ उद्यम की मृत्यु नहीं है, पराक्रम का अवसान नहीं है. इसी बात को बताने के लिए अर्जुन के लिए धनञ्जय सम्बोधन का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है अपने पराक्रम से सम्पदाओं को अर्जित करने वाला. आध्यात्मपथ के राही का पराक्रम खण्डित नहीं होता; वह दीन नहीं होता, केवल उच्चतर सम्पदा की चेतना में उसके उपक्रम का चरित्र बदल जाता है. महाभारत में ऐसे अनेक योद्धा हैं, जिनके लिए हार-जीत कोई खास मायने नहीं रखती. भीष्म और द्रोण इनमें प्रमुख हैं. कर्ण और शल्य दोनों में ही फलासक्ति के आधार बहुत दुर्बल हैं. इन सभी योद्धाओं के व्यवहार में कर्मयोग की साधना के एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व, अनासक्तभाव को सहज देखा जा सकता है. ध्यान देने की बात यह है कि इससे उनके कर्म की गुणवत्ता, युद्ध कर्म में उनका कौशल, उद्देश्य के प्रति उनका समर्पण तनिक भी प्रभावित नहीं होते. अर्जुन के लिए धनञ्जय सम्बोधन का प्रयोग कर्मयोग के बारे में सम्भावित भ्रान्ति का निराकरण करने के लिए है.

६.७. कर्मयोग की निष्पत्ति :

मन और कर्म की संशुद्धि की ऊपर कही साधनाओं के द्वारा कर्मयोग की निष्पत्ति की शर्तें पूरी हो जाती हैं. यह एक अन्योन्याश्रित साधना है, जिसे योग (समत्वबुद्धि) में कर्म के संग्रह और कर्म के आलम्बन में योग की साधना, दोनों ही रूपों में देखा जा सकता है.

आसक्ति के निषेध की साधना का अधिष्ठान कर्म है, बुद्धि नहीं. इस निषेध का फलस्थान है बुद्धि. फलरूप समत्वबुद्धि सीधे सीधे नहीं आती. उसकी सिद्धि कर्म के द्वारा ही होती है. *'योगस्थः कुरु कर्माणि'* का यह अर्थ नहीं है कि 'तुम योग में स्थित हो जाओ और फिर कर्म करो,' अपितु

इसका अर्थ है 'कर्म के द्वारा तुम योग (समत्व) में स्थिति को पुष्ट करो. कर्म को कैसे किया जाए कि उससे योग की स्थिति प्राप्त हो, यह बताने के लिए '*सिद्ध्यसिद्ध्यो समो भूत्वा*' और '*सङ्गं त्यक्त्वा*', ये दो वाक्यांश प्रवृत्त होते हैं. ये क्रमशः समत्व की साधना के समारम्भ और परिनिष्ठित कल्पों को बताते हैं. समत्व की प्राथमिक पूंजी (बौद्धिक विनिश्चय) से साधना का समारम्भ करते हुए, कर्म के अधिष्ठान में आसक्ति का निराकरण, आसक्ति के निराकरण से सिद्ध्यसिद्ध्यादि में मूल्यबूद्धि का निराकरण, मूल्यबुद्धि के निराकरण से द्वन्द्व का, द्वन्द्व के निराकरण से समत्वबुद्धि की प्रतिष्ठा, यह कर्मयोग की साधना का स्वरूप बनता है.

मूल्यविहीन कर्म निरपेक्ष होता है, उसमें न तो कर्ता की ओर उन्मुख होने के लिए कोई आभ्यन्तर दवाब होता है और न ही कर्ता में उसके लिए कोई आकांक्षा. इस प्रकार कर्म में आसक्ति का निषेध सिद्धि-असिद्धि के मूल्याधान और कर्ता की ओर उनकी वापसी, दोनों को एक साथ अवरुद्ध कर देता है. यही कर्मयोग की साधना है जो समत्वभाव में पर्यवसित होती है.

६.८. कर्म : योग की साधना का स्वाभाविक आलम्बन :

आसक्ति के दो रूप — **फलाभिसंधि** और **अकर्माभिसंधि** — इनके संक्रमण से सुरक्षित, अविचलित मन योगस्थ होता है. मन की यह स्थिति कर्म के द्वारा ही सिद्ध होती है. इसीलिए कहा — योग में स्थित होकर कर्म करो. इसका अर्थ हुआ कर्म को आलम्बन बना कर योग में प्रतिष्ठित होना. वस्तुतः चित्तनिरोध की साधना का सर्वाधिक सहज आलम्बन होता है कर्म. एक स्थिर आलम्बन (वस्तु, बिम्ब या मूर्ति) की बजाय कर्म के गतिशील आलम्बन पर मन को केन्द्रित करना अधिक सुकर होता है.

मन जब स्थिर आलम्बन पर ध्यान केन्द्रित करता है तब उस आलम्बन को अपने वृत्तिप्रवाह समानुपाती अवयवों में विभाजित करके उसमें क्रम का आरोप करता है, ताकि मन का वृत्तिप्रवाह आलम्बन से बाहर न जा सके. वह ध्येय मूर्ति को अवयवों के क्रम में, कभी गंभीर, कभी हंसते हुए, बदलती भावच्छायाओं से झांकते कर्मपर्यायों में रूपान्तरित करके देखने लगता है. स्थिर आलम्बन मन के प्रवाह को केन्द्रित करने के प्रयास में स्वयं विखण्डित होने लगता है. मूर्ति का ध्यान अंग-प्रत्यंगों के ध्यान में किस प्रकार विघटित होता है, इसका सजीव चित्रण

श्रीमद्भागवत-पुराण में उपलब्ध है :

यदा मनः स्वं विरजं योगेन सुसमाहितम्।
काष्ठां भगवतो ध्यायेत्स्वनासाग्रावलोकनः।।
प्रसन्नवदनाम्भोजं पद्मगर्भारुणेक्षणम्।
नीलोत्पलदलश्यामं शङ्खचक्रगदाधरम्।।
तस्मिंल्लब्धपदं चित्तं सर्वावयवसंस्थितम्।
विलक्ष्यैकत्र संयुज्यादङ्गे भगवतो मुनिः।।

(श्रीमद्भागवत, ३.२८. १२-१३; २०)

(जब योग का अभ्यास करते करते चित्तनिर्मल और एकाग्र हो जाए, तब नासिका के अग्र भाग में दृष्टि जमा कर इस प्रकार ध्यान करे. भगवान का मुखकमल आनन्द से प्रफुल्लित है, नेत्र कमलकोष के समान रतनारे हैं, शरीर नीलकमल के समान श्याम है; हाथों में शङ्ख, चक्र, और गदा धारण किए हैं. भगवद्विग्रह के समस्त अवयवों में जब चित्त की स्थिर हो जाए, तब वह योगी उनके समस्त अंगों में लगे हुए चित्त को विशेष रूप से एक एक अंग में लगाए.)

इसके बाद एक एक अंग में ध्यान की प्रक्रिया को बताया है. भगवान् के चरण कमलों का ध्यान करे (संचिन्तयेत्भगवतश्चरणारविन्दं वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम्) ; फिर क्रमशः दोनें घुटनों और पिंडलियों का, उदर देश में स्थित नाभिसरोवर का, दोनों स्तनों का, वक्षस्थल का, कौस्तुभमणि से विभूषित कण्ठ का, भगवान् की चारौ भुजाओं और उनमें शोभायमान शङ्ख, चक्र, और गदा और पद्म का, वनमाला और कौस्तुभमणि का ध्यान करे. (२१-२८).

६.९. स्थिर आलम्बन में ध्यान की विडम्बना :

मूर्ति के ध्यान का अंग, उपाङ्ग और उपाङ्गोपाङ्गों में विघटन का यह क्रम दूर तक चलता है. हमने केवल दिग्दर्शन मात्र कराया है. विडम्बना यह है कि एक सुन्दर ध्येय को कभी इस तरह विखण्डित करके नहीं देखा जा सकता है. कितनी भी सुन्दर आंखें हों, मुखमण्डल के सन्दर्भ से हटा कर देखी जाएं, तो भयावह ही लगेंगी.

फ्रांस देश में एक चित्रकार था, देखने में असुंदर, बड़े बडे कानों वाला. वह एक युवती को पागलपन की हद तक प्यार करता था, लेकिन उस युवती के लिए यह अजूबा प्रेमी केवल

एक मनोरंजन की वस्तु था. एक दिन उसने मजाक में अपने प्रेमी से कहा "श्रीमन्, मुझे तो आप के ये बड़े बड़े कान बहुत अच्छे लगते हैं." "कुछ तो है मुझमें जो तुम्हें अच्छा लगा", यह कहते हुए वह चला जाता है, और कुछ क्षणों में ही वापस लौटता है, हाथों में अपने कटे हुए कानों का पैकिट लिए हुए, जिसे वह प्रेमिका को सप्रेम समर्पित करता है. इस अनोखे उपहार को देख कर प्रेमिका चीखती हुई भाग जाती है.

सौन्दर्य की सत्ता तो अविखण्डनपर्यन्त ही होती है; विखण्डन सौन्दर्य का अवसान है; यही मूर्ति के ध्यान की विडम्बना है. जिसे ध्यान की प्रक्रिया में विखण्डित कर दिया है, उसे जोड़ा तो जा सकता है, लेकिन तोड़ और जोड़ के बीच जो खो गया है, उस सौन्दर्य की वापसी सम्भव नहीं हो पाती, न हीं अपने अंगी से अलग करके ध्यान का विषय बने अंग में श्रृंगार का वर्णन करने से उसकी कोई श्रीवृद्धि ही हो सकती है. मुख से विच्छिन्न हुई नासिका में नथुनी का वर्णन किस रस को जन्म देगा कह पाना मुश्किल है.

मूर्ति के आलम्बन में ध्यान की जो समस्याएं आती हैं, श्रीमद्भागवतपुराण का यह सन्दर्भ इसका निकट निदर्शन है. इसकी तुलना में निरवयव शिवलिंग में ध्यान अधिक सुकर होता है. लेकिन ध्यान की सर्वाधिक सहज प्रतिपत्ति तो प्रवहमान आलम्बनों में ही होती है, यथा कर्म, दीपकज्योति, नदी का प्रवाह, श्वासप्रश्वास आदि. इन सब विशेषों में, उनके सामान्य अर्थ के रूप में कर्म की अविकल उपस्थिति है. थोड़ी सी ही कोशिश से कर्म को योग में रूपान्तरित किया जा सकता है. अतः गीता का परामर्श है : *'योगस्थ: कुरुकर्माणि'*.

६.१०. साधना-लाघव :

कर्मयोग की व्यापक स्वीकृति का आधार : कर्म तो स्वयं प्रवाह रूप होता है; मनः प्रवाह के समनन्तर प्रवहमन कर्म-प्रवाह में मन की वृत्तियां स्वतः आलम्बन तलाश लेती हैं. मन को बांधे रखने के लिए कर्म को विखण्डित करना जरूरी नहीं होता, क्योंकि कर्म तो स्वयं विखण्डित, यानी प्रवाह रूप होता है. यही कारण है कि योगसाधना में मन को केन्द्रित करने के लिए किसी कर्म पर्याय का ही चुनाव किया जाता है. योग के साधक अपने शिष्यों को शब्द पर, मन्त्राक्षरों पर, या श्वासप्रश्वास पर ध्यान केन्द्रित करने का उपदेश करते हैं. वैष्णव सम्प्रदायों में भगवान् के विग्रह की सेवाविधि, ईसाई मत में आर्तजनों की सेवा – निकट से देखें तो फलाभिसन्धि-रहित

हो कर की गई उपासना और कर्मकाण्ड, कर्मयोग की ही कोटि में आते हैं. **वास्तविकता तो यह है, कि कोई भी कर्म, लौकिक हो या वैदिक, मन की साधना अर्थात् योग का आलम्बन बन सकता है, बशर्ते कि उसे दो दोषों की, फलानुसंधि और अकर्मासक्ति की फिसलनदार घाटियों से बचाते हुए सम्पादित किया जाए. इन दोषों से मुक्त हो कर कर्म को करने का ही नाम है योगस्थ हो कर कर्म करना.**

.६.११. *'समत्वबुद्धि '* और *'बुद्धियोग'* :

कर्मयोग की साधना के पौर्वापर्य क्रम : सामान्यतया व्याख्याकार समत्वबुद्धि और बुद्धियोग को समानार्थक मानते हुए व्याख्या करते हैं. यह गलत है, ऐसा नहीं कहा जा सकता. लेकिन जहां भिन्न शब्दों का प्रयोग होता है वहां कुछ विशेष विवक्षित होता है. यहां कर्मसंबन्ध (योगस्थः कुरु कर्माणि) योग के साधनापक्ष को बताता है जब कि बुद्धिसम्बन्ध (बुद्धियोग) उस साधना के फल को. इस प्रकार यहां कर्मयोग के क्रमपर्यायों को बताने के लिए दो अलग अलग शब्दों का प्रयोग हुआ है. तत्तदधिष्ठानों में बिखरा वासना का तंत्र, मूलतः अन्तःकरण पर आरोपित होता है. कर्ता और कर्म के अधिष्ठानों में उसका क्रमिक निराकरण, परम्परया अन्तःकरण की शुद्धि में पर्यवसित होता है.

असक्तिजनित मूल्यद्वन्द्वों के निराकरण से प्राप्त समत्वबुद्धि मूलतः एक अभावात्मक कल्प है, शुद्धबुद्धि अर्थात् बुद्धियोग के अवतरण की पूर्वशर्त. इस अवतरण के बाद, जो महत्त्वपूर्ण कार्य होने को रह जाता है वह है आचरण के नियामक और एक मात्र प्रवर्तक रूप में शुद्धबुद्धि की प्रतिष्ठा. यह कार्य शुद्धबुद्धि का स्वरूपनिष्ठ आभ्यन्तर व्यवसाय है और यथासमय सम्पन्न होता है, अनायास और निर्निमित्त. यह ध्यान देने की बात है कि इसी एकक में योग के दो लक्षण दिए हैं, *'समत्वं योग उच्यते'* तथा *'योगः कर्मसु कौशलम्'.* संदर्भ के लिहाज से पहला लक्षण समत्वबुद्धि में पर्यवसित होती योग की साधना को ध्यान में रख कर किया गया है, जब कि दूसरा लक्षण समत्व से आगे शुद्धबुद्धि की प्रतिष्ठा को ध्यान में रख कर कहा गया है. **फलानुसंधि और अकर्मासक्ति** से बचते हुए कर्म का कुशल सम्पादन ही इस बात का प्रमाण है कि शुद्धबुद्धि अब कर्म के अनुशास्ता का स्थान ग्रहण कर चुकी है. बुद्धि का यह योग, योग की चूडान्त उपलब्धि है; इसका पूर्वकल्प है समत्वबुद्धि.

शुद्धान्तःकरण की **प्रतिष्ठा** को ही बुद्धियोग अर्थात् बुद्धि का समागम कहा गया है. इसे कर्मयोग की साधना के क्रम का तृतीयचरण कहा जा सकता है, कुछ सावधानियों के साथ, क्योंकि इसे किसी क्रियाविधि का विषय नहीं बनाया जा सकता. शुद्धान्तःकरण में अनायास निष्पन्न होने वाली यह उसकी परिपक्वता है, जो व्यक्ति के कुशल व्यवहार में परिलक्षित होती है (योगः कर्मसु कौशलम्).

७. *'दूरेण ह्यवरं कर्म ...'*

साधना का तीसरा चरण : कर्मयोग से बुद्धियोग की ओर :

यह बुद्धियोग, कर्मयोग का पर्यवसितार्थ है. साधना के क्रम से देखें तो इसे कर्मयोग की साधना का तीसरा चरण कहा जा सकता है, जिसमें समस्त कर्मविधानों को तिरस्कृत करते हुए, साधना से शुद्ध हुई बुद्धि स्वयं आस्था का ऐकान्तिक आलम्बन और अनुशास्ता बन जाती है

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः॥४९॥

बुद्धियोग की अपेक्षा कर्म दूर से (अत्यन्त) ही निकृष्ट हैं. अतः हे धनञ्जय! तू बुद्धि का आश्रय ले; क्योंकि अपने को फल का हेतु मानने वाले अत्यन्त दीन होते हैं।

७.१. श्लोक का कथ्य : बुद्धि की शरण में जाने का परामर्श इस श्लोक का केन्द्रीय कथ्य है. इस परामर्श के समर्थन में दो युक्तियां देते हैं. बुद्धि की तुलना में कर्म का आश्रय निकृष्ट कोटि का है, और यह कि फल के लिए कर्म करने वाले अत्यन्त दीन होते हैं.

७.२.'बुद्धौ शरणमन्विच्छ' :

बुद्धि में ठिकाना तलाश करने का आवाहन :

'शरण' शब्द का अर्थ है, आश्रय, ठहराव या ठिकाना. अपनी आस्था के लिए हमें बुद्धि में ही ठहराव तलाशना चाहिए, यह शाब्दिक अर्थ है, ***'बुद्धौ शरणमन्विच्छ'*** का. यहां बात तलाश की है, केवल शौकिया बुद्धिवादी बन जाने की नहीं. बुद्धि को खोजने की और खोज कर आस्था को उसके संरक्षण में देने की बात कही गई है. जैसा कि महाभारत में कहा है

धर्मंरक्षेदवेक्षया — ***विवेक के द्वारा धर्म की रक्षा करे,*** अपने भीतर आस्था के लिए आश्वस्त करने वाले बौद्धिक आधार को खोजने और तराशने का ही नाम है बुद्धियोग.

धर्मदर्शन की दृष्टि से यह एक असाधारण महत्त्व का संदेश है. गीता किसी किताब की ओर आवाहन नहीं करती, स्वयं अपनी ओर भी नहीं. किसी पीर, पैगम्बर, गुरू या अवतारी पुरुष में आस्था की प्रतिष्ठा की भी बात वह नहीं करती. उसका आवाहन तो अपने शुद्धान्तःकरण में ही आस्था के आश्वस्त करनें वाले आधार की तलाश करने के लिए है. शुद्धबुद्धि आस्था का आश्वस्त करने वाला आलम्बन भी है और आचरण का प्रामाणिक अनुशास्ता भी. यह शुद्धबुद्धि ही है जो साधारण मनुष्यों को नबी, पैगम्बर, गुरू और युगदृष्टा आचार्यों की हैसियत देती है, उन्हें ईश्वर के साक्षात्कार का, उससे सीधे बातें करने और साक्षात् मार्गदर्शन प्राप्त करने का विशेषाधिकार सोंपती है. गीता में ही अन्यत्र बुद्धियोग की महिमा को इन शब्दों में कहा है :

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं येन मामुपयान्ति ते।।

(वे जो सतत योग की साधना करते हुए, प्रीतिपूर्वक मेरा भजन करते हैं, उन्हें मैं बुद्धियोग देता हूं, जिससे वे मुझे प्राप्त कर लेते हैं.)

७.३. *'बुद्धियोग '* का अर्थ :

कर्म सम्बन्धों में तथा अकर्म में आसक्ति का निराकरण, अन्तःकरण के जिस शुद्ध स्वरूप को प्रगट करता है, उसके विमर्श को ही बुद्धियोग यानी बुद्धि से जुड़ना कहा है. इस उपलब्धि के सामने, कर्म की आसक्तिमूलक वृत्ति, उससे होने वाले फलगम और तृप्ति के अनुतोष अत्यन्ततुच्छ प्रतीत होते हैं. शुद्धबुद्धि का आविर्भाव व्यक्तित्व को उस धरातल पर ले जाता है जहां वह आकांक्षा, अभाव और अपूर्णता के एहसासों से मुक्त होता है. फलागम से तृप्ति तो होती है, लेकिन तृप्ति की तलाश कभी पूरी नहीं होती, क्योंकि प्रत्येक तृप्ति एक नई प्यास को जन्म दे जाती है. सकाम कर्म, जन्म जन्मान्तरों तक अभाव और दारिद्र्य चेतना को ढोती, ओस की बूंदों से ओठ तर करती, याचकता की अभिशप्त यात्रा है, इसी बात को ध्यान में रखकर कहा है : *दूरेष ह्यवरं कर्म.*

८. बुद्धियोग की तुलना में कर्म की तुच्छता :

एक महत्त्वपूर्ण अन्तर्दृष्टि : *दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय'* इस वाक्य मे 'कर्म' शब्द का अर्थ है शास्त्रविहित कर्म. यह विधानाश्रित आस्था का उपलक्षण है जिसमें विहित कर्म को ही धर्म का परमार्थ माना जाता है. यह आस्था का मूर्त, कर्मकेन्द्रित अतः काफी हद तक विमर्शपराङ्मुख विग्रह है. इससे भिन्न, बुद्धि की शरण में जाने का अर्थ है आस्था के जाग्रत, अनुभवात्मक अनुशासन में प्रवेश करना है. इसकी तुलना में आप्तपुरुष और उसके वचनों पर टिकी आस्था निम्नकोटि की आस्था है. **बुद्धियोग की तुलना में आस्था के कर्मकेन्द्रित पुस्तकीयविग्रह जिन कारणों से अत्यन्त निम्नकोटि के कहे गए हैं, वे इस प्रकार हैं :**

१. शास्त्र (आप्तवचन) आस्था के परोक्ष आलम्बन हैं. किसी विश्वसनीय महापुरुष की गवाही से, जिनका यह दावा होता है कि उन्होंने परमार्थ का साक्षात्कार कर लिया है, वे आस्था का आलम्बन बनते हैं. यहां आस्थावान् को बिना किसी अपने आनुभविक प्रमाण के, एक साथ दो विश्वासों को स्वीकार करना पड़ता है. पहला संदेशवाहक की, पैगम्बर, धर्मगुरू, या अवतारीपुरुष की विश्वसनीयता में विश्वास, दूसरा जो संदेश उसके द्वारा हम तक आया है, उसकी विश्वसनीयता पर विश्वास. इन भारी भरकम विश्वासों में व्यक्ति के अपने अनुभव की कोई हिस्सेदारी नहीं होती. सम्पूर्ण आस्था दूसरे के, उधार मांगे अनुभव पर टिकी होती है. आस्थावान् के लिए आप्तपुरुष के वचन उपलब्ध होते हैं, अनुभव नहीं.

शब्द से प्राप्त *परोक्षज्ञान* और *साक्षात्कारात्मक-अनुभव* में गुणात्मक अन्तर होता है, वैसा ही जैसा लन्दन को देखने और दूसरे के मुंह से उसका वर्णन सुनने में होता है. परोक्षज्ञान भी उपयोगी होता है, राह बताता है, साक्षात्कारात्मक अनुभव की प्राप्ति में सहायक भी होता है, किन्तु परोक्ष में विकल्पबुद्धि और संदेह की सम्भावना सदा बनी रहती है. अतः साक्षात्कारात्मक अनुभव की तुलना में उसे निकृष्ट कोटि का ही माना जाएगा. विकल्पबुद्धि और संदेहों के आत्यन्तिक अवसान की भूमि है साक्षात्कारात्मक अनुभव, और इसका साधन है, बुद्धि का योग अर्थात् बुद्धियोग . इसीलिए कहा : *दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धि- योगाद्धनञ्जय.*

२. जो दुर्बल हैं वे बैसाखियों के सहारे चलते हैं; इसमें कुछ भी गलत नहीं है. लेकिन जो समर्थ हैं उनके लिए वैसाखी लेने को अनिवार्य तो नहीं बनाया जा सकता. जो मन और बुद्धि से स्वस्थ हैं, जिनमें तत्त्व को सीधे जानने की ललक है, जो दूसरे के अनुभव को अपना मानने को तैयार नहीं है, किसी पैगम्बर नबी या गुरू के द्वारा लाए धर्मविधान को अपनी आस्था सौंपने को तैयार नहीं हैं, वे स्वयं अपने लिए प्रामाणिक आस्था का अनुसंधान कर सकते हैं, यह बुद्धियोग का आश्वासन है. परमात्मा तक जाने का, उसका साक्षात्कार और मार्गदर्शन पाने का रास्ता शुद्धान्तःकरण से हो कर जाता है, पैगम्बरों के लिए भी और आम आदमी के लिए भी. शुद्धान्तःकरण में प्रतिष्ठित होना ही बुद्धियोग है. योग के द्वारा इसकी साधना, साधारण से साधारण व्यक्ति को भी उस कोटि में ले जाती है, जिसे केवल नबियों का पैगम्बरों और धर्मगुरुओं का ऐकान्तिक विशेषाधिकार माना जाता रहा है.

कुछ परिस्थितियों में विहिताचार से भी अन्तःकरण की शुद्धि होती है, किन्तु वहां आचरण कर्मयोग का रूप ले चुका होता है. सामान्यतया कर्म के विधान पर टिकी आस्था व्यवहित और परापेक्षी होती है; वह बुद्धियोग के निश्चयात्मक स्वरूप और प्रामाणिकता को दूर दूर तक नहीं छूती.

३. आप्तपुरुषप्रणीत कर्मविधान में आस्था का निवेश, मानव की अन्तरंग गरिमा को दो प्रकार से व्याहत करता है. मानव आध्यात्मपथ में सतत परापेक्षी बन जाता है, अपने और अपने परमात्मा के बीच मध्यस्थपरम्परा को स्वीकार करने को विवश होता है. मध्यस्थ परम्परा की महत्त्वपूर्ण कड़ी हैं, आप्तपुरुष और तत्प्रवर्तित शास्त्र. अपने प्रभावी अनुपालन के लिए शास्त्रव्यवस्था भय और प्रलोभनों का सहारा लेती है, प्रलोभन दिव्यसुखों का और भय नारकीययातनाओं का. मानव की यह दरिद्र अवधारणा उसे परापेक्षी बनाते हुए, याचक के दैन्य को आजीवन ढोते रहने को अभिशप्त करती है. थोड़े में यह रहस्य है ***कृपणाः फलहेतवः***. इस सूत्र का विशेष विचार नीचे दिया जा रहा है.

९. *'कृपणाः फलहेतवः'* : कार्पण्यप्रदूषण, उसका विस्तार :

'फलहेतवः शब्द का अर्थ है, अपने को फल का हेतु अर्थात् जनक मानने वाले लोग. अत्यन्त दीन हैं वे लोग जो अपने में फल का जनक होने का भ्रम पालते हैं, यह शब्दार्थ हुआ'

'कृपणाः फलहेतवः' का. फलजनकत्व से फलाधिकार, अधिकार से अधिकृत में आसक्ति, आसक्ति से अपेक्षा, सततापेक्षा से कार्पण्य (दैन्य) की प्राप्ति होती है. अपने सिर पर अपनी अपेक्षाओं का पिटारा लिए, सारे संसार को देखते परखते याचक का स्थायीभाव होता है दैन्य.

कर्ता से कर्म, कर्म से फल, यह कार्यकारण श्रृंखला है, जिसे प्रत्येक उपक्रम में देखा जा सकता है. इस क्रम में कर्महेतुता तो कर्ता में साक्षात् प्राप्त है, किन्तु कर्मसम्बन्ध से यानी अन्वयेन वह अपने को फलहेतु भी मान बैठता है. फलहेतुता से फलाधिकार और फलाधिकार से फलासक्ति — इस अनधिकृत विस्तार से कर्ता के भीतर जनमता है एक अपूरणीय अपेक्षागर्त, जो उसे देता है याचक की दीनता में ढली एक अनपायी पहचान.

९.१. कार्पण्यप्रदूषण का प्रमुख संवाहक :

फलाधिकार पर टिकी दिव्य-न्याय की व्यवस्था : जिसका उद्यम है, वह फलहेतु होने के कारण फल का अधिकारी है, यह फलाधिकार का सिद्धान्त लोक में न्याय का आधार है. संस्थागत धर्म इस सिद्धान्त को लोकोत्तर विस्तार देते हुए धर्म की विधिमूलक अवधारणा प्रस्तुत करते हैं. ईसाई इस्लाम आदि धर्मों में प्रलय के बाद निर्णय के दिन की कल्पना की गई है जब सर्वशक्तिमान् परमात्मा सातवें आसमान में न्यायाधीश के रूप में अपने सिंहासन पर विराजमान होंगे. सभी मनुष्य उसके सामने लाए जाएंगे, और वह उनके बारे में निर्णय करेगा; अच्छे बुरे कर्मों के लिए दिव्य सुखों के भोग और बुरे कर्मों के लिए नरक की यातनाएं. विभिन्न संस्थागत धर्मों में इसे अलग अलग विम्बों में संजो कर प्रस्तुत किया गया है. सब के बीच जो सामान्यतत्त्व है वह है दिव्यन्याय रूप में अवधारणा.

९.२. कार्पण्य-प्रदूषण की बहुमुखी संक्रामकता :

जहां तक लोकव्यवस्था की बात है, फल उद्यम करने वाले का अधिकार है, इस बारे में कोई विवाद नहीं हो सकता. लेकिन जब इसी को धर्म और नैतिकता के सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया जाता है तो यह आस्था में लेनदेन की दुनियांदारी और तुच्छ अपेक्षाओं का आधान करता है. इससे एक ऐसी आस्था जन्म लेती है जो एक साथ मानव की, उसकी आस्था की और उसके भगवान् की गरिमा का अवमूल्यन करती है. फलहेतुता का दरिद्र स्पर्श जिसे छूता है, उसका अवमूल्यन कर देता है.

(क) मानव और उसकी आस्था का अवमूल्यन :

दिव्य न्याय पर टिकी आस्था, वस्तुतः एक विधिमूलक आस्था है जो फलाधिकार के एक विधान को परिकल्पित करती है, इस दुनियां के लिए भी और दूसरी दुनियां के लिए भी. विधिमूलक आस्था मानव को केवल विधान के अनुपालन का अधिकार देती है. इसमें मानव के विवेक (बुद्धिविमर्श) पर आधारित सार्वभौमिक नैतिकबोध तथा कलात्मकमूल्यों के लिए कोई स्थान नहीं हो सकता. विधान का विषय तो केवल आचरण ही हो सकता है, मन का संयम, विचारों का सौन्दर्य, दान और दया के शास्त्रविहित मूल्यों से परे अनिर्बन्ध-करुणा का विस्तार —ये किसी विधान का विषय नहीं बनते, और इसीलिए अधिकांश पुस्तकपंथों के लिए ये अर्थहीन और उपेक्षणीय हैं.

सामी शास्त्रों के अनुसार, मानव एक पापमय सृष्टि है. अतः उसकी अपनी पूंजी, उसका उसका अपना विवेक और साधना उसके उद्धारक नहीं हो सकते. उसे चाहिए एक अवतरित शास्त्रविधान, जो रास्ता तय करे, एक मसीहा जो उसे निर्धरित रास्ते से, भेड़ों की तरह हांक कर ले जाए. मसीहा में विश्वास और उसके द्वारा अवतरित विधान, आस्था के लिए इतना पर्याप्त है. इसके अलावा मानव की जो भी आभ्यन्तर सम्पदा है वह आस्था में अप्रासंगिक है. इतना ही नहीं, यह सम्पदा यदि विधि के अनुपालन में उपकारक नहीं बनती तो यह अवांछित है, शैतानी भटकाव है, कठोरतापूर्वक दमन किए जाने के योग्य.

विधिमूलकधर्मो में, मानव की इस बेबस, दरिद्र अवधारणा के मूल में है उनका फलाधिकार-चिन्तन. फलाधिकार की लोकव्यवस्था से दिव्यन्याय का परिकल्प, उस परिकल्प से धर्म की विधिमूलक अवधारणा, और उस विधिमूलक धर्म से प्राप्त होती है मानव की एक गरिमाहीन, दरिद्र अवधारणा, जिसमें वह विधान का पालन करने के लिए, उसमें प्रतिश्रुत सुखों और यातनाओं को भोगने के लिए अभिशप्त है. मानव के विगरिमाकरण के इस सम्पूर्ण उपक्रम के मूल में है मानव की फलहेतुगर्भित अवधारणा और उसके द्वारा आस्था में दुनियांदारी का निवेश.

(ख). फलकार्पण्य से प्रभावित परमात्मा की अवधारणा :

'हमारा हुकुम मानो और हमसे इनाम पाओ', इंसान और परमात्मा के बीच अगर यही रिश्ता है तो यह न तो इंसान की और न ही उसके परमात्मा की गरिमामय छवि को उभारता है. परमात्मा की करुणा अनिर्बन्ध है. उसे किसी कानून में बांधा नहीं जा सकता, किसी पैमाने

में ढाला नहीं जा सकता. परमात्मा धर्म का अनुशास्ता हो सकता है, वह धर्मविधान को भेजने वाला भी हो सकता है. इसमें कुछ भी आपत्तिजनक नहीं है. किन्तु यही एकमात्र सम्बन्ध हो सकता है इंसान और उसके भगवान् के बीच, ऐसा मानना दुराग्रह होगा. अधिक से अधिक, मानव के साथ उसकी अनन्त सम्बन्ध-सम्भावनाओं में से यह एक है. परमात्मा यदि है तो मानव के साथ उसका सम्बन्ध, उसकी असीम करुणा में, पूर्णता में सहभाग और व्यापक-कृतार्थता का ही हो सकता है. इसे किसी पुरागाथा कल्पित सूत्र या उस सूत्र में कल्पित विधि के द्वारा कहा तो जा सकता है, उससे रीता नहीं किया जा सकता.

९.३. सारसंग्रह :

कृपणा:फलहेतव:' यह वाक्य वस्तुतः *'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय'* इसमें हेतु बनते हुए, ***'बुद्धौ शरणमन्विच्छ'*** इस मूलपरामर्श की पुष्टि करता है. आस्था का सर्वाधिक परिष्कृत रूप वह है जब वह अपने भीतर अपने उद्धारक की तलाश करती है. गीता किसी धर्मसंघ की शरण में जाने की बात नहीं कह रही. किसी पैगम्बर, गुरू, या अवतारीपुरुष की शरण में जाने की बात नहीं कह रही. किसी और के इलहाम या उधार मांगे अनुभव में सहारा ढूंड़ने की बजाय **'तुम अपनी योगपरिष्कृतबुद्धि को आस्था का आश्रय बनाओ'** (*बुद्धौ शरणमन्विच्छ*), यह गीता का परामर्श है. योग से परिष्कृत हुई बुद्धि स्वतंत्रता की भूमि है. फल निर्भरता से मुक्ति की भूमि है. फल के लिए कर्म करने वाले अत्यन्त दीन होते हैं, क्योंकि उनकी खुशी, उनकी प्रसन्नता दूसरों की कृपा पर निर्भर है. 'दूसरे' का तात्पर्य यहां उस फल से है, जिसका आगम स्वयं अनेकानेक ऐसे संयोगों पर निर्भर रहता है जो कर्ता के नियंत्रण के बाहर हैं.

अदीन तो वह है जो स्वतंत्रता में प्रतिष्ठित है; जिसकी आत्मतुष्टि किसी लौकिक या अलौकिक अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं रखती. *'जिनको कछू न चाहिए, वे शाहन के शाह'.* फलाभिसंधि अपने स्पर्शमात्र से व्यक्तित्व की हैसियत बदल देती है. उसकी अंतरंग गरिमा को क्षण भर में ही खण्डित करते हुए, उसे दीन और याचक बना देती है :

रहिमन याचकता गहे बड़े छोट ह्वै जात।
नारायण हू कौ भयौ बामन अंगुर गात।।

जहां याचकता है, अपेक्षाएं हैं, वहां अवश्यम्भावी है दीनता, बेबसी और स्वरूप-संकोच. इसमें लक्ष्मीपति भगवान् नारायण के लिए भी अपवाद की अनुमति नहीं है. गीता में *कृपणा:*

फलहेतवः कह कर इस अवश्यम्भावित्व का ही संग्रह किया गया है. वैसे तो सभी काम्य कर्मों में इस अवश्यम्भावित्व को देखा जा सकता है, गीता में इसके संग्रह का प्रयोजन कर्मकाण्डपरायण पुस्तकपंथों के अपूरणीय दारिद्र्य का निदर्शन कराते हुए आस्था के श्रेष्ठ, विश्वसनीय आधार के रूप में बुद्धि की प्रतिष्ठा करना है — *दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय.* कहने की आवश्यकता नहीं कि यह बुद्धियोग कर्मयोग की ही परिणत-अवस्था है.

१०. *'बुद्धियुक्तो जहातीह...'* :

किस तरह बुद्धियोग कर्म से श्रेष्ठ है : कर्म फल से जुड़ना, न जुड़ना यदि व्यक्ति का चुनाव है, यदि व्यक्ति के पास ऐसा उपाय मौजूद है कि वह कर्मफलानुबंध से मुक्त हो सकता है, तो दुनियां के सभी पुस्तकपंथ, उनकी विधानाश्रित धर्मव्यवस्थाएं, न केवल आस्था के परमार्थ रूप में अपनी हैसियत खो देते हैं, अपितु प्रलोभन और भय पर आधारित, उनकी स्वर्ग-नर्क-पार्यन्तिक धर्म की अवधारणा अपने आप में बहुत तुच्छ लगने लगती है. आस्था के प्राथमिक प्रशिक्षण में इनकी उपयोगिता हो सकती है, लेकिन इंसान की दरिद्र अवधारणा पर आधारित पुस्तकपंथों के चरम और आखिरी सत्य होने के दावों को कभी गंभीरता से नहीं लिया जा सकता.

आचारमूलक पुस्तकपंथ, कर्म की व्यवस्था का विस्तार करते हैं, उसका अतिक्रमण नहीं. इनसे भिन्न बुद्धियोग कर्म की व्यवस्था के अतिक्रमणकी साधना है. इसीलिए कहा है, ***दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय***. किस प्रकार बुद्धियोग, आचारमूलक धर्मों को बहुत पीछे छोड़ देने वाला, आस्था का उच्चतर रूप है, इस बात का स्पष्टीकरण नीचे दिए श्लोक में देते हैं :

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।। ५०।।

बुद्धि (समत्वबुद्धि) से युक्त मनुष्य यहीं (इस संसार में रहते हुए) पुण्य और पाप दोनों का त्याग कर देता है. अतः तू योग में लग जा, क्योंकि योग ही कर्मों में कुशलता है.

१०.१. श्लोक के कथ्य का विश्लेषण :

इस श्लोक में तीन बातें कही गई हैं : बुद्धियोग में प्रतिष्ठित आस्था का फलितार्थ (*बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते*), उसके लिए योग की साधना का परामर्श, (**तस्माद्योगाय युज्यस्व**) तथा साधना सही ढंग से हुई है इसकी पहचान (**योगः कर्मसु कौशलम्**).

१०.२. *'बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते'* : व्याख्या :

कर्मबंधन के अतिक्रमण का सहज उपाय है योग. यह एक ऐसा कर्मकौशल है, जिसकी सहायता से मनुष्य यहीं, समस्त दायित्वों का निर्वाह करते हुए, कर्मबंधन से मुक्त हो सकता है. योग की सहायता से कर्म को इस कुशलता से किया जा सकता है कि कर्म केवल कर्म बना रहता है, बिना किसी प्रकार के मूल्योपसर्जन के. मूल्यविहीन कर्म निर्बीज होता है; उससे भोक्तव्य और भोगायतनों की बंधनकारी परम्परा जन्म नहीं लेती. इस प्रकार, बिना किसी भोगबंधन का निर्माण किए योगस्थ कर्म इसी लोक में उपक्षीण हो जाता है. इसी रहस्य का गीता सूत्ररूप में संग्रह करती है — ***बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते.*** पुण्य(सुकृत) और पाप(दुष्कृत) का यह विसर्जन किस प्रकार सम्भव होता है, इसे समझने के लिए कर्मबंधन के निर्माण और विसर्जन की प्रक्रिया को और निकट से समझने की जरूरत है.

१०.३. कर्म की उन्मोचक सम्भावनाओं का अनुसंधान :

सतत प्रवहमान वासना प्रवाह की कोई प्रबल वासना संतान ही कामना का आकार लेती है. ऐसा होने पर, वह प्रवाह से अलग होकर काम्य अर्थ के रूप में सामने आती है.वासना के अवचेतन प्रवाह में यह एक सुव्यक्त चेतनबिन्दु है. अनन्तर यह कामना जब संकल्प का आकार लेती है, तब कर्मबीज के रूप में स्पष्टतया अपने को परिभाषित करते हुए, वासना प्रवाह से पूरी तरह अलग हो जाती है. **संकल्पबीज की कर्मरूप में परिणति, वासना संतान के चेतना के विषय रूप में उत्थान का चरम बिन्दु है.** चेतना का विषय होने से चेतन में उद्भासित होने से ही कर्म को **कर्म** कहा जाता है. कर्म में रूपान्तरित होने के बाद वासना संतति का अपने प्रवाह से कोई सम्बन्ध नहीं रहता.

कर्म एक सप्रयोजन व्यवहार का नाम है, जिसका रूप संकल्प में ही तय हो जाता है. प्रयोजन की दिशा में वह उन्मुख हो इसमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती. इससे कर्म का वस्तुनिष्ठ स्वरूप व्याहत नहीं होता. किन्तु कर्म के रूप में साकार हुई वासना संतति, अपने आधार में फिर से पहुंचने को बेचैन रहती है. जैसे किसी उनींदे आदमी को रोशनी अच्छी नहीं लगती, उसकी आंखें अंधेरे का सकून तलाशती हैं, वैसे ही कर्म में साकार हुई वासना संतति, चेतना के प्रकाश में बेचैन अनुभव करती है और अपने उद्भव के अवचेतन प्रवाह में वापसी के लिए छटपटाने

लगती है. कर्म की सत्ता को विगलित करके, उसे अवचेतन वासना प्रवाह में वापस लाने की राह फलासक्ति से हो कर गुजरती है. फलासक्ति अप्रयुज्य वासना लेश है जो कर्ता और कर्म दोनों को मूल वासना प्रवाह से जोड़ने का काम करता है. अतः कर्मावरोध के कारण निलंबित वासना प्रवाह, फलासक्ति की सूक्ष्मप्रवाहिका के द्वारा कर्मावरोध को लांघता, उस पर आरूढ हो कर फलागम पर्यन्त अपनी आगे की यात्रा को सम्पन्न करता है.

इस प्रकार कर्म में दो वासना सम्बन्ध प्राप्त होते हैं; एक वासना प्रवाह को निलम्बित करते हुए, उसे व्यापक, निर्वैयक्तिक चेतना से जोड़ता है, दूसरा भावरूप (आसक्ति) में विगलित करके, पुनः उसे वासना प्रवाह में विलीन करने की कोशिश करता है. व्यापक चेतना से तात्पर्य फिलहाल, लोकव्यवहारोपयोगी चेतना से है. कुशल लोक व्यवहार भी, वासना प्रवाह में बहते रहने की अपेक्षा श्रेष्ठ है, क्योंकि वह सीमित अर्थ में ही सही, पहले वासना प्रवाह का अवरोध और फिर निर्वैयक्तिक लोकव्यवस्था में उसका उद्धार करता है. कर्म को वासना प्रवाह में फिसलने से रोकना, प्रयोजन को आसक्ति रंजित होने से रोकना ही वह कर्मकौशल है, जिसे योग नाम दिया गया है. कर्म में वासना के प्रवाह को निलम्बित करने की अद्भुद् सामर्थ्य होती है. किन्तु यह निलंबन अधिक समय तक टिकता नहीं है, और जैसा कि बताया जा चुका है, फलासक्ति के द्वारा कर्म से जुड़ कर, कर्म के माध्यम से वासना अपने प्रवाह सातत्य को बनाए रखती है.

कर्म का यदि वासना-प्रवाह में अधःपतन नहीं हुआ है, तो उसकी सत्ता में वासनाप्रवाह का निलंबन, सत्त्वशुद्धि (बुद्धियोग) का साधक हो जाता है. समत्वबुद्धि यहां वासनाप्रवाह के निलंबन से स्वतः प्राप्त होती है. उसके लिए किसी प्रयत्न की जरूरत नहीं पड़ती. प्रयत्न की जरूरत पड़ती है कर्म के वासना प्रवाह में फिसलने से रोकने के लिए. यह फलासक्ति है जो वासनाप्रवाह के लिए कर्म से हो कर गुज़रने की राह बनाती है, और जो कर्म अवरोधक था उसे वासनाप्रवाह के संवाहक का रूप दे देती है. अतः अन्तिम विश्लेषण में फलासक्ति का निरोध ही योग की मूल समस्या बनता है. इसका निर्दुष्ट सम्पादन ही कर्म की कुशलता है. समत्वबुद्धि (बुद्धियोग) इसकी परिणत उपलब्धि.

जिस कर्ता में समत्वबुद्धि आ गई, उसका कर्म परिणति तक तो पहुंचेगा, किन्तु आसक्तिके अभाव में वह बंधन का रूप नहीं ले सकेगा. कर्म की परिणति स्वतः बंधन नहीं होती. प्रिय या

अप्रिय रूप में, शुभ या अशुभ रूप मे, संक्षेप में परिणति का हेयोपादेय रूप में विनिश्चय ही बंधन होता है. इसीलिए कहा *'बुद्धियुक्तो जहातीह उसे सुकृत दुष्कृते.* यहां यह नहीं कहा कि बुद्धियुक्त (व्यक्ति) कर्म के **'परिणाम'** को छोड़ देता है. इतना भर कहा गया है : **पुण्य और पाप दोनों को छोड़ता है.** स्पष्ट है समत्वबुद्धि से किए गए कर्म, 'आसक्ति' के अभाव में पुण्य और पाप का रूप नहीं लेते; केवल 'कारण-कार्य' बन कर रह जाते है.

१०.४. *'योग: कर्मसु कौशलम्'* : व्याख्या :

कर्म करते हुए कर्मबंधन से बच निकलने की व्यूहरचना : कर्म में रूपान्तरण वासना का सर्वाधिक दुर्बल, सर्वाधिक आक्रमणीय स्थल है. दुर्बल इसलिए कि कामना, संकल्प और कर्म में क्रमिक रूपान्तरण वासना के बल को बहुत हद तक क्षीण कर देता है, आक्रमणीय इसलिए कि मन की अंधेरी पर्तों में छिपी वासना, कर्म के रूप में साकार घटना बन कर खुले में आ जाती है, जहां उसे घेरा जा सकता है, उपाय साध्य बनाया जा सकता है. **जब शिकार गुफा के अंधेरे में हो उसका शिकार नहीं हो सकता. खुले मैंदान में ही शिकार आसान होता है. आसक्ति की पहचान, निरोध और उच्छेद, कर्म के अधिष्ठान में ही सब से आसान हैं.** यही स्थल है जहां वासना प्रवाह, जिसमें कर्म के द्वारा व्यवधान उत्पन्न होगया था, कर्म को ही माध्यम बनाते हुए पुनरुज्जीवित होता है. कर्म पर आरूढ़ वासना, क्रमशः फलाकांक्षा, फलागम, तृप्ति, तृप्ति के संस्कार, और तज्जनित तृष्णा के रूप में अपने भाव पर्यायों का विस्तार करती हुई, मन की गहराइयों में अपने प्रवाहसातत्य को बनाए रखती है. **सावधान कर्ता, कर्म के दृष्ट आलम्बन में वासना की घेराबंदी करता है; वह उसे कर्म पर आरूढ़ होने से रोकता है और इसको सुनिश्चित करने के लिए वह फलासक्ति के उस गलियारे को अवरुद्ध करता है जिसके द्वारा वासना कर्म तक पहुंचती है. इस प्रकार कुशलतापूर्वक कर्म का अनुष्ठान करने वाला योगी वासना तन्तु के विस्तार का कर्म करने के क्रम में ही उच्छेद कर देता है.**

कर्म तक पहुंच कर वासना का अधिकांश बल क्षीण हो चुका होता है. लेकिन जो अनुपयुक्त आसक्तिलेश बच रहता है, वह कर्म को फलोन्मुख करने के लिए पर्याप्त होता है. बच रहे आसक्तिलेश के कारण कर्मफल कर्ता तक पहुंच जाए यह भी सम्भव है. किन्तु क्षीणबल कर्म-परिणति में यह सामर्थ्य नहीं रहती कि वह आगे संचित होकर किसी आकांक्षासंतान को जन्म

दे सके. **एकाग्र मन से कर्म में तल्लीन व्यक्ति में वासना प्रवाह रुक जाता है, यह सामान्य अनुभव है. कर्म पर इस वासना प्रवाह को पुनः आरूढ होने से रोकना, उसके पुनर्नवीनीकरण को अवरुद्ध करना, यही कर्म की कुशलता है, यही कर्मयोग है.**

१०.५. जहां 'लौकिक' और 'धार्मिक' की विभाजनरेखा क्षीण हो जाती है :

शास्त्रों में मन की वृत्ति के निरोध को योग कहा गया है(*योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः*) . इसके लिए योगीजन विशेष साधना करते हैं. किन्तु सामान्य जन, अपने दैनिक कर्म को आलम्बन बनाकर, इसी में वासना प्रवाह को अवरुद्ध करके योग की सिद्धि कर सकते है. यह कर्मयोग की पद्धति है. सरल एवं सुर्वजन सुलभ होने से गीता में इसे प्रथम उपदेश का गौरव प्राप्त है. कर्मयोग की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसकी साधना में लौकिक और धार्मिक की विभाजन रेखा अर्थहीन हो जाती है. इसकी सहायता से हमारे रोजमर्रा के कर्म इबादत बन सकते है, यदि हमें उन्हें सही ढंग से करना आता हो :

आत्मा त्वं गिरिजा मतिः सहचराः प्राणाः शरीरं ग्रहं
पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रासमाधिस्थितिः।
सञ्चारः पदयोः प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वा गिरो
यद्यत्कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भोस्तवाराधनम्।।

यहां एक ऐसी अवस्था की कल्पना की गई है, जब शरीर स्वयं परमात्मा का मंदिर बन जाता है, विषयोपभोग के उपस्कर पूजा की सामग्री बन जाते हैं, प्रत्येक पदचाप भगवान की प्रदक्षिणा और सम्पूर्ण वाणी भगवान् की स्तुति बन जाती है; वस्तुतः किए गए सभी कर्म जहां आराधना बन जाते हैं, वह है आस्था का साधनामूलक अपुस्तकीय रूप. उपासना विधि के बंधनों से मुक्त होने के कारण ही इसे ''अपुस्तकीय' कहा है.

११. बुद्धि की शरण में जाने का आवाहन : इसके व्यापक निहितार्थ :

११.१. आचरण के अनुशास्ता रूप में बुद्धि की प्रतिष्ठा : विवेच्य श्लोक में कर्म की तुलना में बुद्धियोग की श्रेष्ठता को बताया. जिसकी तुलना में बुद्धियोग को श्रेष्ठ बताया है वह सकाम कर्म भी है और निष्काम भी. सकाम कर्म, कर्म की गरिमा को खंडित करता है, कर्ता को

याचक और दीन बनाता है, जब कि निष्काम में, प्रेरक उपादान के उपक्षय से अकर्म, अर्थात् कर्म के उच्छेद की स्थिति बनने लगती है. कर्म और अकर्म दोनों में प्रेरक तो फलतृष्णा ही है. फलतृष्णा का उच्छेद होने के बाद भी क्या कर्म होगा? यदि होता है तो उसका प्रवृत्तिहेतु क्या होगा. इस बात को ध्यान में रखते हुए कहते हैं : ***बुद्धौ शरणमन्विच्छ.*** इसका सहज अर्थ है, **'आस्था में बुद्धि के अनुशासन को स्वीकार करो'**. इससे पहले ***'समत्वं योग उच्यते'*** इस प्रकार योग का सामान्य लक्षण दिया. 'सिद्धि असिद्धि सहित जो भी कार्मिक मूल्य हैं, लौकिक या धार्मिक, वे सभी वैयक्तिक और जातीय आधारों में अनादि वासना अर्थात् (आसक्ति) की संरचनाएं हैं. उनके द्वन्द्व से मुक्ति समत्व है. समत्व का फल है अन्तःकरण की शुद्धि. इस प्रकार शुद्ध हुआ अन्तःकरण जब व्यक्तित्व के केन्द्रीय अनुशास्ता के रूप में उभरता है, तब इसे बुद्धियोग कहते हैं.

बुद्धियोग का शाब्दिक अर्थ है, शुद्धबुद्धि की प्राप्ति या प्रतिष्ठा. यह वह अवस्था है जब प्राकृत उत्प्रेरकों का निराकरण करके, उनका नियमन करते शास्त्रविधानों का भी निराकरण करके, शुद्धबुद्धि ही सम्पूर्ण व्यक्तित्व की अनुशास्ता बन बैठती है. इस प्रकार अन्तःकरण का शोधन और अनुशास्ता रूप में उसकी प्रतिष्ठा – एक ही साधना के क्रमिक पक्ष हैं; एक ही साधना के व्यतिरेकी और आन्वयिक कार्य, जिनका निदर्शन हमें क्रमशः समत्वयोग और बुद्धियोग में होता है.

११.२. शुद्धबुद्धि से प्राप्त नैतिकता का स्वरूप :

दरअसल आचारदर्शन की भारतीय और पाश्चात्य परम्परा में अनेक विचारक ऐसे हुए हैं जिन्होंने शुद्धबुद्धि को आचरण के सार्वभौमिक प्रमाण के रूप में मान्यता दी है. इनमें काण्ट नाम के जर्मन दार्शनिक का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है. काण्ट के अनुसार स्व-भाव का साधारणीकरण शुद्धबुद्धि का प्रामाणिक व्यवहार है, जो नैतिकनिरोध का रूप लेता है. किन्तु गीता नैतिकनिरोध की नहीं, नैतिकद्वन्द्व के निराकरण की बात करती है, जोकि शुद्धबुद्धि की प्रतिष्ठा का पूर्वकल्प है.

स्व-भाव का साधारणीकरण अन्वय और व्यतिरेकी — इन दो रूपों में सूत्रबद्ध किया जा सकता है : *'तुम दूसरों के प्रति वह करोगे, जो तुम चाहते हो कि दूसरे तुम्हारे साथ करें'* तथा यह कि *'तुम दूसरों के प्रति वह नहीं करोगे, जो तुम नहीं चाहते कि दूसरे तुम्हारे साथ करें'*. स्व-भाव

का यह साधारणीकरण, एक तरह से विनिमय है, पारस्परिकता का सिद्धान्त, जो समाज व्यवस्था की दृष्टि से असाधारण महत्त्व रखता है. लेकिन यह धर्म का तो क्या, नैतिकता का परमादर्श भी नहीं हो सकता. इसलिए गीता स्व-भाव के साधारणीकरण की नहीं उच्छेद की बात करती है., भोगाधिकार के समर्पण की बात — *कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन.* सच्चे त्याग में समर्पण होता है, विनिमय नहीं . स्व-भाव का साधारणीकरण, नैतिक निरोध रूप में आचार मूल्यों को जन्म देता है, जब कि उसका अपलाप, मन की साधना (योग) को परिकल्पित करते हुए, अन्तःकरण की शुद्धि को. शुद्धान्तःकरण का अनुशासन, यहां साधारणीकरण की प्रक्रिया से प्राप्त निरोध का रूप न ले कर, करुणा का रूप लेता है, क्योंकि साधना द्वारा स्व-भाव के क्षरण के बाद, साधारणीकरण के लिए स्व-पर-भावरूप अपेक्षित उपादान की उपलब्धि नहीं हो पाती. कर्मयोग की नैतिकता में दान होता है, निराकांक्ष, प्रतिदान निरपेक्ष.

कर्म में आसक्ति का निषेध, जिस बुद्धि के योग में पर्यवसित होता है, वह भोक्तृभाव से मुक्त होता है, कर्तृभाव दूर तक शिथिल हो जाता है.

एक रूपाजीवा ने एक बार सुन्दर, युवा बौद्धभिक्षु को देख कर, उसे अपने यहां आने का निमंत्रण दिया. भिक्षु ने उत्तर दिया, ''मैं अभी तो नहीं आ सकता, लेकिन यह वायदा है, एक बार तुम्हारे पास आऊंगा जरूर." वर्षों बीत गए. एक बार वही भिक्षु उसी रास्ते से गुजरा. उसने सड़क के किनारे पड़ी, बीमारियों से जर्जर एक नारी आकृति को देखा. भिक्षु ने उसे पहचान लिया. स्नेह से उसे गोद में लेते हुए कहा, ''मां, मैंने कहा था न कि मैं एक बार आऊंगा जरूर". यह प्राकृतवृत्ति (स्व-भाव) के उच्छेद से प्राप्त करुणा का रूप है. साधारणीकरण और निरोधक नैतिकता से बहुत आगे की बात है यह.

कर्मयोग की साधना में, प्राप्तव्य मूल्य स्व-भाव के निरोध का नहीं, उसके अपलाप और उच्छेद का रूप लेता है. स्व-भाव का अर्थ है, कर्तृ-भोक्तृभाव. अन्तःकरण में रूढ़ ये भाव समस्त प्रवृत्तियों के हेतु होते हैं. कर्म में आसक्ति का निषेध, जिस बुद्धि के योग में पर्यवसित होता है, वह भोक्तृभाव से मुक्त होता है, कर्तृभाव दूर तक शिथिल हो जाता है, विगलित होने लगता है. इस अवस्था में शुद्धान्तःकरण (शुद्धबुद्धि) तत्त्वावगति का ही प्रमाण नहीं होता, अपितु आचरण का भी प्रामाणिक प्रवर्तक बन कर बैठता है.

साधक यदि ईश्वरवादी है तो यह शुद्धान्तःकरण ही उसके लिए ईश्वरीय प्रेरणा का संवाहक बन जाता है.युग युगों से गायत्री मंत्र हिन्दुओं की अधिकृत प्रार्थना है, जिसका अर्थ है : **'हे परमात्मा, तीनों लोकों को प्रकाशित करने वाला तेरा श्रेष्ठ तेज हमारी बुद्धि को प्रेरित करे'**. ईश्वर के साथ सीधा संवाद धर्मगुरुओं और पैगम्बरों का विशेषाधिकार नहीं है. कोई भी व्यक्ति जो जिज्ञासु है, परप्रत्ययनेयबुद्धि नहीं है, बुद्धियोग की साधना के द्वारा ईश्वरीय प्रेरणा में साक्षात् सहभागी हो सकता है, यह आश्वासन हिन्दूधर्म को संसार के सभी ईश्वरवादी पुस्तकपंथों से एक अलग हैसियत, एक अलग व्यक्तित्व दे देता है. जो ईश्वरवादी नहीं हैं उनके लिए तो शुद्धान्तःकरण ही आस्था का एक मात्र अवलम्ब हो सकता है. इस प्रकार निरपवाद है बुद्धियोग का महत्त्व.

■ ■ ■

पंचम एकक:

('योगबुद्धि' प्रकरण का उपसंहार)

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।।५१।।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।।५२।।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचलाबुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।।५३।।

बुद्धियोग से सम्पन्न मनीषी कर्म से उत्पन्न फल को त्याग कर, जन्मरूपी बंधन से छूटे हुए, निर्दोष परमपद को प्राप्त होते हैं (५१). जब तेरी बुद्धि मोह के दलदल को पार कर जाएगी, तब तू सुनने योग्य और सुने हुए के प्रति वैराग्य को प्राप्त होगा(५२)शास्त्रों के कारण विभ्रमित तुम्हारी बुद्धि जब समाधि में अचल और स्थिर हो जाएगी, तब तू योग को प्राप्त होगा (५३).

१. **अमयेककः योगस्योद्धारकसाधनां संगृह्णन् करोति सम्पूर्णधर्मत्वेन योगस्य प्रतिष्ठाम्। सामान्यधारणेयं यन्नास्ति योगो धर्मः, स्वास्थ्यसाधनमात्रत्वादस्य शरीरमनसोः। गीतायाः साम्प्रदायिकभाष्यपरम्पराऽपि समर्थयतीमां धारणाम्। अन्तःकरणशुद्धिद्वारा ज्ञानभक्त्योरुप-कारकत्वान्नास्ति योगस्य साक्षात्परमार्थप्रापकत्वमिति साम्प्रदायिकाः। अस्यां वैचारिकपृष्ठभूम्यां गीतायां सम्पूर्णधर्मरूपेण योगस्य प्रस्तुतिः 'जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्' इति उद्घोषो भजते महत्त्वमतितरम्। अयं हि केन्द्रीयविचारबिन्दुः प्रकृतैककस्य, अन्यत्त्वनुवादो विवरणं वा पूर्वोक्तस्य।**

त्रिश्लोकात्मकस्य प्रकृतैककस्य द्वौ भागौ। फलश्रुतिपर्यन्तं कर्मयोगस्य साधनायाः संग्रहं कुर्वन् प्रथमश्लोको हि संग्रह उपसंहारश्च कर्मयोगप्रकरणस्य । किन्तूपसंहारो नास्त्यवसानं चर्चायाः । श्लोकद्वयं प्रवर्तते बुद्धियुक्ते'ति पदार्थविवरणाय, तन्मुखेन वैभवनिदर्शनाय च समधिष्ठितायाः शुद्धबुद्धेः। व्याख्यानं वितन्यतेऽत्र यथाभागम्।

२. '*कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः*' इत्ययं हि संग्रहः कर्मयोगस्य सोपानद्वयोः समत्वबुद्धि-बुद्धियोगयोः क्रमशः 'कर्मजं हि फलं त्यक्त्वे' ति 'बुद्धियुक्ता मनीषिण' इति वाक्यांशाभ्याम्।

२.१ '*कर्मजं हि फलं त्यक्त्वा*' इत्यत्र त्यागविषयो हि कर्मजन्यफलं न तु कर्मपरिणामः। कर्तुरासक्तिर्हि कारणं परिणामस्य फलरूपविनिश्चये। अनन्यगत्या फलत्यागोपचारेण आसक्तिरेव भवति त्याज्या, बंधनं तन्मुखेन, आसक्तेर्बन्धनरूपत्वात्। अतो '*जन्मबन्धविनिर्मुक्ते*' ति।

फलरूपे मुखरासक्तिः गृह्णाति मूल्यद्वन्द्वरूपाणि प्रियाप्रिय-शुभाशुभ-पुण्यपापा-भीष्टानभीष्टादीनि। द्वन्द्वबुद्धेः त्यागात्समत्वसिद्धित्वात् 'कर्मजं हि फलं त्यक्त्वे'ति सूत्रयति समत्वोपलक्षितचरणं कर्मयोगस्य साधनायाः।

२.२. साधनया मूल्यद्वन्द्वानां निराकरणात् समत्वसिद्धिः, अतिक्रमणाच्च योगः शुद्धबुद्धेः। शुद्धबुद्धिर्हि परिनिष्ठितोपलब्धिः योगस्य समत्वात् परम् । श्लोके 'बुद्धियुक्ते'ति पदेन संग्रहीतेयम्।

३. 'जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयमित्यत्र संग्रहीते द्वे फलोक्ती, मुक्तिः जन्मबन्धनात्प्राप्तिश्चानामयपदस्य। व्यापकार्थसहभागेऽपि न समानार्थकौ बन्धनमुक्ति- स्वातन्त्र्यशब्दौ, अभावाभावरूपत्वात् पौर्वापर्यकल्पभेदत्वाच्च तयोः। समत्वोपलक्षित-साधनाविषया बन्धनमुक्तिः, अनामयपदस्त्वधिकारः शुद्धबुद्धेः।

३.१ बन्धनं तु निरपेक्षकर्मपरिणामस्य फलरूपविनिश्चयः। मदीयं फलमिदं मत्कर्मजन्यत्वात्, इति कर्तृभोक्तृविमर्शः कर्मपरिणामं फले रूपान्तरितं कृत्वा निश्चाययति कर्तरि तस्य प्रत्यागमनम्. अप्रत्यावर्त्यः कर्मपरिणामः। किन्तु फलरूपविनिश्चयानन्तरं जन्मजन्मान्तरेष्वनुगच्छत्ययमात्मनः कर्तारं, न विरमत्यनुपभुक्तः। फलागमः, तस्य भोगः, भोगात्पुनः कर्मप्रवृत्तिः, अभुक्तभोगाय पुनर्जन्मेति प्राप्यते परम्परा जन्मजन्मान्तरव्यापिनी. आत्मनीयमनात्मपरम्परा हि जन्मबन्धपदस्यार्थः।

३.२ कर्तुः कर्मपर्यन्तं भावसेतुर्हि बन्धमूलं यः निरपेक्षे कर्मपरिणामे करोति मूल्याधानं, हेयोपादेयरूपद्वन्द्वात्मकफलाकारम्। यदि केनाप्युपायेन नष्टो भवेदयं भावसेतुः तर्हि कर्मपरिणतेः फलविनिश्चयः कर्त्राभिमुखपरावर्तः चोभौ बाधितौ अभविष्यताम्. सम्पद्यते इदं द्वन्द्वनिराकरणोपलक्षितसमत्वयोगेन।

३.३. समत्वयोगो हि जन्मबन्धनिराकरणस्य, बुद्धियोगस्त्वस्यातिक्रमणस्य साधना। बन्धनं नातिक्रमते समत्वसाधना, तन्निष्ठमूल्यसाकांक्षत्वात् समत्वविमर्शस्य। शुद्धबुद्धेः प्रतिष्ठामात्रेण सम्भवति तत्। बुद्ध्यैव भवति मोहकलिलस्य व्यतितरणम् : *'यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यती'*ति। व्यतितरणान्तरं बुद्धिरेव पर्यवसति शुद्धबुद्ध्याम्।

३.४. परं प्राप्तव्यत्वेन प्रस्तुतोऽत्रानामयपदम्। अर्थो हि निर्दोषः निर्विकारः। विचारणीयं यन्नात्र प्राप्तव्यत्वेन प्रस्तुतमीश्वरसान्निध्यं, वैकुण्ठं, स्वर्गं, ब्रह्मपदं निर्वाणं वा। परिवर्जयन् साम्प्रदायिकप्राप्तव्यविधानान्, गीता वृणोति रंगहीनमप्रतिबद्धमनामयपदं यद् साम्प्रदायिक-विनिश्चयाननस्वीकुर्वन्नपि नानुविशति कमपि। ध्वनितमनेन गीताया अननुमोदनं साम्प्रदायिकभाष्यपरम्पराया निदर्शनमपीदं कथं गीतार्थ उपपादनीयः।

३.५ बुद्धियोगो हि पूर्वपदमनामयपदस्य। यथा बुद्धियोगो हि पूर्वकल्पः अनामयपदस्य, तथैव समत्वयोगो बुद्धियोगस्य। फलत्यागादभीष्टानभीष्टमूल्यद्वन्द्वानां त्यागः, मूल्यद्वन्द्वत्यागा-त्समत्वसिद्धिः। समत्वयोगेन भवति निराकरणं जन्मबंधस्य, अवाप्तिश्च बुद्धियोगस्य अतिक्रमणरूपस्य जन्मबंधस्य। जन्मबंधमुक्तिः अनामयपदस्य प्राप्तिश्च क्रमिकोपलब्धी, समत्वयोग-बुद्धियोगयोः। इदं हि विवरणं *कर्मजं बुद्धियुक्ताही*'त्यस्य कर्मयोग-विचारस्योपसंहारसूत्रस्य।

४. उपसंहारोऽयं नानुपसंहरति बुद्धियुक्ते'ति पदस्य व्याख्यासाकांक्षत्वात्। व्याख्यायायनुप्रवर्तेते द्वौ श्लोकौ। यथा पूर्वमुक्तमतिक्रमणाद्विशिष्यते बुद्धियोगः निराकरणोपलक्षितसमत्वयोगात्।

५. किं रूपमस्यातिक्रमणस्येति व्याक्रियते –

यदा ते मोह कलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च॥

५.१. मोहकलिलेति मोहस्य पङ्कः। मोहस्तु बुद्धिविपर्ययः अविवेकलक्षणः। विवेकहानेः प्रमुखं कारणन्तु अनात्मन्यात्मभावः। यन्नास्त्यस्माकं तस्मिन् भावाभिनिवेशः। मूल्यानुबन्धास्तु

भावाभिनिवेशहेतु:। माध्यमवैचित्र्ये इमे आलेखा अनादिवासनाकोषस्य। आत्मसिद्ध्यर्थं परिकल्पयन्तीमेऽनेकोपास्योपासनाप्रपञ्चं सुविस्तीर्णं, सम्मोहनाय च लोकमानसस्य । अयं हि मोहकलिल: आधेयास्तित्वनि:श्शेषकर: सहस्रमुखै:। विवेच्यश्लोक: कलिलव्यतितरणरूपकेन साकारमवतारयति बन्धनमुद्धारप्रक्रियासहितम्।

५.२. बहुविधा अपि मूल्यानुबंधा: सामान्यरूपेण द्विधा, अनुभवशास्त्रप्रभवभेदात्। तदेवात्रोक्तं श्रुतश्रोतव्यपदाभ्याम्। श्रुतिकोटिं भजते सर्वाणि अनुभवाश्रितानि मूल्यानि लोकव्यवहारनिमित्तानि। श्रोतव्यं तु शब्दप्रमाणविषयम्। भोगनिमित्तमूल्यानुबंधबंधनरूपोभौ सम्मिल्य निर्मायत: दुरन्तमोहकलिलमेकं साधनया व्यतितरणाय। एवं मोहकलिलविवरणपरे श्रुतश्रोतव्यपदे ।

५.३ समभावो हि समत्वयोगस्य भावगर्भ:, निर्वेदस्तु बुद्धियोगस्य। सापेक्षो हि समत्वभाव: द्वन्द्वात्मकवैषम्यमध्य एव समत्वविमर्शस्य सम्भावितत्वात्। निर्वेदस्तु आत्यन्तिकनिरपेक्षत्वं संदर्भचेतनातिक्रमरूपत्वात्।

६-७. धर्मदर्शनसन्दर्भे अस्ति किमपि विशेषवक्तव्यम् । तथा हि -

श्रुति विप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचलाबुद्धि: तदा योगमवाप्स्यसि।।

७.१ श्रुतिविप्रतिपन्नेति पदं शास्त्रजन्यविभ्रमबोधकम्। विभ्रम: प्राप्यते शास्त्राणां बहुत्वात्, परस्परविरोधित्वात्, अन्तर्विरोधग्रस्तत्वात् परोक्षोपलब्धिरूपत्वाच्च। शास्त्रजन्यविप्रतिपत्तीनां निराकरणं भवति योगेन न तु शास्त्रार्थेन, संदेहास्थैर्यादीनाञ्चापि शास्त्रार्थप्रभवत्वात् ।

७.२ बुद्धे: स्थिरता हि अस्थैर्यमूलश्रुतिविप्रतिपत्तिनिवृत्ते: सहजोपलब्धि:। तन्निरूपणाय प्रयुक्त-निश्चलाचलशब्दयो: प्रथमोऽभिदधति श्रुतिविप्रतिपत्तिनिराकरणस्य फलं, अपरस्तु निराकरणा-नन्तरं शुद्धबुद्धे: प्रतिष्ठाम् । सर्वविचलनोपादाननिराकृताया: शुद्धबुद्धेस्तदुपलक्षितयोगस्य समाधिर्हि सहजा परिणति: - *समाधावचला बुद्धिस्तदायोगमवाप्स्यसी*ति।

७.३. बुद्धियोगो हि मानवाय अनन्योपहार: परमात्मन:। मानवस्य सर्वा: प्रार्थना सर्वाणि उपासना-साधनोपक्रमाणि अधिकाधिकं यद्दातुं समर्था: शुद्धबुद्धेर्नातिरिच्यते तत्। स्वयं परमात्माऽपि इतोऽधिकं दातुं न शक्नोति, यत: शुद्धान्त:करणं हि स्वयमेवाश्वासनं पूर्णतायां सहभागस्य,

ईश्वरीयमार्गदर्शनस्य साक्षात्कारस्यापि च। बुद्धियोगो हि समर्पितभक्तेभ्योऽनन्यकृपाप्रसादः परमात्मनः। तथाहि –

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।।

गीताद्दृष्ट्या योगस्त्वेकः सम्पूर्णधर्मः। नायं साधनमात्रं ज्ञानभक्त्योः यथा प्रतिपादयन्ति साम्प्रदायिकाः। योगस्य सम्पूर्णधर्मत्वे विनिगमको हि अस्य निरपेक्षसाधनता परमप्राप्तव्ये : 'जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्' इत्यलमतिविस्तरेण।

एकक विमर्श :

तीन श्लोकों का यह एकक गीता में कर्मयोग के प्रसंग का उपसंहार है. इसके दो भाग हैं : पहला श्लोक, सारसंग्रह करते हुए, प्रसंग का एक सुतर्कित उपसंहार है. लेकिन यहां उपसंहार होता नहीं है. शायद कुछ कहने को छूट गया है, कुछ है जिसे पूरी तरह से कहा नहीं गया है.

अनुवादयोग्य सूत्रों का संग्रह करते हुए, बुद्धियोग की प्रतिष्ठा को समर्पित हैं, आगे के दो श्लोक. उपदेश के इन निर्णयक क्षणों में उभर कर सामने आता है, बुद्धियोग का अप्रतिहत अनुशासन, उसकी असीम आध्यात्मिक सम्पदा. धनंजय अर्जुन का इसकी ओर आकर्षित होना स्वाभाविक है. वह बरबस एक साथ ढेरों सवाल पूछ बैठते हैं. स्थितप्रज्ञ का लक्षण क्या है, वह कैसे बोलता है, कैसे बैठता है, कैसे चलता है. ऐसा अद्भुद् है साम्राज्ञी रूप में प्रतिष्ठित शुद्धबुद्धि का वैभव. उपसंहार के बाद भी जिसकी चर्चा बनी रहे वही सचमुच चर्चा के काबिल है.

१. *'कर्मजं बुद्धियुक्ता हि...'*

सम्पूर्ण कर्मयोग चिन्तन का संग्रह एक श्लोक में :

यह एक सामान्य धारणा है कि योग कोई धर्म नहीं है, यह तो शरीर और मन को स्वस्थ्य रखने का साधन भर है. इस धारणा का समर्थन करती प्रतीत होती है स्वयं गीता की साम्प्रदायिक-भाष्य परम्परा जिसका एक बड़ा वर्ग यह मानता है कि योग अन्तःकरण की शुद्धि

के द्वारा ज्ञान और भक्ति का उपकारक होता है, किन्तु उसे स्वतंत्र रूप से परमार्थ का प्रापक नहीं कहा जा सकता. इन मान्यताओं की पृष्ठभूमि में, एक सम्पूर्ण धर्म के रूप में योग की प्रस्तुति, यह उद्घोष कि बुद्धियोग से सम्पन्न व्यक्ति जन्ममरण के बंधन से मुक्त हो कर परम पद को प्राप्त कर लेता है (*जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्*) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो जाता है. विचार के लिए प्रस्तुत है पूरा श्लोक, जो कर्मयोग की साधना का संग्रह भी है और उसका परिनिष्ठित उपसंहार भी :

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥५१॥

बुद्धियोग से सम्पन्न मनीषी कर्म से उत्पन्न फल को त्याग कर, जन्मरूपी बंधन से छूटे हुए, निर्दोष परमपद को प्राप्त होते हैं.

२. पहले कहे गए साधना-सूत्रों का संग्रह :

श्लोक का पूर्वार्ध *'कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः'*, योग की साधना का संक्षेप में पुनराख्यान है. इसके दो भाग हैं, *'कर्मजं हि फलं त्यक्त्वा'* तथा *'बुद्धियुक्ता मनीषिणः'*, जिनमें कर्मयोग की साधना के क्रम में प्राप्त समत्वबुद्धि और बुद्धियोग के सोपानों का सूत्ररूप में संग्रह हुआ हैं. इनकी पहले ही विस्तार से चर्चा हो चुकी है. लेकिन श्लोक की व्याख्या के क्रम में ये सूत्रावतरण विचार के योग्य हैं.

२.१. *'कर्मजं हि फलं त्यक्त्वा'*:

साधना के प्रथम चरण का संग्रह : यह वाक्यांश समत्वबुद्धिपर्यन्त साधना के प्रथम चरण का संग्रह करता है. यहां कर्मजन्य फल के त्याग की बात कही गई है, परिणाम के त्याग की नहीं. **कर्म के 'परिणाम' और 'फल' में सूक्ष्म अन्तर है. परिणाम कर्म की अन्तरंग सत्ता से सम्बन्ध रखता है, वह कर्म के सिवा किसी और का हो ही नहीं सकता, इसलिए उसका त्याग भी सम्भव नहीं त्याग उसका भी सम्भव नहीं जो हमारा है ही नहीं त्याग उसी का सम्भव है जो हमारा न होते हुए भी, जिस पर हम अपना अधिकार मान बैठते हैं.**

कर्म का त्याग सम्भव नहीं, वह कर्ता के स्वभाव से प्राप्त है. कर्म के परिणाम का त्याग सम्भव नहीं, क्योंकि परिणति कर्म का स्वभाव है. लेकिन परिणाम का जो फलरूप विनिश्चय है,

अभीष्ट और अनभीष्ट रूप में, वही बहिरंग है, एक आगन्तुक धर्म है, जिसे कर्ता अपना मान बैठता है. अतः उसी का त्याग सम्भव है. परिणाम के इस फलरूप विनिश्चय का कारण है कर्ता की आसक्ति. यह आसक्ति ही कर्मपरिणाम को फल का आकार दे कर, कर्ता के लिए उसे अभीष्ट बना कर, कर्ता, कर्म और कर्मपरिणति के बीच एक बंधनसूत्र का काम करती है. जब फल के त्याग की बात की जाती है, तो अनन्यगत्या फलाकार-समर्पक आसक्ति ही त्याज्य बनती है.

फलरूप में मुखर हुई आसक्ति मूल्यद्वन्द्वों का रूप लेती है, प्रिय-अप्रिय, शुभाशुभ, पुण्यपाप, अभीष्ट-अनभीष्ट सिद्धि-असिद्धि आदि. फल के त्याग का अर्थ है, द्वन्द्वबुद्धि का त्याग. द्वन्द्वबुद्धि के निराकरण का फलितार्थ है समत्वबुद्धि. स्पष्ट है ***'कर्मजं हि फलं त्यक्त्वा'***, यह सूत्र कर्मयोग की साधना के उस चरण का संग्रह करता है, समत्व जिसकी पर्यवसित उपलब्धि है. इसी को लक्ष करनके कहा गया है : ***'समत्वं योग उच्यते'.***

२.२. *'बुद्धियुक्ता मनीषिणः'* :

साधना के द्वितीय चरण का संग्रह : समत्व की सिद्धि के साथ योग की साधना का एक चरण पूरा होता है. जैसा कि कहा जा चुका है, इससे आगे की उपलब्धि है बुद्धियोग.

जैसा कि बताया जा चुका है, मूल्यद्वन्द्व, फल में आसक्ति का ही साकार रूप हैं. इनके निराकरण की साधना अहंस्फीतियों के रूप में आसक्ति के भावविस्तारों से ले कर उपादानभूत सूक्ष्मपर्यायों तक का क्षरण करती जाती है. यत मन(अन्तःकरण) समस्त वासनाओं का अधिष्ठान है, फलासक्ति के त्याग से प्रारम्भ हुई वासना-पर्यायों के अपलाप की प्रक्रिया, अन्ततः अन्तःकरण की शुद्धि में ही पर्यवसित होती है. **शुद्ध हो कर अन्तःकरण का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होना हीबुद्धियुक्तहोना है.**

३. *'जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्'* :

फलश्रुति की व्याख्या : यह फलश्रुति दो आश्वासन देती है : जन्मकर्म के बंधन से मुक्ति और अनामयपद की प्राप्ति, जिसका अर्थ है अविकल स्वतंत्रभाव में प्रवेश. बन्धनमुक्ति और स्वतंत्रता, एक ही तत्त्व के ये दो पक्ष हैं, अभाव और भाव रूप. किन्तु ये समानार्थक नहीं हैं. बंधन से मुक्ति समत्वोपलक्षित साधना का विषय है जब कि अनामयपद की प्राप्ति, शुद्धबुद्धि का अधिकार है, या यों कहें कि शुद्धबुद्धि का उत्तरकल्प है.

३.१. 'जन्मबन्ध' पद का अर्थ :

पीछे की ओर देखता कर्मफल : कर्म की गति बहिर्मुखी होती है. कार्य-कारण श्रृंखला उलटती नहीं है. दूध से दही बनता है, लेकिन दही से छाछ और मक्खन तो बन सकता है, दूध नहीं. मक्खन से घी बन सकता है लेकिन घी को दही या दूध में वापस नहीं लाया जा सकता. परिणाम की वापसी नहीं होती. किन्तु इससे सर्वथा भिन्न, मूल्य-व्यवस्था में 'फल' कर्ता के पास वापस आता है. कारण कि इसमें कर्म और परिणाम केवल कारण-कार्य नहीं होते, बल्कि अहं-प्रत्यय के भाव विस्तार से जुड़ कर क्रमशः कर्तृभोक्तृसापेक्ष अर्थ ग्रहण कर लेते हैं. ये सापेक्ष अर्थ ही मूल्य हैं. *"कर्म मैंने किया है, अतः इसका फल मेरा है"*, यह कर्तृ-भोक्तृविमर्श परिणाम को फल (मूल्य) में रूपान्तरित करके, कर्ता में उसकी वापसी को सुनिश्चित करता है. कारण-कार्य की बहिर्मुखी श्रृंखला मूल्यरूप में परिवर्तित होकर पीछे की ओर देखती, अपने प्रवर्तक अधिष्ठान में वापस लौटने वाली बन जाती है.

कर्म का परिणाम कर्म में वापस नहीं लौटता, किन्तु फलरूप में उसका विनिश्चय सदा पीछे की ओर देखता रहता है, जन्म जन्मान्तरों तक अपने उद्भवमूल (कर्ता) का पीछा करता रहता है, और उसे पाकर ही छोड़ता है. इसका कारण यह है कि 'फल' उद्भवमूल के (अहंकार) के भावरूप का ही विस्तार है. यह भावविस्तारतंतु अगर टूट जाता है तो फल की कर्ता तक वापसी नहीं हो सकती.

कर्म-परिणाम तो अपरावर्तनीय है. परिणाम का फलरूप में विनिश्चय अर्थात् उसमें मूल्याधान ही तो वह पता है जिससे कर्मफल कर्ता तक पहुंचता है. कर्म और उसकी परिणति तो कार्यकारण की सहज भौतिक प्रक्रिया है जिसमें कर्ता की न कोई पहचान होती है, न उसके लिए कोई आकांक्षा. वापसी का मार्ग तो वह भावसेतु है जो कर्ता से कर्मपरिणति पर्यन्त जाता है; परिणति को मूल्य में बदलता है, उस पर कर्ता का पता लिखता है, और कर्ता तक उसकी वापसी को सुरक्षित करता है. कर्ता में फल की वापसी भोग को, भोग पुनः अभीष्ट कर्म-प्रवृत्ति को और, अभुक्त-भोग अभिनव-भोगभूमि (पुनर्जन्म) को अपरिहार्य बनाते हुए, जन्मजन्मान्तरों तक चलते एक अटूटबंधन का निर्माण करते हैं. यह अटूटसवासनाबंध ही यहां ***'जन्मबन्ध'*** शब्द का फलितार्थ है.

३.२. समत्वयोग :

कर्मयोग की साधना की अभावरूपा उपलब्धि : *'जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः'* यह पद समत्वयोग की साधना का संग्रह करता है. *'जन्मबन्ध'* का मूल है, कर्ता से कर्म की परिणतिपर्यन्त फैला भावसेतु, जो परिणाम को फल की पहचान देता है, उसे मूल्यद्वन्द्वों में ढालता और कर्ता की आकांक्षा से जोड़ता है. यह भावसेतु यदि नष्ट हो जाता है, तो न तो कर्मपरिणति को फल की पहचान मिल सकेगी और न ही वह कर्ता तक वापस लौट सकेगा. समत्वपर्यन्त योग की साधना इस भावसेतु को नष्ट करने का साधना है, जन्मबंध के नष्ट करने की साधना है. समभाव मूलतः मूल्यद्वन्द्वों के निराकरण की साधना है. ये मूल्यद्वन्द्व, अमूर्तवासना का सर्वाधिक विकसित, सर्वाधिमुखर रूप हैं. इनका निराकरण वासनोपादान के निराकरण के बिना सम्भव नहीं होता. अतः मूल्यद्वन्द्वनिराकरणोपलक्षित समत्वयोग बंधननिराकरण की साधना में ही पर्यवसित होता है. यह एक अभावरूपा उपलब्धि है, और महत्त्वपूर्ण होते हुए भी योग की चूडान्तोपलब्धि न हो कर, उसके पूर्व की निवर्तक शर्त को सुनिश्चित करने के बाद उपरत हो जाती है. आगे का कार्य बुद्धियोग का है.

३.३. बुद्धियोग : कर्मयोग की भावरूपा उपलब्धि :

समत्वबुद्धि जन्मबंध के निराकरण की साधना है, तो बुद्धियोग उसके अतिक्रमण की. कर्मयोग का अभाव-पर्याय है समत्वबुद्धि, भावरूपा उपलब्धि है बुद्धियोग. प्रकृत श्लोक में इसका संग्रह ***'बुद्धियुक्ताः'*** पद से हुआ है.

जहां तक लोक में प्रचलित धर्मों की बात है, वे तो दुनियांदारी का ही एक हिस्सा हैं. वे जैविक मूल्यानुबंधों को लोकोत्तर अर्थ देते हुए, बंधन का अनुवाद और नियोजन करते हैं. बंधन के निराकरण का उपाय है समत्वयोग. किन्तु बंधन का निराकरण करते हुए भी समत्व की साधना बंधन का अतिक्रमण नहीं करती, कारण कि तत्साकांक्ष होने से साधना स्वयं एक बंधन है. यह अतिक्रमण सम्भव होता है शुद्धबुद्धि की प्रतिष्ठा से.

शुद्धबुद्धि किसी साधना या उपक्रम का विषय नहीं होती. लेकिन इसका अवतरण (प्रकाशन) समत्व की साधना सहित पूर्व की सम्पूर्ण साधना को परिकल्पित करता है. साधना से उन कषायों का निराकरण होता है, जो शुद्धबुद्धि को आवृत किए रहते हैं और उसके प्रकाशन में बाधक हैं.

शुद्धबुद्धि से युक्त होना या उसे प्राप्त करना तो उपचारमात्र है. शुद्धबुद्धि का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होना, प्रकाशित होना ही उसको पाना है. स्व-भाव में प्रतिष्ठा मात्र से उसमें परमार्थ का प्रकाशन होता है.

३.४ *'पदं गच्छन्त्यनामयम्'* :

वाक्य में *'अनामयपद'* का अर्थपूर्ण प्रयोग : *'अनामयपद'* को प्राप्त करता है', इस वाक्य में परमार्थ के लिए *अनामयपद* शब्द का प्रयोग ध्यान देने योग्य है. इसका अर्थ है, निर्दोष या नीरोग. यहां ईश्वर को पाने की बात नहीं की गई है. स्वर्ग, ब्रह्मावगति या निर्वाण की बात भी नहीं. अपनी बात को कहने के लिए, समस्त साम्प्रदायिक प्राप्तव्यविनिश्चयों से बच कर चलते हुए **'अनामयपद'** जैसे रंगहीन, अप्रतिबद्ध शब्द का चुनाव किया गया है. इस शब्द को साम्प्रदायिक विचारक अपने अपने अर्थ दे सकते हैं, लेकिन इसका अर्थ उनमें से किसी में रीता नहीं होता. गीता की शैली और शब्दावली स्वयं में न केवल साम्प्रदायिक भाष्यों के बारे में सावधान रहने की चेतावनी है, अपितु इस बात का मूर्तिमान उपदेश भी कि गीता को किस तरह समझना चाहिए.

३.५ बुद्धियोग : *'अनामयपद'* का पूर्वकल्प :

अनामयपद की भूमिका है बुद्धियोग. ***'बुद्धियुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्'*** का अर्थ हुआ, ***'शुद्धबुद्धि से युक्त लोग अनामयपद को प्राप्त करते हैं'***. जिस प्रकार 'शुद्धबुद्धि' अनामयपद का पूर्वकल्प है, उसी प्रकार 'शुद्धिबुद्धि' का पूर्वकल्प है 'समत्वयोग' या 'समत्वबुद्धि', जो स्वयं कर्मबंधन से मुक्ति की साधना का परिणत रूप है. **इस प्रकार संकल्पितकर्म से अनामयपद की अवगति पर्यन्त, कर्मयोग की साधना का जो क्रम बनता है वह इस प्रकार है :**

'यह कर्म मैंने किया है, अतः इससे उत्पन्न फल पर मेरा अधिकार है', ऐसा जो कर्मजन्य फलाधिकार, उसका त्याग (कर्मजं फलं त्यक्त्वा); उस त्याग में अन्तर्निहित अभीष्ट-अनभीष्ट, शुभाशुभादि मूल्यद्वन्द्वों का त्याग, और मूल्यद्वन्द्वों के त्याग के द्वारा समत्व की सिद्धि, जो अन्ततः बुद्धियोग में पर्यवसित होती है. जन्मबंध से मुक्ति तथा अनामयपद की प्राप्ति ये क्रमिक उपलब्धियां है समत्वयोग और बुद्धियोग की.

वस्तुतः यहां लम्बी कर्मयोग की साधना की कल्पना की गई है, जो क्रमशः समत्वयोग और बुद्धियोग के दो चरणों में सम्पन्न होती है. अनादि वासनोपादाननिमित्तमूल्यानुबंधों का निराकरण

परमार्थ में प्रवेश की पहली शर्त है, जो समत्व की साधना के द्वारा पूरी होती है. इनका अतिक्रमण दूसरी शर्त है जो बुद्धियोग के द्वारा पूरी होती है.

४. श्लोक *'यदा ते मोहकलिलं ...'* :

बुद्धियोग के बारे में विशेष विचार : हमने समत्वयोग और बुद्धियोग में अन्तर करते हुए समत्वयोग को 'जन्मबंध' के निराकरण तथा बुद्धियोग को उसके अतिक्रमण की साधना के रूप में निरूपित किया है. *बुद्धि के द्वारा अतिक्रमण को शब्दशः प्रस्तुत करते हुए,* गीता उसके अर्थ को एक पैने बिम्ब के द्वारा उभारती है, इस प्रकार कि बुद्धियोग की विशिष्ट भूमिका के बारे में कोई संदेह नहीं रह जाता :

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।।५२।।

जब तेरी बुद्धि मोह के दलदल को पार कर जाएगी, तब तू सुनने योग्य और सुने हुए के प्रति वैराग्य को प्राप्त होगा.

श्लोक की व्याख्या :

४.१. *मोहकलिल* का अर्थ : *'कलिल'* शब्द का अर्थ है कीचड़ या दलदल. मोहकलिल का अर्थ हुआ मोह का दलदल. मोह कहते हैं विभ्रम को, जो चेतना के अदर्शन और विवेक की हानि में परिलक्षित होता है. इस विवेकहानि का प्रमुख कारण है, अनात्म में आत्मभाव, जो वस्तु हमारी नहीं है, उसमें अपनत्व का भावाभिनिवेश. यह भावाभिनिवेश तब होता है जब हम किसी वस्तु या व्यक्ति को अपने लिए मूल्यवान् समझ बैठते हैं. हमारे लिए कौन सी वस्तु मूल्यवान् है, यह बोध हमें स्वभाव से, जैविक संरचना से, संस्कारों में संग्रहीत अनुभवों और धर्मशास्त्रों से प्राप्त होता है.

अलग दिखते हुए भी ये सभी मूल्यानुबंध एक ही अन्तर्निहित उपादान के कार्य है, माध्यमवैचित्र्य में अनादि वासनाकोष के आलेख, जो इकट्ठे हो कर सांसारिक प्रवृत्तियों के एक दुरन्त दलदल का निर्माण करते हैं. इसी को मोह कलिल, मोह का दलदल कहा है. दलदल गति को कुण्ठित और दिग्भ्रान्त करता है. इससे बाहर आने का ही नाम है उद्धार. विवेचनाधीन श्लोक एकसुविचारित रूपक के द्वारा बंधन और उद्धार की प्रक्रिया की निपुण प्रस्तुति है.

४.२. मोहकलिल का व्यतितरण :

यह एक लम्बी मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है, जो कर्मयोग की द्वितलीय साधना को परिकल्पित करती है. यह साधना काम्य कर्म में फलत्याग के साथ प्रारम्भ होती है. फल में साकार होते, शुभाशुभादि मूल्यद्वन्द्व आसक्ति का कार्य हैं, जब कि आसक्ति स्वयं मूलवासना का कार्य है. इस विवेक से साधना के दो क्रम प्राप्त होते हैं, आसक्ति के निराकरण की साधना तथा उपादानभूत वासना के निराकरण की साधना. प्रपंच सहित आसक्ति का निराकरण होता है समत्वयोग से.

इससे जो बच रहता है वह है, सम्पूर्ण प्रपंच में कारणभूत मूलवासना के व्यक्ताव्यक्त धरातल. वासनाप्रपंच के इस विस्तार को गीता में ***मोहकलिल*** नाम दिया गया है. इसका निराकरण नहीं, अतिक्रमण होता है. निराकरण इसकी तुलना में एक स्थानीय समाधान है जो कार्यभूत द्वन्द्वग्रन्थियों को खोलने में ही उपक्षीण हो जाता है. कारण तो बंधन की भूमि है और भूमि का अतिक्रमण ही होता है. अतिक्रमण का अर्थ है, कलिल-आभोग से अपने को मुक्त करके, उद्धारक भूमि में प्रवेश. मोह के दलदल का अतिक्रमण शुद्धबुद्धि की प्रतिष्ठा में पर्यवसित होता है.

४.३. *'श्रुत* 'और *'श्रोतव्य* ' पदों के अर्थ :

ये दो शब्द 'मोहकलिल' के ही अर्थ को स्पष्ट करते हैं. दलदल उलझाने के लिए होता है, मोहकलिल के लिए यह काम *श्रुत* और *श्रोतव्य* मूल्यानुबंधों के द्वारा होता है. मूल्यानुबंध अनेकविध होते हुए भी मोटे तौर पर दो प्रकार के होते है. अनुभवजन्य और शास्त्रजन्य. इन्हें विवेच्य श्लोक में *'श्रुत'* और *'श्रोतव्य'* शब्दों से कहा गया है.

'श्रुत' का अर्थ है सुना गया. उपलक्षणया यह लोकव्यवहार के उन मूल्यों को बताता है, जिनमें पहले के अर्जित अनुभव निमित्त होते हैं. राजपथ पर यातायात की सावधानियों से ले कर तत्तद् लौकिक प्रयोजनों की सिद्धि के विज्ञान, व्यवहार के जिन मूल्यों को जन्म देते हैं, वे 'श्रुत' कोटि में आते हैं. इससे भिन्न, श्रोतव्य कोटि में में वे मूल्य आते हैं, जिन्हें हम अनुभव से प्राप्त नहीं करते, किन्तु जिनमें अनुभव का विषय होने की योग्यता होती है. स्वर्ग के भोग और उनकी प्राप्ति के उपायों की जानकारी हमें अपने अनुभव से नहीं, शास्त्रों से होती है. वर्तमान में वे हमारे अनुभव का विषय भले ही न हों, लेकिन उनमें अनुभव का विषय होने की योग्यता है, वे कभी हमारे भावी अनुभव का विषय होंगे, इस बारे में शास्त्र हमें निरंतर आश्वस्त करते रहते हैं.

भोगमूलक होने से, दोनों ही मूल्य-कोटियां, श्रुत और श्रोतव्य, एक दुरंत मोहकलिल का निर्माण करती हैं. जितनी कामनाएं उतने ही उपाय, उतनी ही उपासनाएं, उतने ही उपास्य. यही मोह कलिल है. जिससे उद्धार का मार्ग दिखाता है योग.

४.४. व्यतितरण के निहितार्थ :

'यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति' इस वाक्य में क्रियारूप में प्राप्त *'व्यतितरण'* शब्द का अर्थ है, तैर कर पार जाना. इसशब्द के अर्थ में ही परिकल्पित हैं,उसका अवरोधक आधार (नदी दलदल आदि), और उसके तटरूप में प्रतीक्षा करती उद्धारभूमि. मोहकलिल का अतिक्रमण करके बुद्धि जहां पहुंचती है, वह है उसका अपना शुद्धरूप अर्थात् बुद्धियोग.

जहां समत्वयोग का भावगर्भ है *समभाव,* वहीं बुद्धियोग का भावगर्भ है **निर्वेद**.. समत्वयोग में मूल्यों की चेतना बनी रहती है. यदि ऐसा न हो तो समभाव की साधना बनेगी ही नहीं, क्योंकि मूल्यद्वन्द्वों की विषमताओं की चेतना के बीच ही समभाव की प्रतिपत्ति होती है. इससे सर्वथा भिन्न, बुद्धियोग में द्वन्द्व, विषमताएं और उनके बंधन अर्थ खो देते हैं, पूरी तरह अप्रासंगिक हो जाते हैं.

समत्वबुद्धि सापेक्ष होती है; उसमें प्राप्त **समभाव** प्रतियोगी फलक के विमर्श के द्वारा ही अस्तित्वलाभ करता है. समत्वबुद्धि निरपेक्ष नहीं हो सकती. इससे भिन्न **निर्वेद** आत्यन्तिक निरपेक्षता का नाम है. निर्वेद तटस्थता नहीं है. तटस्थता तो समत्व का पर्याय है. निर्वेद का शाब्दिक अर्थ है, वेदना से शून्य होना अर्थात् किसी वस्तु या मूल्य की चेतना से शून्य होना. यावन्मात्र मूल्य वासनापर्यय हैं; वे सापेक्षता के दलदल में व्यक्ति को उलझाए रहते हैं. मूल्यचेतना के पार जाना ही आत्यन्तिक निरपेक्षता है. यही निर्वेद की अवस्था है.

साधना के द्वारा जो इस मोहकलिल के पार जा चुके हैं, वे इसके उपादानभूत मूल्यानुबंधों के प्रति उसी तरह तटस्थ हो जाते हैं जैसे नदी के पार पहुंचा व्यक्ति यात्रा के खतरों के प्रति. नदी का आवेग, उसकी धमकाती, चुनौती भरी लहरें और डरावने आवर्त उसके लिए अर्थहीन हो जाते हैं — *तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च.*

५. श्लोक *'श्रुतिविप्रतिपन्ना ते ...'* :

धर्मदर्शन की दृष्टि से पूर्वोक्त का पुनराख्यान : ऊपर दिए श्लोक में *श्रुत* और *श्रोतव्य* दोनों प्रकार के मूल्यों के प्रति तटस्थता को योग की उपलब्धि के रूप में प्रस्तुत किया गया है. यह सामान्य निर्वचन है. उद्देश्य तो शास्त्रों में संहिताबद्ध, श्रोतव्य कोटि में आने वाले मूल्यों के प्रति तटस्थता की सिद्धि है. शास्त्रजनित विप्रतिपत्तियों से आस्था का उद्धार करते हुए, उसे साक्षात्कारात्मक अनुभव में प्रतिष्ठित करना ही योग का मुख्य प्रयोजन है. इस रूप में योग एक सम्पूर्ण धर्म है. इसे कहने के लिए अग्रिम श्लोक प्रवृत्त होता है :

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचलाबुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।।५३।।

शास्त्रों के कारण विभ्रमित तुम्हारी बुद्धि जब समाधि में अचल और स्थिर हो जाएगी, तब तू योग को प्राप्त होगा.

श्लोक की व्याख्या :

५.१. शास्त्रों के कारण बुद्धि की अस्थिरता : शास्त्रों के कारण अनिश्चय और अनास्था से संक्रमित बुद्धि का नाम है, *'श्रुतिविप्रतिपन्ना बुद्धि'.* शास्त्र बहुत से हैं. उनमें परस्पर विरोध हैं. इतना ही नहीं उनमें से प्रत्येक में अन्तर्विरोध भी देखे जा सकते हैं. परोक्ष तथा अन्तर्विरोधग्रस्त होने से, शास्त्रबुद्धि कभी भी पूरी तरह से संदेहों से मुक्त नहीं हो पाती. इन कारणों से, जिन्हें धर्म में परं प्रमाण माना जाता है, वे शास्त्र, अनेकविध वितर्कों को जन्म देते हुए, स्वयं अनास्था का हेतु बन जाते हैं. शास्त्रों से उत्पन्न अनिश्चय का निराकरण योग से होता है, शस्त्रार्थ से नहीं. साधना के द्वारा शास्त्रविहित-मूल्यों के प्रति समभाव और फिर निर्वेद की सिद्धि होने पर शास्त्रजनित विप्रतिपत्तियां स्वतः अर्थ खो बैठती हैं. इस बारे में पहले ही विस्तार से विचार हो चुका है.

५.२. आस्था के उद्धारक रूप में योग की भूमिका :

सभी मूल्य, लौकिक हों या धार्मिक, अनादि वासना संसृति का नियमन और उदात्तीकरण है. योग के निरवधिक चेतना-विस्तार में वे तुच्छ और अर्थहीन होते जाते हैं. इनकी पुस्तकपंथी,

परोक्ष एवं अनुपसंहारी व्यवस्था की अपर्याप्तता का निदर्शन कराते हुए, कषायमुक्त, शुद्धबुद्धि स्वयं धर्म के अनन्य प्रमाण का स्थान ले लेती है. शास्त्र आस्था के लिए महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शन देते हैं. उनकी उपयोगिता से इन्कार नहीं किया जा सकता. आस्था का निर्णायक प्रमाण शास्त्र नहीं बल्कि मानव का शुद्धान्तःकरण है, यह मान्यता हिन्दू आस्था का अप्रतिम आयाम है, जिससे मिलता जुलता अन्य धर्मों में कुछ भी नहीं है.

भगवान् मनु के अनुसार, वेद, स्मृति, सत्पुरुषों के आचरण और अन्तरात्मा, धर्म में ये चार प्रमाण हैं : **वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः। एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षण्॥** इनमें ***'स्वस्य च प्रियमात्मनः'*** यह वस्तुतः अन्तःकरणप्रामाण्य ही है, जिसे मनु महाराज ने चौथे स्थान पर रखा है. पूर्व परिगणित वेदादि प्रमाणों से इसकी अविरोधी प्रामाणिकता को ही स्वीकार किया गया है. गीता का बुद्धियोग चिन्तन न केवल इसे प्रथम स्थान देता है, अपितु इसकी अपेक्षा से शास्त्र, वर्तमान और भावी श्रुत और श्रोतव्य, सभी हल्के और तुच्छ हो जाते हैं (**दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय**). बुद्धियोग अर्थात् योगप्रमाण बुद्धि ही प्रत्यक्ष धर्म होने से आस्था में परम प्रमाण है.

वेदादि शास्त्रों की प्रामाणिकता, उनके मार्गदर्शन की प्रासंगिकता, तभी तक है, जब तक कि साधना के द्वारा मोहकलिल का व्यतितरण नहीं हो जाता. मोहमुक्त शुद्धबुद्धि, अन्तरंग होने से, शास्त्रों की अपेक्षा अधिक बलवान् है. शास्त्रों के मार्गदर्शन की स्वीकृति ही इस बात का प्रमाण है कि व्यक्ति योगबुद्धिलक्षण-आध्यात्मिक-परिपक्वता तक नहीं पहुंचा है, जहां पहुंच कर वासनोपादाननिमित्त मूल्य और उनके व्यवस्थापक शास्त्र अप्रासंगिक हो जाते हैं.

योग के द्वारा समत्वबुद्धि तदनन्तर निर्वेद भाव में प्रवेश होने पर शास्त्रों के अन्तर्विरोधग्रस्त मूल्यानुबंध अप्रासंगिक हो जाते हैं. उनके अप्रासंगिक होने से, उनके द्वारा उत्पन्न विप्रतिपत्ति-पटल का स्वतः निराकरण हो जाता है.

बुद्धि की स्थिरता विप्रतिपत्तिपटल के निराकरण की सहज परिणति है. यहां बुद्धि की स्थिरता को बताने के लिए ***निश्चला*** और ***अचला*** इन दो विशेषणों का प्रयोग हुआ है. *निश्चला* पद, बुद्धि में शास्त्रजनित विप्रतिपत्तियों के निराकरण को बताता है जब कि *अचला* पद इस निराकरण

के बाद शुद्धबुद्धि की प्रतिष्ठा को. यह प्रतिष्ठा समाधि में पर्यवसित होती है, जो कि योग की सिद्ध अवस्था है. — *समाधावचलाबुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि.*

५.३. योग : मानव के लिए परमात्मा का अनन्य उपहार :

समाधि अनुभव की शून्यता का नाम नहीं है. यह चेतना की निरवधिक अवस्था का नाम है. इसमें पहुंचा व्यक्ति अपनी आस्था के उस भाव का साक्षात्कार करता है, जिसकी वह सारी जिन्दगी तलाश करता आया है. व्यक्तित्व की सम्भावनाओं के अनुरूप यह भाव सगुण, निर्गुण, साकार निराकार या दोनों से भिन्न, तत्त्वानुभव का रूप ले सकता है. साक्षात्कारात्मक होने से, यह भाव आस्था का सर्वसंदेहसम्भावनानिराकृत अविचल आधार तो है ही, साधक के लिए जो दिव्य अनुग्रह और असंदिग्ध मार्गदर्शन इससे मिलता है, वह एक पुस्तकपंथ की संभावनाओं में दूर दूर तक नजर नहीं आता.

मानव की प्रार्थनाएं, उसकी इबादत और पूजा के उपक्रम, अधिक से अधिक जो उसे दे सकते हैं वह है शुद्धान्तःकरण की सिद्धि अर्थात् बुद्धियोग. कोई धार्मिक अनुष्ठान मनुष्य को इससे अधिक नहींदे सकता, स्वयं ईश्वर भी इंसान को इससे अधिक नहींदे सकता, क्योंकि शुद्धान्तःकरण स्वयं में पूर्णता का, ईश्वर के अव्यवहित मार्गदर्शन और साक्षात्कार का आश्वासन है. यह भक्तों के लिए ईश्वर का अनन्य कृपाप्रसाद है :

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं येन मामुपयान्ति ते।। (गीता.१०-१०)

(निरंतर एकाग्रचित्त होकर और प्रेमपूर्वक मेरे भजन में लगे उन भक्तों को मैं बुद्धियोग देता हूं, जिससे वे मेरे को ही पा लेते हैं.)

सम्पूर्ण धर्म के रूप में योग की प्रतिष्ठा :

सम्पूर्ण धर्म वह है जो यहीं, इसी दुनियां में परमार्थ का साक्षात्कार कराने का आश्वासन दे सके. इस दृष्टि से योग एक सम्पूर्ण धर्म है, ज्ञान या भक्ति का साधन मात्र नहीं जैसा कि अधिकांश साम्प्रदायिक व्याख्याकारों का मानना है. जहां तक गीता की बात है वह योग को एक निरपेक्ष, सम्पूर्ण धर्म के रूप में प्रस्तुत करती है, जिसकी सहायता से साधक जन्ममरण के बंधन से मुक्त हो कर परमपद को प्राप्त कर लेता है : *जन्मबन्धविनिर्मुक्ताःपदं गच्छन्त्यनामयम्.*

योग की विधाएं — ज्ञान, कर्म, ध्यान और भक्ति — ये साधन बन कर एक दूसरे के उपकारक हो सकते हैं. लेकिन इससे इन में से किसी की स्वतंत्र हैसियत व्याहत नहीं होती. कर्मयोग की सम्भावनाओं को साधन रूप में सीमित करके उसे ज्ञान या भक्ति के अंग रूप में नियमित करने के साम्प्रदायिक प्रयास अनुमोदन के योग्य नहीं हैं.

जिन्होंने अपने भीतर अपने उद्धारक को ढूंढ़ लिया है, जिनकी बुद्धि परमार्थ का साक्षात्कार करके उसमें प्रतिष्ठित हो चुकी है, क्योंकि शास्त्रों सहित संदेह और विचलन की हेतुभूत समस्त सामग्री के साक्षात्कारात्मक धर्म में निःशेष हो जाने के बाद जिनके भीतर बुद्धि को चलायमान करने के लिए कुछ बचा ही नहीं है, ऐसे प्रतिष्ठितप्रज्ञ जनों का व्यक्तित्व और व्यवहार कैसा होता है, उन्हें पहचाना कैसे जाय, यह अर्जुन की जिज्ञासा है. अर्जुन की यह जिज्ञासा ही आगामी प्रकरण का सूत्र है.

■ ■ ■

पंचम-परिच्छेदः

(स्थितप्रज्ञ-प्रकरणम्)

			पृ.सं.
परिच्छेद-समारम्भः		... ...	२११-२२०
प्रथम एककः	(श्लो.५४)	... ...	२२१-२२४
द्वितीय एककः	(श्लो.५५-५६)	... ...	२२५-२३४
तृतीय एककः	(श्लो.५७)	... ...	२३५-२४२
चतुर्थ एककः	(श्लो.५८-६१)	... ...	२४३-२६४
पंचम एककः	(श्लो.६२-६३)	... ...	२६५-२७६
षष्ठ एककः	(श्लो.६४-६८)	... ...	२७७-३०२
सप्तम एककः	(श्लो.६९-७२)	... ...	३०३-३२७

परिच्छेद-समारम्भः

(स्थितप्रज्ञ-प्रकरणम्)

१. अध्यायचूडान्तं हि स्थितप्रज्ञप्रकरणं एकोनविंशतिश्लोकात्मकम् (श्लो.५४-७२) विवेचित-सांख्ययोगपद्धत्योः सामान्यप्राप्तव्यस्यान्यतरसिद्धास्थापरमार्थस्य निदर्शनभूतत्वात्, स्थितप्रज्ञप्रकरणं हि तार्किकोपसंहारो गीताया द्वितीयाध्यायस्य ।

आस्था नाम एकीभावे प्रतिष्ठिता प्रज्ञा स्थितप्रज्ञपर्याया। अविचलैकीभावो हि धर्माणां धर्मः। कल्पतेऽयमस्यान्यतराणि त्रीण्यधिष्ठानानि तत्त्वज्ञानं शास्त्रं योगश्च ।

जातीयपुरागाथाप्तपुरुष-कर्मकाण्ड-विधिनिषेधेषु मूर्तिमती बहिरंगानुशासनरूपा शास्त्रनिष्ठा हि धर्मस्यैतिहासिकं स्वरूपं विश्वविश्रुतम्। किन्त्वपर्याप्त एकीभावस्यायं पुस्तकीयानुबन्धोऽस्य स्थानीयस्वरूपत्वादसार्वभौमिकत्वात्वैयक्तिकाध्यात्मिकाकांक्षानिरपेक्षत्वाद्बहिरंगत्वात्, आरोपितानुशासनस्यास्य सततसंदेहसम्भावनासंक्रमितत्वात्।

२. उच्चतरोऽपेक्षाकृतविरलो ह्यनुसंधानरूपधर्मः सांख्ययोगलक्षणः। आप्तप्रणीतविधानस्य स्थाने कल्पतेऽयं शुद्धान्तःकरणं परमप्रमाणत्वेन। अन्तःकरणशुद्धिः धर्मरूपेण कल्पते सांख्ययोगयोः अन्यतमस्य साधनापरिकल्पम्।

स्थितप्रज्ञो हि शुद्धान्तःकरणनिष्ठायाः फलितार्थस्य निदर्शनम्। निदर्शनं विना, सांख्ययोगयोः साधनापद्धत्योः चर्चा, तत्कल्पित-शुद्धान्तःकरणस्यावधारणा, तन्निष्ठास्थायाः परापुस्तकीया चावधारणा – सर्वमवशिष्यतेऽनुपसंहारि।

३. योगोपदेशस्य तारतम्यत्वात्, योगस्यैवोपसंहारः स्थितप्रज्ञप्रकरणमिति केचन। नेदं युक्तम्। अवसीयते योगचर्चा पञ्चत्रिंशत्तमेन श्लोकेन। अनन्तरमुपक्रमते स्थितप्रज्ञप्रकरणम्। सांख्ययोगयोरुभयोरेकस्मिन्नादर्शे संग्रहं कुर्वन्, तस्य निदर्शनं कारयन् स्थितप्रज्ञप्रकरणं विरचयत्युपसंहारं सम्पूर्णाध्यायस्य न तु योगस्यैव केवलम्।

४. द्विधा हि आस्थाया एकीभावनिष्ठा, बाह्याभ्यन्तरभेदेन। जातीयपुरागाथापूजिताप्तपुरुष-तत्प्रवर्तितधर्मविधान-कर्मकाण्ड-सामाजिकपरम्परा-राज्यानुशासनं– वस्तुतस्तु सम्पूर्णो लौकिका-लौकिकनैदेशिकप्रपंचो हि आस्थाया बाह्यालम्बनम्। दण्डपुरस्कारविधानस्यारोपितानुशासनेन निरोधयतीदं आस्थाया विघटनम्। आरोपितानुशासनरूपो निरोधार्थको हि आस्थाया शास्त्रनिष्ठैकीभावः।

५. अपर्याप्तो हि आस्थायाः शास्त्रनिष्ठैकीभावः। आचारविषयकाणि सर्वाणि विधानानि, न तु मनोविषयकाणि। राजाज्ञाः व्यवस्थाः वा शास्त्राणां न प्रभवन्ति मनोभावानां नियमने। संस्थागतस्य धर्मस्य दण्डव्यवस्था विद्रोहिविचारान् निरोद्धुं तदैव प्रवर्तते यदा ते वाण्याचरणयोः व्यक्ता भवन्ति। दण्डेन शक्यते अभिव्यक्तेः सम्भावितनियोगानां निरोधः, किन्तु दण्डिताभिव्यक्ते-र्विचारस्य धरातले यत्संक्रमणं प्रारभतेऽशक्यः तस्य निरोधो बाह्यानुशासनेन।

अनास्थायाः बलान्निरोधाज्जायते वैमत्यासहिष्णुधर्मव्यवस्थानां निष्करुण-गरिमहीनसंघर्षस्य विध्वंसकपरम्पराद्दृष्टान्ता। वैमत्यस्यानवरतदमनस्य व्यतीता अनेकशताब्द्यः, अद्यापि संस्थागत-धर्मा यद्यात्मानमसुरक्षितं मन्यन्ते, तर्हि अवश्यमेव दुर्बलस्तेषां आस्थाया आधार इति निष्कर्षो दुर्निवारः।

६. बाह्यानुशासनकल्पभिन्न आस्थाया आभ्यन्तराधारो हि व्यक्तेरन्तःकरणं मनोपर्यायम्। मन एव अधिष्ठानं आस्थानास्थयोः। कामनोपादाननिमित्तं हि मनसो विचलनमनास्थापर्यायम्।। अतो कामनादिकषायमुक्तमन्तःकरणं आस्थया एकीभावस्य सर्वाधिको विश्वसनीयाधारो भवितुमर्हति। किन्तु नेदं सहजम्। साधनत्वेन कल्पत इदं सांख्ययोगौ। उपायभूतत्वादुभौ योगस्यैव रूपौ उपादानभेदेन। एको ज्ञानयोगोऽपरस्तुकर्मयोगः। अन्यतरेण शुद्धान्तःकरणस्य सिद्धौ पूर्यते मनोवैज्ञानिकसमय आस्थाया आदर्शैकीभावस्य।

७. शुद्धान्तःकरणं हि न केवलं आदर्शालम्बनं एकीभावस्य अपितु सर्वश्रेष्ठो मार्गदर्शको धर्मपथस्य, उच्चतराध्यात्मिक सत्तया सह साक्षात्सम्बन्धयोग्यत्वात्।

साधनासाध्यं हि शुद्धान्तःकरणम्। भगवता तथागतेन तपःपूत-शुद्धान्तःकरणेन सत्यस्य साक्षात्कारः कृतः। केचिद् भगवत्कृपया, पूर्वजन्मार्जितेन तपसा वा, अनायासं लभन्त इदम्। सामीधर्मपरम्परायां नबी'त्याख्यैः भगवत्कृपापात्रैः तत्तज्जातीयमहाजनैः शुद्धान्तःकरणेन लब्धं ईश्वरीयमार्गदर्शनं वचनं च धर्मसाक्षात्काररूपम्। एतादृशो धर्मसाक्षात्कारो आसीच्चयनितानां विशेषाधिकार ईश्वरीयनियोगनियोजितः। श्रीमद्भगवद्गीता सांख्ययोगे' ति साधना-द्वयस्योपदेशेनोद्घाटयति विशेषाधिकारस्य द्वारं सर्वेभ्यः जिज्ञासुजनेभ्यः परप्रत्ययविमुख-स्वानुभूतिपरायणेभ्यः। एवं सांख्ययोगौ कल्पेते साक्षात्कारात्मकप्रज्ञायाः विज्ञानं सर्वजनसुलभं सर्वाधिकारनिरपेक्षम्।

१. स्थिप्रज्ञ-प्रसंग : दूसरे अध्याय का तार्किक उपसंहार :

निदर्शन परोक्षचर्चा का तार्किक विश्रान्ति बिन्दु होता है. दूसरे अध्याय में सांख्य और योग के रूप में जिस साधनाधर्म का उपदेश हुआ है, उसके सिद्ध आदर्श का निदर्शन है स्थितप्रज्ञ. इस आदर्श परिकल्प को ले कर अर्जुन के मन में कुछ सीधे सवाल हैं. समारम्भ श्लोक को, जिसमें ये सवाल उठाए गए, प्रकरण का जिज्ञासा-सूत्र कहा जा सकता है. यह जिज्ञासासूत्र, विवेचनाधीन सम्पूर्ण चर्चा को आद्योपान्त नियंत्रित करता है. .

२. फलितार्थ का अविकल निदर्शन :

पुरागाथाओं के आप्तपुरुष, प्रतीक, कर्मकाण्ड और विधि निषेधों में मूर्तिमान शास्त्रव्यवस्था निर्विवाद रूप से धर्म की प्राथमिक कक्षा है. लोक मर्यादाओं के प्रहरी और अप्रबुद्ध जनसामान्य की आस्था के आलम्बन के रूप में इसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है और अभी बहुत समय तक रहेगी. किन्तु जातीय पुरागाथानिबद्ध धर्म का कोई भी अवतरण, अपने स्थानीय, एकदेशीय स्वरूप के कारण, न तो धर्म का सार्वभौमिक अर्थ हो सकता है और न ही उसका परमार्थ. इस रहस्य से परिचित होने के कारण, गीता किसी प्रतीक को, किसी 'अवतरितशब्दराशि' को प्रमाण रूप में प्रतिष्ठित करने के बजाय, अविचल शुद्धान्तःकरण को ही आस्था के परम प्रमाण रूप में प्रस्तुत करती है.

अन्तःकरण की शुद्धि, धर्म के रूप में सांख्य (ज्ञानयोग) या योग (कर्मयोग) की साधनाओं को पूर्वकल्पित करती है. लोकप्रसिद्ध शास्त्रनिष्ठा से भिन्न, आस्था की विलक्षण

शुद्धान्तःकरणनिष्ठा के फलितार्थ का निदर्शन है 'स्थितप्रज्ञ'. इस निदर्शन के बिना, सांख्य और योग की साधनापद्धतियों की चर्चा, तन्निरूपित शुद्धान्तःकरण की अवधारणा, तन्निष्ठ आस्था की परापुस्तकीय अवधारणा (त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन) अनुपसंहारी रह जाती हैं. दूसरे अध्याय की समस्त चिन्तनधाराओं का पुञ्जीभूत विग्रह है स्थितप्रज्ञविचार.

३. सांख्य और योग की साधनाओं का सामान्य आदर्श :

स्थितप्रज्ञ-प्रकरण, कर्मयोग की चर्चा के क्रम में आता है. अतः गीता के विद्वान् व्याख्याकार सामान्यतया इसे कर्मयोग प्रसंग के विस्तार के रूप में लेते हैं. किन्तु वास्तविकता यह है कि कर्मयोग की चर्चा श्लोक ५३ के साथ अवसित हो जाती है. स्थितप्रज्ञ विचार उससे अलग है और पूर्वोक्त ज्ञान तथा योग के साधना मार्गों के सामान्य प्राप्तव्य को बताता है. ***'गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः'*** आदि स्थलों से स्पष्ट है कि स्थितप्रज्ञता कर्मयोग का ही नहीं, ज्ञानयोग का भी साध्य है.

सांख्य और योग की साधनाएं, अलग अलग होते हुए भी जिस साक्षात्कारात्मक परमार्थ में पर्यवसित होती हैं, वह अलग अलग न हो कर एक ही परमार्थ है, सनातन और अविभाज्य. जब भी मौका मिलता है, गीता हमें यह याद दिलाना नहीं भूलती कि सांख्य और योग अलग अलग साधना पद्धतियां जरूर हैं, किन्तु उनका गन्तव्य एक ही है. ***'सांख्य योग प्रथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः', यत्सांख्यै प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते'*** इत्यादि. आस्था के इस आदर्श को ले कर अर्जुन के मन में कुछ जिज्ञासाएं हैं. जिन्होंने अपने भीतर अपने उद्धारक को तलाश लिया है, जिनकी बुद्धि परमार्थ का साक्षात्कार करके उसमें प्रतिष्ठित हो चुकी है, क्योंकि शास्त्रों सहित संदेह और विचलन की हेतुभूत समस्त सामग्री के समाधि उपलक्षित साक्षात्कारात्मक धर्म में निःशेष हो जाने के बाद जिनके भीतर बुद्धि को चलायमान करने के लिए कुछ बचा ही नहीं है, ऐसे प्रतिष्ठितप्रज्ञ जनों का व्यक्तित्व और व्यवहार कैसा होता है, उन्हें पहचाना कैसे जाए, यह जिज्ञासा है, जिसे अर्जुन ***'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा'***, इस उपक्रम के साथ भगवान् श्रीकृष्ण के सामने रखता है.

सांख्य और योग के रूप में पुस्तकपंथों से सर्वथा विलक्षण, आस्था के जिस सार्वभौमिक परिकल्प को प्रस्तुत किया गया है, स्थितप्रज्ञ पुरुष उसके फलितार्थ का साकार विग्रह है. यहीं,

इस लोक में ही इसे पाया जा सकता है, आस्था के ऐसे आदर्श के अलौकिक वैभव का निदर्शन, सांख्य-योग की चर्चा को समर्पित दूसरे अध्याय का तार्किक उपसंहार है.

४. आस्था में ठहराव : निरोध और साधना, दो सम्भावित साधन :

१६ श्लोकों (५४-७२)का यह प्रकरण अर्जुन की जिज्ञासा को केन्द्र में रख कर प्रवृत्त होता है. किन्तु यह अपने आप में आस्था की स्थिरता की साधना का सांगोपांग विवरण है. 'आस्था' शब्द का अर्थ होता है, ठहराव या ठहराव का आधार. यह आधार बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का हो सकता है. स्थितप्रज्ञ का आदर्श, आस्था के आभ्यन्तर आलम्बन की तलाश को रेखांकित करता है.

५. बाह्य अनुशासन की अपर्याप्तता :

अवतारी पुरुष, उसके द्वारा अवतरित शास्त्रविधान, धार्मिक कर्मकाण्ड, सामाजिक मर्यादाएं और राज्यानुशासन —ये सभी व्यवस्थाएं, आस्था के ठहराव के बाह्य आलम्बन हैं. अपने आरोपित अनुशासन के द्वारा ये आस्था के बिखराव को रोकते हैं. किन्तु आस्था का बिखराव एक मानसिक घटना है, जिस तक किसी बाह्य अनुशासन की पहुंच नहीं हो सकती. राजाज्ञा और धार्मिक फतवे मनमें उठते विचारों पर लागू नहीं होते.

संस्थागतघर्म अपनी दण्ड व्यवस्था के द्वारा विद्रोही विचारों को, उनसे उपजी अनास्था को तभी निरुद्ध कर सकता है जब वे अभिव्यक्ति और आचरण के धरातल पर आते हैं. किन्तु तब तक काफी नुकसान हो चुका होता है. दण्ड से अभिव्यक्त के भावी अभियोगों का निरोध तो किया जा सकता है, किन्तु दण्डित हुए अभिव्यक्त का विचार के धरातल पर जो संक्रमण शुरू होता है उसे रोक पाना किसी व्यवस्था के बस की बात नहीं. इसे जितना रोका जाता है, यह उतना ही फैलता है. एक अनुशासनप्रिय पिता ने अपने बच्चे को गाली देते देख कर, पहले उसे ऐसा न करने के लिए प्यार से समझाया, फिर डांटा; बच्चा तब भी नहीं माना तो उसकी पिटाई कर दी. बच्चा अब ओठों में गाली को गुनगुना रहा था. पिता ने फिर छड़ी उठाई और उसे पीट दिया. कुछ देर बाद बच्चा, घर के एकान्त कोने में, यह सुनिश्चित कर लेने के बाद कि पिता वहां नहीं हैं, गाली को दुहरा रहा था. यहां छड़ी का अनुशासन असहाय था. कुछ ऐसी ही या इससे भी बदतर हालत होती है धर्मानुशासन की.

व्यक्त और अव्यक्त, अनास्था के संक्रमण को बलपूर्वक रोकने के प्रयास, मानवीय विवेक के विरुद्ध धर्मव्यवस्था के गरिमाहीन, बर्बादी भरे निष्करुण संघर्ष की एक ऐसी परम्परा को जन्म देते हैं जिसका दूर तक कोई अन्त नहीं दिखाई देता. ईसाई रहस्यवादियों और सूफी साधकों के उत्पीडन, गैलिलियो से लेकर सलमान रश्दी तक वैमत्य के दमन के सदियों के इतिहास के वाबजूद यदि संस्थागतधर्म आज भी अपने को असुरक्षित महसूस करते हैं, तो यही मानना पड़ेगा कि उनकी आस्था के आधार दुर्बल हैं. इस दुर्बलता की वजह है उनका बहिरंग स्वरूप और आरोपित अनुशासन. आस्था का बिखराव मन की बीमारी है; इसका समाधान मनोवैज्ञानिक विश्लेषण पर आधारित मन की साधना में ढूंढ़ा जाना चाहिए, किसी बहिरंग अनुशासन में नहीं. अनुसंधान की यह प्रक्रिया स्थितप्रज्ञ के आदर्श में साकार होती

६. आस्था का आभ्यन्तर आधार :

६.१ तन्निष्ठ धर्म का साधनामूलक कल्प : पुस्तकपंथों से भिन्न, आस्था का एक दूसरा रूप है, जो समुचित परिष्कार के द्वारा आभ्यन्तर आधार में आस्था के एकीभाव को सुनिश्चित करता है. आस्था का तात्त्विक आलम्बन आत्मा है. किन्तु साधनभूत होने से, व्यावहारिक आभ्यन्तर आलम्बन शुद्धान्तःकरण ही बनता है. व्यक्ति के संकल्प और विकल्प, उसके सभी संदेह और अनिश्चय अन्तःकरण (मन) से ही उत्पन्न होते हैं. मन में विचलन की सामग्री हैं कामनाएं. उनसे मुक्त हुआ मन, आस्था के एकीभाव का सर्वाधिक आश्वस्त करने वाला आधार हो सकता है. किन्तु कामनाओं से मन को मुक्त करना, यह आसान काम नहीं है. कामनाएं स्वयं अनादि, वासनाप्रवाह का अभिव्यक्ति की हद तक पहुंचा एक छोटा सा अंश हैं. वासनारूप उपादान सामग्री सहित कामनाओं के क्षरण का ही नाम है अन्तःकरण की शुद्धि. इसके लिए गीता सांख्य और योग के रूप में दो आधारभूत किन्तु अलग अलग साधनाओं को परिकल्पित करती है.

श्रीमद्भागवत पुराण का एक आख्यान है कि सृष्टि के प्रारम्भ में अथाह जलराशि के बीच कमलासन पर विराजमान एकाकी ब्रह्माजी जब अपने उद्भवमूल को तलाशते सहस्रों वर्ष तक कमल की नाल में भटकते रहे. उनके अन्तःकरण में तप का आदेश प्राप्त हुआ. तप के द्वारा शुद्ध हुए अन्तःकरण में उन्हें परमात्मा के दर्शन हुए. पुनः तप के द्वारा उन्हें वेदों का साक्षात्कार हुआ.

७. शुद्धान्तःकरण : आस्था का स्थितिमूल :

कहने की आवश्यकता नहीं कि ऊपर दिए प्रकरण में जिस तप की चर्चा की गई है वह अन्तःकरण की शुद्धि का एक साधन होने से योग का ही एक रूप है. भगवान् बुद्ध ने तप के द्वारा शुद्ध हुए अन्तःकरण में सत्य का साक्षात्कार किया था. यह शुद्धान्तःकरण, किसी को भगवत्कृपा से, तो किसी को पूर्वजन्म की साधना के कारण अनायास भी प्राप्त हो जाता है. किन्तु, ज्ञान और योग की साधना इसे प्रयत्नसाध्य और सर्वजन सुलभ बनाती है. सामी धर्मों की परम्परा में, नबी और पैगम्बर ऐसे लोग थे, जिन्होंने अपने शुद्धान्तःकरण में साक्षात् परमात्मा का मार्गदर्शन प्राप्त किया था. उनकी साधना के बारे में पर्याप्त जानकारी उपलब्ध नहीं है. सम्भवतः उनमें अन्तःकरण की शुद्धि भगवत्कृपा से प्राप्त थी.

यहां ध्यान देने की बात यह है कि पुस्तकपंथ, जिसे कुछ चुने हुए लोगों का — नबी, पैगम्बर, गुरुओं का विशेषाधिकार मानते हैं, गीता साधना के द्वारा उसके द्वार को जन साधारण के लिए खोल देती है. ज्ञान और योग के साधना मार्गों में से किसी एक का आश्रय ले कर कोई भी व्यक्ति, दूसरों के लिए न सही कम से कम अपने लिए स्वयं अपना उद्धारक हो सकता है. इतना ही नहीं, जो अनीश्वरवादी हैं, साधनापथ उनके लिए भी आस्था में स्थान देता है. भारत में बौद्ध और जैन जैसे अनीश्वरवादी सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव, धर्म की साधनामूलक अवधारणा के कारण ही सम्भव हो सका.

किताब (शास्त्र) की बजाय शुद्धान्तःकरण, अपने अन्तरंग एवं स्वरूपसिद्ध अनुशासन के द्वारा न केवल आस्था के एकीभाव का अव्यभिचरित नियामक है, अपितु उसके परमार्थ का असंदिग्ध ज्ञापक भी. यह आस्था के ठहराव और ज्ञप्ति और दोनों का तात्त्विक आधार है. इसमें आस्था की स्थिरता को विधि के अनुशासन से नहीं, प्रलोभनों के आकर्षण और तलवार के भय से नहीं से नहीं, बल्कि शुद्धान्तःकरण के स्वरूप से प्राप्त होती है, जिसमें आस्था को विचलित करने वाली सामग्री को साधना के द्वारा निःशेष किया जा चुका है.

आस्था का आदर्श : उसके बारे में अर्जुन की जिज्ञासा :

अधिकांश धर्म जिस्म की कुर्बानी को कुर्बानी की हद मानते हैं. साधना का धर्म, संयम में प्रतिष्ठित जिस्म में मन की कुर्बानी का मजहब है. इस मायने में यह धर्म का अपेक्षाकृत सूक्ष्म,

और जागृत पथ है. अधिक कठिन और समस्याओं से भरा भी, क्योंकि भीतर के भुलावे अक्सर बेमालूम होते हैं और जब तक उनकी जानकरी होती है, वे अपना काम कर चुके होते है.

अर्जुन की जिज्ञासा धर्म के इस सूक्ष्म, जागृत आदर्श के बारे में है. बाह्य आलम्बनों का विसर्जन करके, जिसने अपने भीतर अपने उद्धारक को तलाश लिया है, जिसकी बुद्धि परमार्थ का साक्षात्कार करके उसमें प्रतिष्ठित हो चुकी है, क्योंकि शास्त्रों सहित संदेह और विचलन की हेतुभूत समस्त सामग्री के साक्षात्कारात्मक धर्म में निःशेष हो जाने के बाद जिसके भीतर बुद्धि को चलायमान करने के लिए कुछ बचा ही नहीं है, ऐसे प्रतिष्ठत- प्रज्ञ का व्यक्तित्व और व्यवहार कैसा होता है, उसे पहचाना कैसे जाय, यह अर्जुन की जिज्ञासा है.

■ ■ ■

प्रथम एककः

(जिज्ञासासूत्र)

अर्जुन उवाच

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।

स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्।।५४।।

हे केशव! समाधि में प्रतिष्ठित, स्थितप्रज्ञ पुरुष का क्या लक्षण है? स्थितप्रज्ञ पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है, कैसे चलता है?

१. **आस्थायाः परापुस्तकीयस्वरूपस्य सिद्धिर्व्यक्तिक्षेत्र एव सुलभा भवति। येनात्मन्येव स्वात्मन उद्धारकं अभिज्ञातं, साक्षात्कारात्मकप्रज्ञायां निःश्शेषतां गते विचलनोपादाने, परमार्थस्याविचलभावे प्रतिष्ठिता यस्य बुद्धिः, तादृशस्य स्थितप्रज्ञस्य किं लक्षणं, कीदृशो व्यवहारः कथमस्याभिज्ञानं भवेदिति प्रश्नानधिकृत्यार्जुनो पृच्छति, *स्थितप्रज्ञस्य का भाषे'ति*।**

जिज्ञासासूत्रमिदम्। विभागवचनमिदमित्यपि वक्तुं शक्यते, कर्मयोगसमापन-स्थितप्रज्ञ-चर्चासमारम्भविषयत्वादस्य। स्थितप्रज्ञस्य लक्षणं, स्वरूपं व्यवहारञ्चाधिकृत्य भगवते श्रीकृष्णाय निवेदयत्यर्जुनः पञ्चप्रश्नान्। *'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा'* इतीयं लक्षणजिज्ञासा सामान्यरूपेण प्रस्तुता। 'समाधिस्थस्य केशव' इत्यनेन स्वरूपलक्षणं जिज्ञास्यते, समाधेर्स्थितप्रज्ञस्य स्वरूपत्वात्। अग्रिमाः त्रयः प्रश्नाः, *'स्थितधीः किं प्रभाषेत, 'किमासीत', 'वृजेत किम्',* व्यवहारविषयकत्वादाक्षिपन्ति व्यावहारिकलक्षणजिज्ञासाम्। एवं सामान्यरूपेण लक्षण-जिज्ञासामवतारयित्वायं श्लोकः विचारविषयत्वेन प्रस्तौति स्थितप्रज्ञस्य स्वरूपं, व्यवहारञ्च।

२. एकोनविंशति श्लोकानां (५४-७२) प्रकरणमिदं आस्थाया आदर्शत्वेन परिकल्पते स्थितप्रज्ञम्। सांख्ययोगयोरिदं सामान्यं प्राप्तव्यम्। प्रथमश्लोको हि जिज्ञासा एकक: (श्लो.५४) श्रीभगवानुवाचेति उपक्रमितोऽयं अध्यायान्तां स्थितप्रज्ञचर्चां संचालयति स्वीयानुशासने। तत्सहितं एकोनविंशतिश्लोकात्मकं प्रकरणमिदं यथाप्रश्नं भजते सप्तैककीं संरचनामधोनिर्दिष्टाम् –

प्रथम एकक:	: जिज्ञासासूत्रम् (श्लो. ५४):
द्वितीय एकक:	: (श्लो.५५-५६) : श्लोकद्वयात्मकोऽयं प्रथमं प्रश्नमालक्ष्यप्रस्तौति स्वरूपलक्षणं स्थितप्रज्ञस्य।
तृतीय: एकक:	: (श्लो.५७): अयमेकक: 'नाभिनन्दति न द्वेष्टि' इत्यनेन 'स्थितधी: किं प्रभाषेत' इति जिज्ञासाया उत्तरम्।
चतुर्थ एकक:	: (श्लो.५८-६१): निदर्श्यतेऽत्र स्थित्यात्मक: कर्मपर्याय: स्थितप्रज्ञताया:। उत्तरमिदमर्जुनस्य किमासीतेति प्रश्नस्य।
पंचम एकक:	: (श्लो. ६२- ६३) स्थित्या: मनसोऽपक्रमस्य सक्रमं निर्वचनम्।
षष्ठ एकक:	: (श्लो. ६४-६८) : स्थित्यां मनस: पुनरुद्धारस्य साधना ।
सप्तम एकक:	: (श्लो. ७२): वस्तुगर्भितफलश्रुत्या प्रसंगस्योपसंहार: ।

१. अर्जुन के प्रश्न :

प्रकरण का प्रथम श्लोक(श्लोक ५४) जिज्ञासासूत्र है. इसे विभागवचन भी कहा जा सकता है, क्योंकि यहां से कर्मयोग विषय का समापन और नए विषय का समारम्भ होता है. स्थितप्रज्ञ पुरुष के लक्षण (स्वरूप और व्यवहार) को ले कर अर्जुन, भगवान् श्रीकृष्ण से ५ प्रश्न करता है.

'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा' यह लक्षण(परिभाषा) के बारे में सामान्यरूप में की गई जिज्ञासा है. यतः समाधि स्थितप्रज्ञ का स्वरूप है, ***'समाधिस्थस्य केशव'*** यह कथन स्वरूपलक्षण के बारे में विशेष जिज्ञासा को बताता है. आगे के तीन प्रश्न ***'स्थितधी: किं प्रभाषेत'*** (स्थितप्रज्ञ पुरुष कैसे बोलता है), ***'किमासीत'*** (कैसे बैठता है) ***'व्रजेत किम्'*** (कैसे चलता है), व्यवहार के सम्बन्ध में हैं, और व्यावहारिक-लक्षणों का आक्षेप करते हैं.

इस प्रकार ये चार प्रश्न क्रमशः स्थितप्रज्ञ पुरुष के स्वरूप और व्यवहार को जिज्ञासा का विषय बनाते हैं. यदि वस्तु स्वरूप में सिद्ध नहीं है तो व्यवहार अक्सर धोखा दे जाता है. वर्णन

की समग्रता के लिए दोनों की चर्चा जरूरी है. अर्जुन की जिज्ञासा को केन्द्र में रख कर प्रवृत्त हुआ यह प्रसंग आस्था की स्थिरता के रहस्य और उसकी साधना का सांगोपांग विवरण बन जाता है. ये प्रश्न चिन्तन को एकरूपता देते हैं, उसकी दिशा को नियंत्रित करते हैं और उसे बिखरने नहीं देते.

२. प्रकरण की प्रश्नानुशासित-संरचना :

अर्जुन के प्रश्नों के माध्यम से यह प्रकरण (श्लो.५४-७२) स्थितप्रज्ञ पुरुष के स्वरूप और व्यवहार को विचार का विषय बनाता है, जिन्हें हम क्रमशः स्वरूप लक्षण और व्यवहारलक्षण भी कह सकते हैं. प्रथम दो श्लोक (५५-५६) स्थितप्रज्ञ के स्वरूप लक्षण को, बाद के १५ श्लोक (५७-७१) व्यवहार-लक्षण को, तथा अन्तिम श्लोक(७२) फलागम को बताते हैं. इस विश्लेषण के आधार पर प्रकरण के ७ विचार एककों का परिकल्प इस प्रकार है :

प्रथम एकक : प्रकरण का प्रथमश्लोक (श्लो.५४) जिज्ञासासूत्र है. इसमें स्थितप्रज्ञ के लक्षण, उसके व्यवहार स्थित्यात्मक और गत्यात्मक को जिज्ञासा का विषय बनाते हुए पांच प्रश्न किए गए हैं.

द्वितीय एकक : (श्लो.५५-५६) दो श्लोकों का यह एकक अर्जुन के प्रथम प्रश्न (लक्षणजिज्ञासा) को सम्बोधित है. इसके दो श्लोकों में स्थितप्रज्ञ पुरुष के स्वरूप लक्षण की सिद्धि की गई है.

तृतीय एकक : (श्लो.५७) एक श्लोक का यह एकक, ***'नाभिनन्दति न द्वेष्टि'*** इस वचन के द्वारा अर्जुन के ***स्थितधीः किं प्रभाषेत,*** (स्थितप्रज्ञ पुरुष कैसे बोलता है), इस प्रश्न का उत्तर है.

चतुर्थ एकक : (श्लो.५८-६१) स्थितप्रज्ञ के स्थित्यात्मक कर्मपर्याय का निदर्शन. यह अर्जुन के ***किमासीत*** (स्थितप्रज्ञ पुरुष कैसे बैठता है) इस प्रश्न को सम्बोधित है.

पंचम एकक : (६२- ६३) **स्थिति से** मन की विच्युति के मनोविज्ञान का सक्रम निर्वचनम्.

षष्ठ एकक : (६४-६८) : **स्थिति में** मन के पुनरुद्धार की साधना

सप्तम एकक : (६९-७२) : फलश्रुति के रूप में प्रसंग का सूत्ररूप में संग्रह करते उपसंहार

ऊपर दी गई एकक सूची केवल सूची नहीं है. यह प्रकरण के समग्र विवरण की सुसम्बद्ध रूपरेखा है. गीता का स्थितपज्ञ प्रकरण सघन और बहुतलीय चिन्तन की पिण्डीकृत अभिव्यक्ति है.

दुर्लक्ष्य अवयव संस्थान के कारण इसकी सही समझ नहीं बन पाती. सही समझ के अभाव में अधिकतर लोग गीता के इस प्रसंग को एक उबाऊ और अनावश्यक पुनरुक्ति मानते हैं. समझ की समस्या की इस पृष्ठभूमि में सम्पूर्ण कथ्य का सुसम्बद्ध विवरण उपलब्ध कराती उपर्युक्त सूची महत्त्वपूर्ण हो जाती है. इसकी उपयोगिता सामान्य और प्रबुद्ध, सभी के लिए है.

अर्जुन का प्रथम प्रश्न (लक्षणजिज्ञासा) को सम्बोधित है. इसे ध्यान में रखते हुए अग्रिम एकक के दो श्लोक स्थितप्रज्ञ के स्वरूप-लक्षण पर चर्चा करते हैं.

■ ■ ■

द्वितीय एकक:

(स्थितप्रज्ञ का स्वरूप लक्षण)

श्री भगवानुवाच

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।५५।।
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।५६।।

हे अर्जुन जिस समय यह पुरुष अपनी समस्त मनोगत कामनाओं का परित्याग कर देता है, उस समय आत्मा से ही आत्मा में संतुष्ट हुआ वह पुरुष स्थितप्रज्ञ कहलाता है (५५).

.दुःखों में जिसका मन उद्वेगरहित है, सुखों में जो स्पृहा-रहित (लालसारहित) हो चुका है, जिसके राग भय और क्रोध छूट गए हैं, ऐसा मुनि स्थितप्रज्ञ कहलाता है (५६).

१. **लक्षणं हि द्विधा स्वरूपव्यवहारभेदेन। समाधेः स्वरूपत्वात्स्थितप्रज्ञस्य 'समाधिस्थस्य केशव' इत्यनेन प्रथमं प्राप्यते स्वरूपलक्षणजिज्ञासा। तदधिकृत्य द्वौ भागौ व्याख्येयैककस्य लक्षणोपपत्तिभेदेन । 'आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते' इति लक्षणम्। यतः स्वरूप-लक्षणमिदं, शेष एकको हि समर्पितोऽस्यार्थस्य विश्लेषणाय।**

२. **'आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते' इत्यनेन स्पष्टं यदात्मनः स्वातन्त्र्य एव लक्षणस्वारस्यम्। स्वतंत्रताया निर्वचनं प्रतिबन्धकोपाधिनिराकृत्यधीनम् । आत्मनः स्वरूपे प्रतिष्ठा एव स्थितप्रज्ञस्य स्थितेर्नियामिका। अगन्तुकमस्थैर्यमनात्ममूलञ्चेत्यस्य सहजापवाहः।**

२.१-३. **अनादिवासना ह्यनात्मकल्पो यत्करोत्यात्मानं परायत्तं व्यग्रमस्थिरञ्च। अस्याः सान्निध्यं स्वरूपविस्मृतिं जनयन्नित्यतृप्तात्मनि जागरयत्यभावचेतनां, प्रवर्तयति या विषयेषु तृप्तिं**

मार्गयन्तीमस्थैर्यकारिणीं प्रवृत्तिं बन्धनरूपाम्। अनादिरव्यक्तव्यग्रतेयं सृष्टेर्हेतुगर्भ:। रागो हि अस्या: प्रथमाभिव्यक्ति: रागद्वेषात्मकप्राकृतमूल्यविधानाकारा। किन्त्वियं तु कामना यत्र प्राकृतव्यग्रता लभते सर्वाधिकीं स्पष्टाभिव्यक्तिम्।। अनन्तरं जायन्ते विकासस्य क्रमे अधिकाधिकमुखरपर्यायाणि आत्मनि बन्धनरूपाणि। एतेषां निराकरणेन परिभाषितं भवति आत्मन: स्वातन्त्र्यम्।

२.४. बन्धनपर्यायेषु कामनाया सुस्पष्टरूपत्वात्सार्वजनीनसंज्ञानयोग्यत्वाच्च कामनाकोषक्षरणसम्भवा हि प्राथमिकी स्वरूपसिद्धि: स्थितप्रज्ञस्य। तथा हि - *प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्* 'इति। कामनासंसर्गविसर्जनवचनं हि व्याख्यानमात्मस्वातंत्र्यलक्षणस्य आत्मैवात्मनातुष्टेति स्थितप्रज्ञस्य। व्याख्याया: प्रथमं सोपानमिदम्। अग्रिमश्लोकस्य पूर्वार्ध: *'दु:खेष्वनुद्विग्नमना: सुखेषु विगतस्पृह:* विषदयति कामनापरित्यागस्यार्थम्। कामनाविषयेषु सुखदु:खादिषु रागद्वेषयो: त्यागादेव त्यागो याति पूर्णतां, रागोपादानसहिताया: कामनाया: त्यागविषयत्वात्। लक्षणव्याख्यानस्य द्वितीयं सोपानमिदम्।

२.५ *'वीतरागभयक्रोध: स्थितधीर्मुनिरुच्यते'* इत्युत्तरार्धो हि न केवलं निषेधपर्याय: 'आत्मन्येवात्मना तुष्ट: स्थितप्रज्ञस्तदोच्यत'इति स्वरूपलक्षणस्य, अपितु 'वीतरागभय क्रोध इत्यनेन अवशिष्टरागसन्ततीनां संग्रहं कुर्वन् प्रस्तौत्यस्य निर्णायकं व्याख्यानम्। 'वीतरागभयक्रोधे' ति पदे 'राग' शब्दोऽनुवदति पूर्वोक्तान् रागानुबंधान्, 'भयं' 'क्रोध' इति शब्दौ काम्यकर्मण: सफलासफलपरिणत्यविनाभाविन्यो रागपरम्पराया चरमभावनिबन्धनयो: संग्रहं कुरुत: निर्वचनसमग्रतायै।

३. आधारभूतमूल्ये सुखस्पृहादु:खद्वेषे। किन्तु सुखसम्बद्धो हि वियोगभयम्। वस्तुतो प्रत्येक परितोषाविनाभावि ह्यस्य विनष्टिभयम्। अपरिमितराजसिकभोगानां मध्ये तेषां विनष्टि-भयमेवासीद्युवराजसिद्धार्थस्य विरागहेतु:। भयातिरिक्तं क्रोधो ह्यपरो रागानुबंध:। काम्यकर्मण: विफलता यन्नैराश्यं, यां कुण्ठां च जनयति तदेव गीतायां क्रोधेति नाम्ना व्यपदिष्टम्। भावमात्रे नैराश्यकुण्ठे। तयो: नास्ति तादृशी सुव्यक्तप्रवृत्तिहेतुता यादृशी दृश्यते सुखदु:खभयेषु। क्रोधस्य नैराश्यकुण्ठागर्भितत्वात् युक्तितया तस्यैवात्र संग्रहो कृतो वर्तते बन्धनपरम्परायाम्।

४. रागमूलसहितकामनानां निराकृतिर्हि प्रथमो विमर्श: आत्मन्येवात्मना तुष्टेति स्थितप्रज्ञलक्षणस्य। अस्या एव विवरणं दीयते अस्मिन्नेकके।

४.१-४ निराकृत्यामस्यां अन्त:करणमेव प्रमाणं, इतरनिरीक्षणाविषयत्वात्रागादीनाम्। स्वरूप-लक्षणसिद्ध्यां स्थितप्रज्ञस्य अन्त:करणमेव प्रमाणमित्यभिसन्धि:। अनन्तरं लभ्यते

वाक्कर्मेन्द्रियाणां धरातलानि येषु रागव्यवहारो गृह्णाति मूर्तरूपं स्वपरसंवेद्यम्। एतेषु धरातलेषु रागपर्यायाणां निराकृत्या प्राप्यते व्यवहारलक्षणं स्थितप्रज्ञस्य। वाग्व्यवहारे स्थितप्रज्ञतायाः सिद्धिर्हि विषयः अग्रिमस्य विचारैककस्य।

एकक विमर्श :

अर्जुन का प्रथम प्रश्न स्थितप्रज्ञ की परिभाषा (लक्षण) को ले कर है : ***"स्थितप्रज्ञस्य का भाषा"***. दो श्लोकों का यह एकक, अर्जुन के इसी प्रश्न को सम्बोधित है. इसके दो भाग हैं, लक्षण और उपपत्ति. ***"आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते"*** यह लक्षण है. यतः यह स्वरूप लक्षण है, एकक का बाकी अंश इसके अर्थ के विश्लेषण को समर्पित है.

१. *"स्थितप्रज्ञ"* : शब्दार्थ विचार :

"स्थितप्रज्ञ" का शाब्दिक अर्थ है, *'स्थिता प्रज्ञा यस्य सः'* — जिसकी प्रज्ञा स्थिर है ऐसा व्यक्ति. निश्चयात्मकता ज्ञान का स्वभाव है, जब कि अनिश्चय और संदेह, बाह्य कारणों से उत्पन्न संयोग. सभी वैषयिक ज्ञान बाह्यालम्बननिष्ठ होने से संदेह की सम्भावना से संक्रमित होते हैं. पूर्ण एवं अविकल निश्चयात्मकता तो केवल आत्मज्ञान में ही सम्भव है, उसके अकल्पित-प्रत्याख्यान होने से. 'आत्मा नहीं है' यह प्रत्याख्यान भी कथन के कर्ता रूप में आत्मा की सत्ता को स्वीकार करते हुए ही प्रवृत्त होता है. आत्मा के निषेध में भी उसकी स्वीकृति अन्तर्निहित है, यही है आत्मा का अकल्पित-प्रत्याख्यानत्व. आत्मा की सत्ता, ज्ञान के लिए आश्वासन है, अविकल वस्तुगर्भ का, उसमें अविकल प्रतिष्ठा का, प्रतिष्ठा में विश्वास का जो आत्मा की सत्ता का ही भावपर्याय है. इस रूप में देखें तो स्थितप्रज्ञ का लक्षण आत्मा की स्वतंत्रता का व्याख्यान है.

निश्चयात्मकता, स्वरूप में विश्वास अर्थात् आत्मविश्वास का ही दूसरा नाम है. आत्मविश्वास उसी में होता है जो स्वतंत्र होता है. पराधीनता आत्मविश्वास की प्रतिबन्धक है. जो घटना पराधीन है, जिसके निमित्त हमारे अधिकार के बाहर हैं, उसके बारे में हम कभी पूरी तरह आश्वस्त नहीं हो सकते. बारिश हो तो अच्छी फसल हो यह पराधीनता है, जो फसल के बारे में निश्चयात्मकता को बाधित करती है.

२.२. *'आत्मन्येवात्मना तुष्ट: स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ...'*

स्थितप्रज्ञ का स्वरूप लक्षण : अर्जुन का प्रथम प्रश्न स्थितप्रज्ञ के लक्षण के बारे में है. उसे ध्यान में रखते हुए, सर्वप्रथम स्थितप्रज्ञ के स्वरूप लक्षण को कहते हैं. स्वरूप लक्षण का अर्थ है किसी संयोग से नहीं, साक्षात् स्वरूप से प्राप्त पहचान. इसे कहता सम्पूर्ण श्लोक इस प्रकार है :

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्ट: स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥५५॥

हे अर्जुन जिस समय यह पुरुष अपनी समस्त मनोगत कामनाओं का परित्याग कर देता है, उस समय आत्मा से ही आत्मा में संतुष्ट हुआ वह पुरुष स्थितप्रज्ञ कहलाता है.

२.१. आत्मा की स्वतंत्रता : लक्षण का भावगर्भ :

अपने स्वरूप में अविचल रूप से प्रतिष्ठित होने का नाम है स्थितप्रज्ञ होना. गीता इसे इस प्रकार परिभाषित करती है. : ***आत्मन्येवात्मना तुष्ट: स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते***—जो आत्मा के द्वारा आत्मा में ही संतुष्ट है, उसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं.

निकट से विचार करें तो सहज यह स्पष्ट हो जाएगा कि यह वाक्य आत्मा की स्वतंत्रता को शब्दश: रूपायित करता है. 'अपने ही अधिष्ठान में, अपने ही द्वारा, अपनी ही तुष्टि', यह वाक्य अपनी रचना से ही आत्मा की स्वतंत्रता का निदर्शन कराता है. स्वतंत्रता का अर्थ है अपने स्वरूप में निरपेक्ष प्रतिष्ठा. यह निरपेक्ष प्रतिष्ठा, स्वरूप से भिन्न नहीं हो सकती. अतः यह आत्मा का धर्म(गुण) न हो कर उसका स्वरूप है. शब्दविमर्श इसे धर्म के रूप में प्रस्तुत करता है. जहां स्वतंत्रता आत्मा का स्वरूप है वहीं इस स्वतंत्रता का विमर्श स्थितप्रज्ञ का स्वरूपलक्षण है.

२.२. *प्रजहाति यदा कामान्'* ... : स्वतंत्रता का निर्वचन :

व्यक्ति जब (यदा) काम्य विषयों का (कामान्) पूरी तरह से परित्याग कर देता है (प्रजहाति) तब वह उस स्वतंत्रता की भूमि में प्रवेश करता है, जिसे स्थितप्रज्ञ कहते हैं, यह श्लोक का भावार्थ है.

'कामान्' पद का अर्थ है *'कामनाए'* अथवा *'कामनाओं के विषय'*. वस्तुतः दोनों परस्पर सम्बद्ध और अन्योन्याश्रित हैं. कामनाओं का मौलिक उपादान है 'राग'. यह विषय सम्बन्ध ही है जो राग को एक सुव्यक्त आकार और दिशा देता है, संक्षेप में उसे कामना में रूपान्तरित करके उसमें प्रवृत्ति निमित्तता का आधान करता है. विषय की चेतना में जाग्रत राग ही कामना है. इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि कामना हो या काम्य विषय, दोनों में रागमूल(रागद्वेष) और प्रवृत्तिमूल(विषय) परस्पर गुथे हुए प्राप्त होते हैं. यह प्रतिबंधक सामग्री है जिसका निराकरण आत्मा की स्वतंत्रता के निर्वचन का सहज साधन बन जाता है.

स्वतंत्रता का निर्वचन, प्रतिबंधक उपादानों के निराकरण के द्वारा ही सम्पन्न होता है. यह निराकरण स्वतंत्रता का पर्याय न हो कर उसका बौद्धिक विमर्श है. इसका महत्त्व इस बात में है कि इसके बिना स्वतंत्रता एक संप्रेषणीय अर्थ नहीं बनती. कारागार और जंजीरों के अपलाप के द्वारा ही स्वतंत्रता के अर्थ को समझा जा सकता है. स्वतंत्रता का यह विमर्श ही ***प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्,*** इस वाक्य का कथ्य है.

आत्मा की स्वतंत्रता स्थितप्रज्ञ का स्वरूप लक्षण है. इसका सीधा अर्थ यह है कि स्थितप्रज्ञ में **'स्थिति'** आत्मा के स्वरूप से प्राप्त है. इसका सहज अपवाह (corollary) यह है कि अस्थिरता बहिरंग और अनात्ममूलक है. जैसा कि कहा जा चुका है, स्वतंत्रता के अर्थ को परतंत्र बनाने वाली जंजीरों के निराकरण के द्वारा ही समझा और समझाया जा सकता है. अस्थिर बनाने वाले तत्त्व के निराकरण के द्वारा ही **'स्थिति'** बोधगम्य बनती है. अन्योन्याश्रय दोष की सम्भावना के वाबजूद, अर्थावगम के लिए उक्त रूप में पदार्थ विश्लेषण स्वरूप-लक्षण की विवशता है. अनन्यगत्या ***'आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते'*** इस स्वरूपलक्षण की सिद्धि अस्थिरताकारक उपादानों के निराकरण के द्वारा करते हैं.

२.३. पारतंत्र्य एवं अस्थिरता का मूल :

अनादिवासना ही वह 'पर' है जो आत्मा को परतंत्र बनाता है, उसे बेचैन और अस्थिर करता है. इसका सान्निध्य, स्वरूपविस्मृति को जन्म देते हुए, नित्यतृप्त आत्मा में अभाव के एहसास को जगाता है, उस तलाश को जन्म देता है, जिसे इस सृष्टि के उद्भव और विकास का कारण-विक्षोभ

कहा जा सकता है. वासना को हम सृष्टि के गर्भ में अनादि काल से पल रही अव्यक्त बेचेनी के रूप में समझ सकते हैं. सुखदु:खादि प्राकृत मूल्यों में साकार होती रागात्मकता, अव्यक्त व्यग्रता की प्रथमाभिव्यक्ति है. किन्तु यह कामनाएं ही है, जहां हमें इस आदिम व्यग्रता की सर्वाधिक स्पष्ट, सर्वाधिक मुखर अभिव्यक्ति देखने को मिलती है. अनन्तर विकास के क्रम में अधिकाधिक मुखर भावपर्यायों का आगम होता है. इन पारतन्त्र्यानुबंधों के निराकरण के द्वारा ही गीता आत्मा की स्वतंत्रता को, स्वतंत्रता के द्वारा स्थितप्रज्ञ के स्वरूप को परिभाषित करती है.

२.४. कामनाएं : पारतंत्र्य का प्रथमानुबंध :

कामनाएं अस्थिरता का सुव्यक्त मूल हैं. इनका अधिष्ठान है मन, जैसा कि इनके लिए प्रयुक्त *'मनोगतान्'* पद से स्पष्ट है. ये मन के द्वारा आत्मा के संसर्ग में आती हैं. कामनासंसर्ग आत्मा में अपर्याप्तता के भाव का आधान करता है, उसमें एक तलाश को जन्म देता है. इस प्रकार बाह्य विषयों में तृप्ति की तलाश के साथ शुरू होता है, भटकाव और अस्थिरता का एक अन्तहीन सिलसिला. कहीं यह विषयोन्मुख प्रवृत्ति सफल होकर भोगरूपा तृप्ति में पर्यवसित होती है तो कही असफल हो कर उद्वेग और हताशा को जन्म देती है. भोग का सुखद अनुभव, और विफलता की बेचैनी दोनों ही अभिनव उपक्रम के लिए प्रवृत्तिहेतु बन जाते हैं; सुखद अपनी पुनरावृत्ति चाहता है, दु:खद अभिनव प्रयत्न के द्वारा विफलता का निवारण. काम्य कर्म की हर परिणति एक नई तलाश को जन्म देती है. तलाश अस्थिरता का ही दूसरा नाम है. तलाश को जन्म देने वाली कामनाएं ही अस्थिरता का उत्स हैं. कामनानुबंध आत्मा को अपने स्वरूप में स्थिर नहीं रहने देते. ये स्वतंत्र आत्मा में अभाव, परापेक्षा अर्थात् परतंत्रभाव का आक्षेप करते हैं.

२.५. कामनाओं का विसर्जन :
स्थितप्रज्ञभाव की सिद्धि की दिशा में पहला कदम :

कामनाएं मन के द्वारा आत्मा में अभावबोध का संप्रेषण करती हैं, जो उसे अस्थिर बनाता है. कामनासम्बन्ध का विच्छेद किस प्रकार आत्मा के निराकांक्ष, आप्तकाम स्वरूप की सिद्धि करता है, इसको लेकर, शाश्वतवादी और अशाश्वतवादी मतों में वैमत्य हो सकता है. अशाश्वतवादी

इसे एक कार्य मानते हैं. उनके अनुसार, साधना द्वारा आत्मा का परिष्कार एक वास्तविकता है, जिसका विवरण अर्हतों और भगवान् बुद्ध के दर्शन में मिलता है. लेकिन शाश्वतवादी के लिए प्रज्ञा की यह प्रतिष्ठा कार्य नहीं, केवल विमर्श है आत्मा के सिद्ध स्वरूप का. आत्मा अपने स्वरूप में निराकांक्ष आप्तकाम, और सम्पूर्ण है. कामनासंसर्ग, तज्जनित अभावबोध और तलाश उसमें आगन्तुक संयोग हैं. इनका निराकरण आत्मा में किसी स्वतंत्रता का आधान नहीं करता, अपितु केवल उसके स्वरूपनिष्ठ स्वातंत्र्य को विमर्श के द्वारा अभिव्यक्ति देता है.

कामनासम्बन्ध का विच्छेद आत्मा के निराकांक्ष, आप्तकाम स्वरूप की सिद्धि करता है, यह गीता की मौलिक अन्तर्दृष्टि है. आत्मा के अलग अलग परिकल्पों में इसकी अलग अलग ढंग से सिद्धि की जा सकती है. इससे यह मौलिक प्रज्ञा कहीं से भी प्रभावित नहीं होती. किसी साम्प्रदायिक दर्शन में इस प्रज्ञा की सिद्धि किस प्रकार होती है, यह बात गीता के लिए एक महत्त्वहीन अतिप्रश्न है.

३.बंधन की सूक्ष्म सतहें : रागानुबंध :

कामनाओं का अविविक्त पूर्वकल्प : कामनाएं, जिस रूप में हम उन्हें जानते हैं, व्यक्तित्व की गहराइयों में बैठे, बहुतलीय वासनासंचय का सतही रूप हैं. जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कामना में दो भिन्न पदार्थों का संग्रह देखने में आता है. **'राग'** और **'विषय '**. राग मूलवासना की प्राथमिक अभिव्यक्ति है, जब कि विषय दिशा और प्रवृत्तिहेतुता का आधान करते हुए, उसे कामना का मुखर आकार देता है.

निर्णय के द्वारा तत्तद् काम्य विषयों का विसर्जन किया जा सकता है. एक व्यक्ति यह निर्णय ले सकता है कि 'मैं अमुक काम्य विषय का विसर्जन करता हूं', 'मैं अमुक काम्यविषय के लिए कोई उपक्रम नहीं करूंगा'. इससे आंशिक रूप में स्थितप्रज्ञभाव की सिद्धि भी होती है. किन्तु जब तक रागमूल का निराकरण नहीं होता, तब तक न तो कामना का पूरी तरह विसर्जन ही होता है और न ही स्थितप्रज्ञभाव की सम्पूर्णरूप में सिद्धि ही. इसी बात को आगे चल कर 'विषयाः विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः रसवर्जम्' इस सूत्र में संग्रहीत किया है. विषय के निराकरण के वाबजूद, एक अनकही चाहत की बेचैन पर्त बनी रहती है. कभी कभी ऐसा होता है कि हम एकाएक उदास हो जाते हैं, और देर तक अपने को टटोलते रहते हैं, यह जानने के लिए कि आखिर हम

उदास क्यों हैं. जाहिर है कि यहां एक ऐसा भाव निबन्ध है जिसने अभी तक एक स्पष्ट कामना का आकार नहीं लिया है. ऐसे ही अनजानी खुशियों के पल भी होते हैं. यह वासनामूल और कामनाओं के बीच की भावभूमि है, जिसे वासनामूल की तुलना में व्यक्त और कामनाओं की तुलना में अव्यक्त कहा जा सकता है. यह मूल वासना की भावरूपा अभिव्यक्ति है जो राग और द्वेष के रूप में साकार होती है. विषय के परित्याग के वाबजूद, रागात्मक उपादान जब तक अक्षुण्ण है, आत्मा की स्वतंत्रता के प्रतिबंधक बंधन भी, अक्षत रहते हैं.

रागात्मकता, अव्यक्त वासना की प्राथमिक अभिव्यक्ति है जो क्रमशः मन, वाणी और इन्द्रियों को संक्रमित करते हुए विकास और स्फुटीकरण के अग्रिम सोपानों की ओर बढती है. कामना इसका सर्वाधिक मुखर रूप हैं. इसे आसानी से पहचाना जा सकता है. अतः गीता आत्मस्वतंत्र्यलक्षण-स्थितप्रज्ञ की चर्चा यहीं से प्रारम्भ करती है : *प्रजहाति यदाकामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्.*

कामनाओं के परित्याग के वाबजूद रागात्मकता की जंजीरें बनी रहती हैं. अतः स्वतंत्रता की प्रतिबंधक सामग्री के निराकरण में कामनाओं के साथ, उनकी उपादानभूत रागात्मकता का जब तक परित्याग नहीं होता, तब तक कामनाओं का परित्याग अनुपसंहारी रहता है. इस बात को रेखांकित करने के लिए श्लोक में *'सर्वान्'* और 'प्र' उपसर्ग सहित क्रियापद *जहाति* (प्रकृष्टेण जहाति) का प्रयोग हुआ है. इसे ध्यान में रखते हुए ***'प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्'*** इस पक्ति का अर्थ हुआ, 'जब व्यक्ति समस्त कामनाओं का, पूरी तरह से अर्थात् समूल परित्याग कर देता है, तब वह उस स्वतंत्रता में प्रवेश करता है, जो स्थितप्रज्ञ का स्वरूप लक्षण है. स्पष्ट है कि यहां समूल परित्याग से तात्पर्य है, रागमूल सहित कामनाओं का परित्याग.

४. *'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः ....'*

रागमूल का विसर्जन : कामनाओं के विसर्जन की तार्किक पूर्णता : कामनाओं के परित्याग का प्रथम सोपान है काम्य विषयों का परित्याग. इसकी चर्चा ऊपर की जा चुकी है. दूसरा सोपान है, कामना के उपादानभूत रागमूल का परित्याग. इसका अर्थ है, कामना के विषयों में, सुखदुःखादि में, राग और द्वेष का परित्याग. यह वस्तुतः कामनाओं के परित्याग का ही विस्तार है, उनके रागमूल पर्यन्त. नीचे दिया श्लोक, कामनाओं के विसर्जन की प्रक्रिया को रागात्मकता की सूक्ष्म सतहों तक ले जाता है :

दु:खेष्वनुद्विग्नमना: सुखेषु विगतस्पृह:।
वीतरागभयक्रोध: स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।५६।।

दु:खों में जिसका मन उद्वेगरहित है, सुखों में जो स्पृहा-रहित (लालसारहित) हो चुका है, जिसके राग भय और क्रोध छूट गए हैं, ऐसा मुनि स्थितप्रज्ञ कहलाता है.

४.१. उपवर्णनों का संग्रह करते हुए लक्षण का पुनराख्यान :

'आत्मन्येवात्मना तुष्ट:स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते', यह स्थितप्रज्ञ का भावार्थ है, उसका स्वरूपलक्षण. *'प्रजहाति यदा कामान्'* कह कर, अस्थिरताकारक सामग्री के निराकरण के द्वारा सामान्य रूप से स्थितप्रज्ञभाव की सिद्धि का मार्ग बताया. अब व्याख्येय श्लोक **'दु:खेष्वनुद्विग्नमना:'** में बंधन तंत्र के सूक्ष्मतर, रागात्मक उपवर्णनों के विसर्जन की चर्चा करते हैं, जिसके बिना कामनाओं का विसर्जन और तदाश्रित स्थितप्रज्ञभाव की सिद्धि, दोनों ही अधूरे रहते हैं.

'वीतरागभयक्रोध: स्थितिधीर्मुनिरुच्यते'. यह वाक्य रागात्मक प्रपंच के उपवर्णनों में निराकरण की प्रक्रिया को दिखाते हुए स्थितप्रज्ञ की साधना के विवरण को समग्रता प्रदान करता है. इसमें 'राग' शब्द पूर्व में कहे रागानुबंधों का अनुवाद करता है, जब कि *'भय'* और *'क्रोध'* ये शब्द रागसन्तानपरम्परा की अन्तिम भाव परिणतियों तक का संग्रह करते हैं, जो काम्यकर्म के सफल और असफल व्यापार से जुड़ी होती हैं.

४.२.'सुख' और 'दु:ख' से जुड़े अवान्तर मूल्य : सुख में स्पृहा और दु:ख के प्रति विराग (द्वेष), ये आधारभूत प्राकृत मूल्य हैं. इनके विसर्जन का संग्रह *'दु:खेष्वनुद्विग्नमना: सुखेषु विगतस्पृह:'* यह कह कर किया गया. पुनः सुखस्पृहा के साथ जुड़ा है सुख को **खोने का भय.** वस्तुतः प्राप्ति के हर परितोष के साथ अविनाभावी है, उसे खोने का भय. यौवन और असीम राजसी वैभव के बीच, उन्हें खोने का भय ही था जो भगवान् बुद्ध के वैराग्य का कारण बना. इस प्रकार सुख, सुख में स्पृहा, स्पृहा में खोने का भय –ये एक ही रागमूल के मुखर होते उपवर्णन हैं.

भय के साथ दूसरा महत्त्वपूर्ण राग पर्याय है, ***'क्रोध'.*** भय उद्यम से पहले का भाव है, क्रोध उसके बाद का. सुख के लिए किए गए प्रयत्न की विफलता, जिस नैराश्य और कुण्ठा को जन्म देती है, उसी को गीता में क्रोध नाम दिया गया है. इसके लिए औचित्य भी है. नैराश्य और

कुण्ठा केवल भाव हैं. इनमें वैसी स्पष्ट प्रवृत्तिहेतुता नहीं दिखती जैसी कि सुख, दुःख तथा भय में देखी जाती है. यतः क्रोध, नैराश्य और कुण्ठा का संग्रह करता है, साथ ही उसमें स्पष्ट प्रवृत्तिहेतुता भी देखी जाती है, अतः रागपर्याय के रूप में भय के साथ उसका संग्रह समझ में आता है.

४.३. 'वीतरागभयक्रोधः' पद के निहितार्थ : यह पद अनादि वासना के क्रमशः स्फुट होते सम्पूर्ण प्रपंच का आत्मा के निषेधप्रतियोगी रूप में संग्रह करता है. इसके पदार्थ के सक्रम उन्मीलन पर एक सरसरी निगाह डालना उपयोगी होगा. आत्मा का प्रतिबंधक है, मूलवासना. यह अनात्मकल्प है, अनादि और अव्यक्त. रागद्वेष का प्राकृत मूल्यविधान उसका प्रथम स्फुरण है. यह प्राकृतविधान कामनाओं में एक स्पष्ट, मुखर आकार ग्रहण करता है.

कामना 'यह अभीष्टवस्तु हमारे पास नहीं है,' इस अभावचेतना को जन्म देती है, अभावचेतना कर्म को जो शुभाशुभ फल पर पहुंच कर अवसित होते हैं. जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, शुभाशुभ फल के अविनाभावी हैं, भय और क्रोध के भाव. इनके संग्रह के साथ पूर्ण होता है अनात्मतंत्र के क्रमिक विस्तार का विवरण, जिसके विरुद्ध आत्मा अपनी स्वतंत्रता को परिभाषित करती है, जिसके निराकरण के द्वारा प्रज्ञा अपने अविकलभाव के बारे में आश्वस्त होती है.

संग्रह और उपसंहार : कामनाओं के रूप में साकार होते रागपर्यायों से मुक्ति के रूप में परिभाषित स्वतंत्रता स्थितप्रज्ञ का प्राथमिक लक्षण है, तात्त्विक दृष्टि से भी, और ज्ञानमीमांसा के अनुसार भी. इसमें व्यक्ति के अपने अन्तःकरण के अलावा किसी और की गवाही के लिए अवसर नहीं होता. इसी अर्थ में इसे स्वरूपलक्षण कहा गया है. इससे आगे बढ़ कर, वाणी और कर्म (इन्द्रिय) के धरातल हैं जिनमें प्रतिफलित रागपर्याय अपने को व्यवहार में साकार करते हैं. ये केवल अन्तःकरण वेद्य नहीं होते. अपने व्यावहारिक विग्रह के कारण ये अन्य जनों के निरीक्षण और प्रतिक्रिया का विषय बनते हैं. इन धरातलों पर रागपर्यायों से मुक्ति को स्थितप्रज्ञ का व्यवहार-लक्षण कहा जा सकता है. वाग्व्यवहार में स्थितप्रज्ञता की सिद्धि अग्रिम एकक के विचार का विषय है.

■ ■ ■

तृतीय एकक:

(वाणी के व्यवहार में स्थितप्रज्ञभाव का निदर्शन)

मनोविकारनिराकृतिनिरूपितात्मस्वातन्त्र्योपलक्षितस्वरूपलक्षणस्य स्थितप्रज्ञस्य व्याख्यानं कृतं वर्तते पूर्वस्मिन् एकके। अत्रोपक्रमते व्यवहारलक्षणविचारः। तदन्तर्गतं प्रथमं प्राप्यते वाग्व्यवहारे स्थितप्रज्ञादर्शस्य सिद्धिर्निदर्शनञ्च –

य:सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।५७।।

जो पुरुष सर्वत्र स्नेहरहित रहते हुए, उन उन शुभ तथा अशुभ वस्तुओं को प्राप्त करके न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है.

१. विवेच्यश्लोकस्य 'यः सर्वत्रानभिस्नेहः' इत्यंशः अनुवदति रागनिराकृतिं पूर्वं 'वीतरागभय क्रोधे'ति पदेनोक्ताम्। एवमेव 'नाभिनन्दति न द्वेष्टी' त्यनुवादो 'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषुविगत-स्पृह' इत्यस्यस्य । अन्तरं तु एतावद्यदत्र मनोबुद्धिसंघाते सिद्ध्यनन्तरं स्थितप्रज्ञादर्शस्य सिद्धिः क्रियते भिन्ने व्यक्तित्वपटले वाग्व्यवहाररूपे।

२. 'स्थितधीः किं प्रभाषेत' इति तृतीयः प्रश्नोऽर्जुनस्य। 'नाभिनन्दति न द्वेष्टी' त्यस्योत्तरः। । तृतीयप्रश्नसान्दर्भिकस्यास्याद्वितीयत्वाद्युक्तमस्य श्लोकस्य स्वतंत्रैककरूपेण व्याख्यानम्।

३. स्थितप्रज्ञविचारोऽत्रानुसरतिमनोवाक्कर्मसंघातरूपं हिन्दूव्यक्तित्वकल्पनम् । प्रथमं कामना-

निराकृत्या क्रियते स्थितप्रज्ञस्य स्वरूपसिद्धिः। आत्मस्वातंत्र्यस्वरूपसाधकत्वात् स्वरूपलक्षमिदं परनिरीक्षणासहिष्णु कामनाया मनोपर्यायत्वात्। क्रमागते हि वाक्कर्मेन्द्रिययोः उत्तरोत्तरस्थूल-व्यक्तित्वकोषयोः निराकरणपद्धत्या परिकल्पस्य व्यावहारिकरूपस्य निर्धारणं क्रियते। एवं स्वरूपव्यवहारयोः संग्रहं कुर्वन् स्थितप्रज्ञस्यैकं समग्रविवरणमाकारं गृह्णाति।

ननु वाचः कर्मेन्द्रियत्वात् किं विनिगमकमस्याः स्वतंत्रोल्लेखे मनोवाक्कर्मेति व्यक्तित्वसंग्रहे। उच्यते – वाणी हि बुद्ध्याः निश्चयात्मको व्यवहारः। बुद्धिर्ददाति कामनाकल्पेभ्यो शुभाशुभ-विनिश्चयान् संकल्पोपपादकान्। वाणी हि बुद्धेर्निश्चात्मकताया मुखरोऽनुवादः। एवं व्यक्तित्वसंघाते वाग्घि हि बुद्धेरुपलक्षणम्। एवं मनो-बुद्धिकर्मेति व्यक्तित्वससंघातस्य व्यावहारिकोऽर्थः।

अस्यां बहुतलीयव्यक्तित्वसंरचनायां पूर्वं पूर्वं हि स्फुटतरस्याव्यवहितपरस्योपादानम्। यदा तत्तत्ककामनादिविकाराणां निराकरणेन स्थितप्रज्ञस्य सिद्धिः क्रियते तदा इयं निराकृतिरुपादान सहिता एव सम्पद्यते। बुद्धिविनिश्चितशुभाशुभोपादाननिराकरणपुरस्सर-रागनिराकरण-लक्षणस्थितप्रज्ञताया वाग्व्यवहारे सिद्धिरितीयमभिसंधिः।

४. रागसंक्रमितवाग्व्यवहारो हि संवादसामर्थ्यात् प्राणिनां मध्ये सामाजिकताया आधारः। इयं सामाजिकता आत्मन्यारोपयति लौकिकात्मीयभावखण्डान् परिवार-कुटुम्बराष्ट्रादीनां, ये सोपाधिकां कुर्वन्ति आत्मनः स्वतंत्रतां, संसारिकगतिविधिलौल्याद्विचलितां कुर्वन्ति प्रज्ञायाः प्रतिष्ठाम्। अतो वाचि रागानुबंधपरिहारात् स्थितप्रज्ञता : *नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता* इति

५. वाण्यां रागानुबंधः संक्रामति न केवलं लोकव्यवहारमपितु सम्पूर्णामास्थाम्, ददाति ईश्वरभावं निरुपाधिकसमर्पणविरुद्ध-परस्परभावानुविद्ध-क्षुद्र-व्यावसायिकं रूपम्। स्वार्थानुबंधनस्य विसर्जनं हि आस्थायाः मुक्तेर्द्वारं, तस्याः सार्वभौमिकतात्त्विकभावे प्रवेशस्यापरिहार्यं सोपानम्।

'नाभिनन्दति न द्वेष्टी'ति' नेदं निषेधः शिष्टाचारस्य। नाप्ययमपलापः सार्वभौमिक-सामाजिकमूल्यानां करुणामैत्र्यादीनाम् । क्षुद्रसामाजिकानुबंधानां निराकरणेन, सार्वभौमिक-सामाजिकमूल्यनां अनायासं प्राप्तिर्भवति स्थितप्रज्ञप्रतिष्ठायाम् ।

■

एककविमर्श :

'स्थितधीः किं प्रभाषेत' (स्थितप्रज्ञ क्या बोलता है), यह अर्जुन का दूसरा प्रश्न है. इसका उत्तर है *'नाभिनन्दति न द्वेष्टि'* यह श्लोक. यतः इस प्रश्न को सम्बोधित यह एक मात्र श्लोक है, इसे व्याख्या के लिए एक स्वतंत्र एकक के रूप में रखा गया है. किन्तु यह पूरी तरह से स्वतंत्र भी नहीं है. राग पर्यायों से वाणी की मुक्ति, जिस वाग्व्यवहार को जन्म देती है वह पूर्व में कहे गए स्वरूप लक्षण से भिन्न, स्थितप्रज्ञ का व्यावहारिक लक्षण है. इस प्रकार यह श्लोक दूसरे प्रश्न का उत्तर भी है और पहले प्रश्न(लक्षणजिज्ञासा) के उत्तर का तार्किक विस्तार भी. इन दोनों ही भूमिकाओं में इसके अर्थ को समझने की जरूरत है.

१. *'यःसर्वत्रानभिस्नेहः... '* :

श्लोक का भावार्थ : विवेच्य श्लोक का *'यः सर्वत्रानभिस्नेहः'* यह वाक्य पूर्व में कहे *''वीतरागभयक्रोधः'* के वीतरागांश का अनुवाद है. इसी प्रकार *'तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्, नाभिनन्दति न द्वेष्टि ...'* यह वाक्य अनुवाद है पूर्वोक्त *'दुःखेष्वनुद्विग्नमना सुखेषुविगतस्पृहः'* का. इसी क्रम में द्विधा राग निराकृति का अनुवाद करते हुए प्रकृत श्लोक, वाणी के व्यवहार में स्थितप्रज्ञता का निदर्शन है. नई बात केवल इतनी है.

२. *'नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता '* : व्याख्या :

२.१. अभिनन्दन और द्वेष के व्यवहारः *'स्थितधीः किं प्रभाषेत'* का शब्दशः अर्थ है, 'स्थितप्रज्ञ क्या बोलता है'. यह वाणी के कथ्य के बारे में जिज्ञासा है, बोलने की विधि के बारे में नहीं. 'क्या बोलता है' इसके उत्तर में कोई तथ्य ही आना चाहिए था, यथा 'अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रिय हितं च यत्'(गीता १७.१५). लेकिन यहां तो जो नहीं बोलता उसे स्थितप्रज्ञ के लक्षण के रूप में प्रस्तुत किया गया है. स्पष्ट है यहां वाणी के रागरंजित व्यवहार का निषेध ही अभीष्ट है. इसे समझने के लिए वाणी के व्यवहार के क्रम को समझना होगा.

तत्तद् विषयों का आगम (तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्)वाणी में व्यवहार के दो क्रमों को जन्म देता है. बुद्धिविनिश्चित शुभाशुभ का अनुवाद और अनूदित की भावसंवलित अभिव्यक्ति. इस

प्रकार अभिनन्दन और द्वेष के भावार्थों से संपृक्त हो कर ही मूल्यविनिश्चय वाणी के व्यवहार का विषय बनते हैं. इसका एक विशेष प्रयोजन है. यह मूल्य की भावाभिव्यक्ति ही है जो संप्रषण और संवाद के द्वारा सामाजिक व्यवहार की एकरूपता को सुनिश्चित करती है. 'वस्तु' और 'मूल्य' के समस्त विनिश्चयों में गुम्फित यह स्नेहसूत्र, उनके व्यवहार में सामाजिक अर्थ और उद्देश्य का निवेश करता है.

२.२. रागमूल के निराकरण की साधना का क्रम :

वाणी में अभिनन्दन और द्वेष के व्यवहार का कारण है रागात्मकता, जिसके लिए **स्नेह** शब्द का प्रयोग हुआ है. कारणभूत स्नेहसूत्र के अपलाप से, जिसमें प्राप्त होते शुभाशुभ विषयों में अभिनन्दन और द्वेष के व्यवहार का निराकरण हो चुका है, उसी की प्रज्ञा को प्रतिष्ठित माना जाना चाहिए, यह भावार्थ है. 'अनभिस्नेह' शब्द के द्वारा यहां परिकल्पित है, 'राग' के अपलाप की सम्पूर्ण साधना, जो क्रमशः मन, बुद्धि और वाणी के धरातलों पर रागात्मक व्यवहार के अपलाप में परिलक्षित होती है. यह संक्षेप में उस साधना का क्रम है जो *'नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता'* इस सूत्र में अन्तर्गुम्फित है.

३. मन-वचन-कर्म का संग्रह करता व्यक्तित्वदर्शन :

प्रथम दृष्ट्या *'स्थितधीः किं प्रभाषेत'* (स्थितप्रज्ञ क्या बोलता है) यह प्रश्न अपने आप में सतही, अनावश्यक और महत्त्वहीन प्रतीत होता है. लगता है जैसे किसी ने पादपूर्ति के लिए इसे रख दिया हो. लेकिन ऐसा है नहीं. प्रकरण में जिज्ञासित प्रश्नों के क्रम का सम्बन्ध हिन्दू व्यक्तित्वदर्शन से है, जिसमें मन, वाणी और कर्म के संग्रह के रूप में व्यक्तित्व को परिकल्पित किया गया है.

सर्वप्रथम कामनाओं के विसर्जन को स्थितप्रज्ञ के लक्षण के रूप में प्रस्तुत किया गया. यह अर्थ की अन्तरंग कोटि है, जो इतर संवेद्य न हो कर केवल आत्मनिरीक्षण का ही विषय हो सकती है. इसीलिए इसे स्वरूपलक्षण कहा. अनन्तर वाणी और इन्द्रियों के व्यवहार (कर्म) के क्रमशः स्थूल होते व्यक्तित्व कोषें में रागात्मकता के विसर्जन का निदर्शन कराते हुए, परिकल्प के व्यावहारिक अर्थ या अर्थों को अनुसंधान होता है. इस प्रकार स्वरूप और व्यवहार दोनों का

संग्रह करते हुए, स्थितप्रज्ञ का एक सम्पूर्ण विवरण आकार लेता है.

यहां प्रश्न यह उठता है कि वाक् तो स्वयं एक कर्मेन्द्रिय है. उसका व्यवहार इतर इन्द्रियों के व्यवहार की भांति एक कर्म है. अतः हिन्दू व्यक्तित्वदर्शन मन, वचन और कर्म की बात क्यों करता है, जब कि मन और कर्म कहने भर से काम चल सकता है. एक हद तक आपत्ति सही है.

वस्तुतः 'वचन' शब्द यहां उपलक्षणया बुद्धि के निश्चयात्मक व्यवहार को बताता है. मन में उठते राग कल्पों को हेयोपादेय रूप में विनिश्चित करना, यह बुद्धि का काम है. कामना का अमुक विषय पाने के योग्य है (या नहीं है) यही उसका हेयोपादेय विनिश्चय है. बुद्धि का यह निश्चयात्मक व्यवहार वाणी का रूप लेता है. स्पष्ट है कि मन, वचन और कर्म के संघात में, ***'वचन'*** बुद्धि के व्यवहार को बताता है. मन बुद्धि और कर्म, यह व्यक्तित्व संघात का व्यावहारिक अर्थ है. इनमें से प्रत्येक 'पर' के लिए 'पूर्वकल्प' उपादान है. रागात्मकता जिस प्रकार कामनाओं के लिए उपादन है, उसी प्रकार कामनाएं बौद्धिक विनिश्चय के लिए, बौद्धिक विनिश्चय वाग्व्यवहार के लिए, और वाग्व्यवहार (संकल्प) कर्म के लिए उपादान है. तत्तद् कामनादि विकारों की निवृत्ति के द्वारा जब स्थितप्रज्ञता की सिद्धि की जाती है तो यह निवृत्ति उपादान का संग्रह करते हुए ही सम्पन्न होती है. यह बात ***'प्रजहाति यदा कामान् ....'*** इस श्लोक की व्याख्या में स्पष्ट की जा चुकी है.

४. कामनाओं की भांति मूल्य भी रागोपादान की उपज :

कामनाओं के विषय, केवल प्रिय और अप्रिय होते हैं, शुभ और अशुभ नहीं. बौद्धिक विनिश्चय के द्वारा वे नैतिक अर्थ को ग्रहण करते हैं; काम्य विषय हेय और उपादेय, शुभ और अशुभ, इन मूल्यों में रूपान्तरित हो कर, एक नई पहचान के साथ सामने आते हैं. मूल्य रूप में कामनाओं का रूपान्तरण भी रागोपादान का ही प्रपंच विस्तार है. यह आत्मा में अभिनव बंधन श्रृंखला का सृजन करता है, या यों कहें कि बंधनश्रृंखला का नवीनीकरण करता है. कामनाओं का मूल्यरूप में बौद्धिक विनिश्चय तत्प्रकारक वाणी के व्यवहार को जन्म देता है, जो शुभ के स्वागत (अभिनन्दन) और अशुभ के प्रति निन्दा (द्वेष) के वचनों का रूप लेता है. यहां आ कर

मूल्यानुबंध एक स्थूल अभिव्यक्ति का रूप लेता है. भावगुम्फित-मूल्यानुबंधरूप यह वाणी का व्यवहार ही प्राणियों के बीच व्यवहार की एकरूपता को सुनिश्चित करता है.

मानव से ले कर पशुपक्षियों पर्यन्त, यथोक्त वाग्व्यवहार ही सामाजिकता का मूलाधार है. यह सामाजिकता आत्मा के ऊपर एक मोटी दुनियांदारी की पर्त का आलेप करती है, उसे घर, परिवार, बिरादरी और धर्म के छोटे छोटे आत्मभावों में बंदी बना कर उसकी स्वतंत्रता को बाधित करती है. अनेक प्रकार की गतिविधियों में उलझाए रख कर, उसे शान्ति और प्रज्ञा के अविचलप्रज्ञा के आदर्श से दूर रखती है. सामाजिकता और उसके कारण उपजे बंधनों का कारण है, रागरंजित वाग्व्यवहार.

शुभाशुभ विषयों में अभिनन्दन और द्वेष का व्यवहार ही वाणी का रागानुबंध है. इनसे मुक्त हुई वाणी जो कुछ भी कहे, या बिना कुछ भी कहे, आत्मा की स्वतंत्रता को अभिव्यक्ति देती है. आत्मा की स्वतंत्रता ही स्थितप्रज्ञ का लक्षण है, यह बात पहले कही जा चुकी है : *आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते.* अतः रागानुबंधों से परिशुद्ध हुए वाणी के व्यवहार को सीधे स्थितप्रज्ञ के व्यावहारिक-लक्षण के रूप में प्रस्तुत करते हैं — *नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता.*

५. *'नाभिनन्दति न द्वेष्टि'* :
कथन के सामाजिक और धार्मिक निहितार्थ :

शुभाशुभ के बौद्धिक विनिश्चयों के साथ जुड़े होते हैं, हेयोपादेय रूप भाव-पर्याय. ये विनिश्चय जब वाणी के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं तो इनसे सम्बद्ध भाव-पर्याय वाणी में संक्रमित होकर अभिनन्दन और द्वेष के वाग्व्यवहार को जन्म देते हैं. इस वाग्व्यवहार से विरत होने का अर्थ है उस संकुचित सामाजिकता से मुक्त होना जिसे व्यवहार कुशल लोग दुनियांदारी कहते हैं. जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, हेयोपादेयभावसंक्रमित वाग्व्यवहार ही तथाकथित सामाजिकता अर्थात् दुनियांदारी का मूल है.

शुभ का अभिनन्दन और जो अशुभ, उसकी आलोचना, यह एक सामाजिक शिष्टाचार भी है और नैतिक दायित्व भी. *'नाभिनन्दति न द्वेष्टि'*, यह वाक्य ऐसा है जो स्थितप्रज्ञ के आदर्श

के बारे में खतरनाक किस्म के विभ्रमों को जन्म दे सकता है. इसे अभद्रता और अनैतिकता के आचारविधान के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, कारण कि अभिनन्दन और द्वेष केवल शुभाशुभ की प्राप्ति का नहीं होता, उस निमित्त का भी होता है, जिससे उनका आगम होता है. कैसा है यह स्थितप्रज्ञ, गीताधर्म का आदर्श पुरुष, जो कुछ दिए जाने पर धन्यवाद नहीं कहता, साधु और वयोवृद्ध जनों का वाणी से भी अभिनन्दन करना जरूरी नहीं समझता. यह बात दीगर है कि वह तिरस्कृत किए जाने पर प्रतिवाद भी नहीं करता. इससे तो वे ईसाई अच्छे जो अपनी 'आज की रोटी' के लिए प्रतिदिन ईश्वर का धन्यवाद करते हैं.

मुसलमान भाई भी रहमतों के लिए प्रार्थना करते हैं और अपनी हर उपलब्धि के लिए ईश्वर के प्रति धन्यवाद का ज्ञापन करना जरूरी समझते हैं. पाकिस्तान की क्रिकेट टीम ने अपने भक्तिभाव के लिए खासा नाम कमाया है. जैसे ही मैंच जीते, झट से गिर पड़े घुटनों के बल, और मैदान में ही हजारों दर्शकों के देखते देखते, ईश्वर के प्रति धन्यवाद की प्रार्थना अदा कर दी. लेकिन वे ही खिलाड़ी हारने पर चुपचाप सिर झुकाए मैदान से वापस निकल आते हैं. सो ठीक ही है. आखिर धन्यवाद तो पाने पर ही किया जाता है, जब जीत हुई ही नहीं तो धन्यवाद किस बात का. जहां काम बने वहां अभिनन्दन, जहां काम नहीं बना वहां शिकायत — यह वाणी का प्राकृत व्यवहार है, जिसे अपरिपक्व धार्मिकता सीधे ईश्वर तक ले जाती है.

इंसान एक दुर्बल प्राणी है. वह अपनी जरूरतों का समाधान ईश्वर में खोजता है और उनके अनुसार ईश्वर के साथ सम्बन्ध बनाता है तो इसमें कुछ भी गलत नहीं है. लोग ईश्वर के साथ ठेठ व्यावसायिक रिश्ते बनाते है. कुछ लोग काम बनने पर मंदिर में प्रसाद चढ़ाने के वायदे करते हैं, तो दूसरे चादर चढ़ाने और कुर्बानी देने के वायदों के साथ मन्नतें मांगते हैं. ईश्वर के लिए इससे कोई अन्तर नहीं आता कि कौन उसके साथ कैसा सम्बन्ध बनाता है. वह हर इबादत को स्वीकारता है, हर पुकार को सुनता है. **लेकिन इतना तय है कि इस प्रकार की सशर्त इबादतों के जरिए हम खुद अपने लिए हदें बना लेते हैं, अपनी आस्था को दुनियांदारी के दायरों में बंदी बना लेते हैं, और इस प्रकार स्वयं ही अपने को जो करुणा का अनन्त सागर है, उससे दूर कर लेते हैं. स्थितप्रज्ञ का आदर्श इन आत्मनिर्मित स्वार्थानुबंधों के दायरे से बाहर निकल कर आस्था के सनातन आधारों की ओर उन्मुख होने का आवाहन है.**

रागात्मकता के सानुबंध अपलाप की भूमि है स्थितप्रज्ञ. साधना के द्वारा, सांख्य और योग के रूप में जिसकी चर्चा की जा चुकी है, इस अपलाप को मन, वाणी और आचरण के धरातलों पर क्रमशः पहचाना और निरूपित किया जा सकता है. मन और वाणी के धरातलों पर इसकी उपपत्ति दिखाने के बाद, कर्म में इसकी उपपत्ति के क्रम को दिखाते हैं.

कर्म में रागात्मकता का विस्तार अपनी चरम परिणति पर पहुंच कर, एक स्थूल, दृश्यनिबंध का आकार ग्रहण करता है. बंधन परम्परा का साकार विग्रह एवं चरम पर्याय होने से, कर्म की स्थिति इतनी महत्त्वपूर्ण है, कि सम्पूर्ण बंधन को उपलक्षणया कर्मबंधन कह दिया जाता है. कर्मबंधन की समस्याओं पर विचार करते हुए, उसके निराकरण के द्वारा स्थितप्रज्ञ की स्वरूपोपपत्ति आगे के श्लोकों की चर्चा का विषय है.

■ ■ ■

चतुर्थ एकक:

(आस्था की त्रिपुट्यात्मक-संरचना)

यदा संहरते चायं कूर्माङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।५८।।

विषया: विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।।५९।।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।।६०।।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।६१।।

जब यह अपनी इन्द्रियों को विषयों से उस प्रकार हटा लेता है जैसे कछुवा अपने अंगों को समेंट लेता है तब उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है (५८). निराहार देह के विषय निवृत्त हो जाते हैं, रस (आसक्ति) को छोड़कर. वह रस (आसक्ति) भी परं तत्त्व के साक्षात्कार के बाद निवृत्त हो जाता है (५९). हे अर्जुन! मेधावी पुरुष, जब वे इन्द्रिय संयम के लिए प्रयत्न कर ही रहे होते हैं, मथ डालने वाली इन्द्रियां उनके मन को हठात् हर ले जाती हैं (६०). उन सब का संयम करके, योग से युक्त, मुझमें परायण हुआ, जिसकी इन्द्रियां वश में हैं, उसी की प्रज्ञा प्रतिष्ठित है (६१).

१. **आत्मन्येवात्मना तुष्टः' इत्यात्मस्वातंत्र्यलक्षण-स्थितप्रज्ञभावस्य मनोवाक्पर्याययोः सिद्ध्यनन्तरं श्लोकचतुष्टये सूक्ष्मात्स्थूलक्रममनुसरन् कर्मणि तस्यैव सिद्धिः क्रियते सम्प्रति। एककस्य त्रयो विभागाः। विभागद्वयोः प्रस्तुतौ वर्तेते निरोधमूलकास्थापर्यायौ, इन्द्रिय-नैतिकनिरोधरूपौ (श्लो. ५८-६०)। निरूपणमपि कृतं वर्ततेऽत्र तयोः सीमितार्थवत्तायाः। (श्लो.५८-६०). तदालक्ष्य,**

तृतीयो विभागः(श्लो. ६१), प्रस्तौत्यास्थायाः त्रिपादीयमादर्शं यन्निरोधोपक्रमिता- स्थायाः योगे, योगस्य च समर्पणभावे उद्धारं कुर्वन्निपुणं सूत्रयति हिन्दू-आस्थादर्शं स्थितप्रज्ञपर्यायम् – *'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः, वशेहि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिते'* ति ।

अर्जुनस्य 'किमासीत', वृजेत किमि 'ति प्रश्नयोः क्रमशः स्थित्यात्मक- गत्यात्मक-व्यापारविषयत्वात्कर्मणः व्याख्येयैककः साधनायाः प्रथमसोपानत्वेन निरूपयति स्थित्यात्मकं व्यवहारं स्थितप्रज्ञस्य :

यदा संहरते चायं कूर्मोङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीद्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।५८।।

१.२. अस्थैर्यमूलानीन्द्रियाणि विषयानुबद्धबहिर्मुखताया निसर्गवृत्तित्वात्तेषाम्। अतो कर्मणि स्थितेः साधनायाः इन्द्रियनिरोधो हि प्रथमं सोपानं, प्रथमप्राप्तत्वात्। तदेव कच्छपवृत्त्या उदाहरन्ति – *यदा संहरते चायं कूर्मोङ्गानीव सर्वश'* इति। संहारपदो ह्यत्र संकोचपर्यायः।

१.३. कच्छपवृत्तेरुपमा हि स्थितप्रज्ञस्य स्थितेरविकलं निदर्शनम्। नास्ति स्थितिरकर्म । कर्मणः बहिर्मुखवृत्याः प्रयत्नपूर्वकनिरोधोऽपि कर्म एव। उपमायामन्तर्गर्भितो वर्तते साधनायाः सम्पूर्णविधिः। इन्द्रियाणामन्तर्मुखता, विषयसम्बन्धविच्छेदः, भोगानां परित्यागः, त्यागस्य च सीमितं स्वरूपं – निग्रहसाधनाया इमान्सर्वान्पक्षान्साकारं करोति कच्छपवृत्तिः।

१.४. निग्रहो हि कर्मेन्द्रियेषु स्थितप्रज्ञभावस्य साधनाया प्रारम्भिकं सोपानम्। प्रस्थान-भूतत्वादयमुपलक्षणं सम्पूर्णसाधनाया या इन्द्रियनिरोधं इन्द्रियजये रूपान्तरयति। शीलरूपेण निग्रहस्य समीक्षार्हता एवात्र साधनाया प्रस्थानहेतुः, अतो तदेवोपपादयन्ति *'विषया विनिवर्तन्त'* इत्यनुपदे श्लोके।

२. निग्रहस्य सीमित प्रायोजकतां निरूपयन् श्लोकोऽयमुद्घाटयति अग्रिमं साधनासोपानं साक्षात्कारात्मकं यत्र सम्पन्नतामाप्नोति निग्रहसमारम्भः। *'विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः'* इति निग्रहविषयस्याभिज्ञानम्। *'रसवर्जमि'* त्यविषयस्य।

२.१ निग्रहान्निवृत्तिर्भवति विषयाणां न तु विषयासक्तेः। तदेवात्र रसवर्जमिति पदेनोपचर्यते। 'रस' पदो ह्यत्रासक्तिपर्यायः। इयमासक्तिः स्वयमिन्द्रियाणां प्रवृत्तिहेतुत्वात्तेषां निग्रहकार्यस्याविषयः, इत्याशयः रसवर्जमिति व्यावर्तकपदस्य।

२.२. निग्रहाविषयाया आसक्तेः परमार्थस्य साक्षात्कारं विना न निवृत्तिः। साक्षात्कारात्मकेऽनुभवे निग्रहो याति सम्पूर्णतां, स्वयं चाप्रासंगिकतां गते सहजशीले रूपान्तरयति स्वात्मानम्।

२.३. भिन्नो हि व्यक्तित्वस्य तात्त्विकाधारो यत्रारोपितो वर्तते शरीरमन इन्द्रियसंघातः। संघातस्य मूले वर्तते परातृष्णाग्रन्थिः। सृष्टेरुद्भवनिमित्तत्वदानुषंगेनास्थिरताया अपि मूलमियम्। अस्थैर्य-मूलायाः शक्तेरुपायेनानुकूलतां विधाय, तस्याभ्यन्तरे तस्या एव साहाय्येन स्थिरभावस्य सिद्धिः क्रियते योगतन्त्रयोः साधनापद्धतिभ्याम्। वासनामूलकप्रपञ्चस्य परे यद्वर्तते, शून्यं, विज्ञानं, आत्मा, जीवो वा, तदेवास्त्यस्माकमसंसारी संदर्भः, यमालक्ष्योक्तं भवति – *रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तत इति* । अस्यासंसारिसंदर्भस्य साक्षात्कारमात्रं वासनाग्रन्थेर्व्यवहारमासक्ति-पर्यायमप्रभाविनं कर्तुमलम्। सांख्यस्य पद्धतिरियम्। अस्थैर्यमूलायाः शक्तेरानुकूल्यं साहाय्यं वा अयाचयन् परमार्थस्य साक्षात्कारात्मकेऽनुभवे तस्या निराकरणं कृत्वा अविचलभावे प्रविशन्ति सांख्याः।

२.४. सांख्ययोगयोः समन्वितादर्शः स्थितप्रज्ञः। 'स्थिता प्रज्ञा यस्य सः', 'प्रज्ञायां स्थितः यः सः' इति व्युत्पत्तिविकल्पेन लभ्येते साधनाद्वयलब्धविनिश्चयौ आदर्शस्य। प्रज्ञायाः (तत्त्वज्ञानस्य) स्वरूपाल्लभ्यते स्थितेः विमर्श इति सांख्याः। साधनाद्वारा प्रज्ञायां स्थितेः सिद्धिरिति योगः। *'प्रजहाति यदा कामान्सर्वन्पार्थ मनोगतान्' 'दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः', 'यदा संहरते चायं कूर्मोङ्गानीव सर्वशः'* सन्तीमानि क्रमिकसोपानानि यैः वासनायाः अस्थिरताकारास्तरणानां साधनया क्रमिकापलापेन रेखांकितो भवति स्थितेः साधनापन्थाः।

साधनेयं स्थितेः तात्त्विकाधारत्वेन परिकल्पते शाश्वतं चेतनपरमार्थं यस्य ज्ञानं हि एकमेवाद्वितीयं प्रतिष्ठानमास्थायाः। सांख्यस्येयमन्तर्दृष्टिरेव *'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते'* इति सूत्रे संगृहीता।

३.१ आचरणं नाम कर्मेन्द्रियाणां व्यवहारः। इन्द्रियनिरोधः कच्छपवृत्तिनिदर्शितो हि प्राथमिकोऽर्थो संयमस्य। शास्त्रैः,सर्वात्मभावस्य बौद्धिकविमर्शेन वा विध्यर्थे रूपान्तरितमयं गृहणाति धार्मिकं नैतिकं रूपम्। एवं सदाचारो हि यथोक्तप्रक्रियया इन्द्रियनिरोधस्यैव परिष्कृतं रूपम्। अपर्याप्तास्थापर्यायाणि नैतिक-धार्मिकानुशासनान्यपि, निरोधमूलत्वात्, इन्द्रियनिरोधवदयं ह्याशयः धर्मदर्शनदृशा महत्त्वपूर्णस्यानुपदश्लोकस्य – *'यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः, इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मन'* इत्यस्य ।

३.२ अत्र संदर्भितविपश्चिन्न केवलं अधीतशास्त्रः अपितु अधीतशास्त्रो यः आचरणे जीवितुं सततयत्नशीलः। एतादृशेषु सम्यग्ज्ञान-गभीरप्रयत्नसम्पदासम्पन्नेष्वपि, का कथा सामान्यजनस्य, संयमप्रयत्नानि नार्पयन्त्यपेक्षितं परिणामं, विधेरविषयत्वान्मनसोऽनुशासनस्य । अत उक्तं भवति *इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मन* इति।

३.३ तत्तद्धर्मेषु धर्माचरणस्य समुचितविश्लेषणेन दर्शयितुं शक्यते विपर्यस्तपरिणतयः निरपेक्षशास्त्रबुद्धेः।

३.४ 'हरन्ति प्रसभं मनः' इत्यस्यार्थो नास्ति केवलं मनसोऽपहरणमपितु मनस्साहाय्येन निरोधं वञ्चयित्वा इन्द्रियाणां बहिर्गमनम्। वर्तते परस्परोपकार्योपकारकसम्बन्धः मन-इन्द्रिययोर्मध्ये। वासनावासित्वादिन्द्रियै सह पलायनसमुत्सुकं मनः न केवलं पलायते अपितु अनुसंधानपूर्वकं दर्शयति चेन्द्रियेभ्यो पलायनपन्थानं संयमवंचनारूपम्।

३.५ न शंकनीयाऽत्र नैतिक-धार्मिकमर्यादानां वैयर्थ्यापत्तिः। अपर्याप्तः नैतिकनिरोधो न तु व्यर्थः। सदाचारनिष्ठोऽपि नास्ति हिन्दूधर्म आचारावधिकः। एतदालक्ष्य हिन्दुधर्मं अनैतिकतामाक्षिपन्ति पुस्तकपार्यन्तिकाः केचन। तदयुक्तं, विचारासहत्वात्। धर्मविधानानि न केवलं समीक्षां सततपुनराख्यानं चापेक्षन्ते अपूर्वकल्पितापतितेषु, अपितूद्धारस्य यांत्रिकीमप्यास्थान्तर्भूताम्। एतदर्थं हिन्दू-आस्था परिकल्पते सांख्ययोगौ। उद्धारयांत्रिकी विरहिता, विधिविजडितास्था धर्मरूपेण प्रचारयत्यप्रासंगिकतान्, अनेकविधमिथ्याचारान्, ईश्वरीयादेशरूपेण पर्यवेषयति घृणामुन्मादमसहिष्णुताञ्च निर्बाधम्। हिन्दूधर्मे नैतिकबोध आधारभूतं सोपानमास्थायाः व्यापक-प्रामाणिकार्थे प्रवेशस्य। कोऽयं व्यापकार्थ इति जिज्ञासामधिकृत्य प्रवर्ततेऽग्रिमः श्लोकः – *तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः, वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता* इति

४. विधिपार्यन्तिकधर्मणां दर्शयित्वा पर्याप्ततामयं श्लोकः रेखांकयति तेषां संग्रहोद्धारयोः पन्थाः व्यापके आस्थापरिकल्पे। स्थितप्रज्ञो हि आस्थायाः परमादर्शः। अस्य सिद्धिपूर्वकं धर्मसाधनायाः समग्रामिधानं सम्पद्यते त्रिषु चरणेषु। उद्धार्योद्धारकक्रमे नियोजितानीमानि क्रमशः *'तानि सर्वाणि संयम्य'*, *'युक्त आसीत'* तथा *'मत्परः'* इति श्लोकांशैः निपुणं सूत्रितानि। निरोधोपलक्षितसंयमो हि अस्य प्रथमं चरणं 'तानि सर्वाणि संयम्ये'ति वाक्यांशे संग्रहीतम्। द्वितीयं चरणन्तु योगः 'युक्त आसीते'त्यनेनोक्तम् । मनसो परमार्थे समर्पणं हि तृतीयं चरणं 'मत्परः' पदेन सूत्रितम्। इयं त्रिपुटी हि गीतादृशां आस्थायाः आदर्शपरिकल्पः।

४.१ निरोधद्वयौ ऐन्द्रिय-नैतिकौ हि समारम्भकल्पौ सर्वेषां धर्माणाम्। अपर्याप्ताविमौ संयम पर्यायौ उद्धाराय कल्पेते योगस्य साहाय्येन स्थितेः साधनाम्। योगो हि हिन्दू-आस्थाया अनन्यो घटकः। नायं केवलं शरीरव्याधेर्मनोव्याधेर्वा उपचारं यथा बहुशः प्रचारितमधुना। अस्य प्रमुखं प्रयोजनं तु धर्मव्याधीनामुपचारः। वैचारिकासहिष्णुता, घृणा इतरधर्मावलम्बिनां प्रति, आस्थाया एकाधिकारे, साम्राज्यलिप्सायामातंके च धर्मबुद्धिः – सन्तीमाः काश्चन धर्मव्याधयः अद्यतनीनधर्मपर्यायाणां पुस्तकपार्यन्तिकानां विशेषरूपेण, यासामुपचारः आस्थायामङ्गीकृतेन योगेन कर्तुं शक्यते, मनोवृत्तेः परिष्कारात्। एतदेवैदम्पर्यं '*तानि सर्वाणि संयम्य ... युक्त आसीते*'त्यावतः।

उपलब्धिभेदेन योगसाधनायाः द्वौ पक्षौ, अन्तःकरणशुद्धिः शुद्धान्तःकरणे परमार्थस्य साक्षात्कारः। एवं इन्द्रियनिरोधोपलक्षित-संयमस्य साधना, तस्या अपर्याप्तत्वाद्योगस्य प्रवृत्तिः, क्रमागताऽन्तःकरणस्य शुद्धिः परं तत्त्वस्य साक्षात्कारः साक्षात्कारात्मकानुभवादिन्द्रिय-प्रवृत्तिहेतुभूतासक्तेः क्षयः – इति प्राप्यते इन्द्रियाणां निरोधस्य इन्द्रियजये रूपान्तरणस्य साधनायाः क्रमः। अन्तिमे सोपानद्वये 'रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तत,' इत्यस्य, 'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीतेत्यस्य च संग्रहं कुर्वन्, विवरणोऽयं प्रस्तौति धर्मसाधनाया एकीकृतं परिकल्पम्।

४.२ आचारविधिपार्यन्तिकाः विश्वस्य प्रमुखाः धर्माः। हिन्दूधर्मोऽग्रे गत्वा योगस्य संग्रहं करोति आस्थायां संस्थागतस्योद्धारकत्वेन। किन्त्वयमपि न्यून एव आस्थायाः सम्पूर्णादर्शात्, अहंकारसंक्रमितत्वात्सर्वेषां मानवीयोपक्रमाणाम्। सांख्ययोगावपि नापवादौ। *मत्परः* पदं हि परमार्थे समर्पणपरम्। समर्पणं तु भवत्यत्र अहंकारस्य साधनाक्रमानुषांगिकावशिष्टस्य। समर्पणं हि उद्धारको योगस्य, यथा योगो हि उद्धारकः संयमविधेः। अनेन सम्पूर्णतां याति हिन्दू-आस्था त्रिपुटी, संयम-योग-समर्पणरूपा।

५. उक्तविवरणे मननयोग्यो हि *मत्परः* पदार्थः। द्वितीयेऽध्याये, वस्तुतः गीतायामयं प्रथमप्रयोग ईश्वरार्थे नियोजनयोग्यः। अतो भक्तिमार्गिणामीश्वरवादि-व्याख्यातॄणां परं तोषावहोऽयम् । अत्र प्रयुक्तास्मच्छब्दस्तु निःसंदेहं व्यक्तिवाची, किन्तु सम्पूर्णाध्यायसंदर्भः समर्थयन् प्रतीयते निर्वैयक्तिकं परमार्थे समर्पणपरं व्याख्यानं जिज्ञासितपदस्य। उचितमपीदं ईश्वरवाद्यनीश्वरवादि-सामान्य-व्यापकास्थापरिवेशमालक्ष्य हिन्दूधर्मस्य।

६. हिन्दू आस्थाया: सम्पूर्णो विस्तर: त्रिभि: चरणैरनुमापनपर: श्रीकृष्णस्य वाण्यामवतरित-भगवद्वामनस्याद्भुत्सूत्रविग्रहो हि विवेच्य श्लोकार्ध: *तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्पर:* इति। हिन्दूधर्मस्य लक्षणसूत्रमिदम्।

७. संयम-योग-समर्पणस्य त्रिपुटिरियं सहजं तुलनामाकर्षयति सुप्रसिद्धपैगम्बरवादि- धर्मत्रिपुट्या सह। 'ईश्वर:, तस्य संदेश:, तस्य संवाहकश्चेति पैगम्बरीया सामीधर्मपुटी आस्थायै कल्पते बहिरंगानुशासनं निरपवादम्। हिन्दूधर्मत्रिपुटिस्तु संग्रहो बाह्याभ्यान्तरा-नुशासनयो:। विशेषविचाराय द्रष्टव्यं भाषाविवरणम्।

एकक विमर्श :

पूर्व के श्लोकों में मन और वाणी के व्यक्तित्व-तलों पर स्थितप्रज्ञता की सिद्धि की गई. अब कर्म में इसकी सिद्धि के क्रम को बताते हैं. ४ श्लोकों के व्याख्येय एकक के तीन विभाग हैं. पहले विभाग में प्रथम दो श्लोक हैं(५८-५९). इसमें निग्रहमूलक साधना के — इन्द्रियनिरोध और नैतिकनिरोध — इन दो रूपों को दर्शाया गया है. दूसरे विभाग(श्लो. ६०)में निग्रह की अपर्याप्तता को दर्शाया गया है. तीसरा विभाग (श्लो.६१), पूर्वोक्त क्रमों का संग्रह करते हुए एक ऐसे समग्र परिकल्प को प्रस्तुत करता है, जिसे आस्था के सर्वोच्च आदर्श के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है.

इस प्रकार इन्द्रियनिरोध के प्राथमिक उपक्रम से प्रारम्भ हुई आस्था का योग में, योग का समर्पण-भाव में उद्धार करते हुए, धर्मत्रिपुटी में स्थितप्रज्ञ के आदर्श की स्थापना के साथ एकक का उपसंहार होता है : ***'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्पर:, वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता'.***

यह स्थल हिन्दू-आस्था की संरचना में, विशेष कर नैतिकता की हिन्दू-समझ में अन्तर्दृष्टि देता है. इसकी उपयोगिता तो आगे के व्याख्यान से ही स्पष्ट होगी. प्रकृत एकक में **स्थिति** (आस्था) की साधना के सोपानिक क्रम को बताया गया है, यह उचित होगा कि प्रत्येक श्लोक को क्रमानुसार विचार के लिए उठाया जाए.

१. *'यदा संहरते चायं ....'* :

निरोध के द्वारा स्थिति की साधना :

प्रकृत सन्दर्भ में कर्म का अर्थ है आचरण. यतः कर्म(आचरण) कर्मेन्द्रियों के द्वारा ही सम्पन्न होते हैं, इन्द्रियनिग्रह के प्राथमिक और लाक्षणिक दो अर्थ प्राप्त होते हैं. इद्रियों में निरोध कर्म इसका प्राथमिक अर्थ है, जब कि नैतिकनिरोध और सदाचार इसके लाक्षणिक अर्थ. दोनों मिल कर आस्था के निग्रहमूलकमूलक अर्थ का संग्रह करते है. सर्वप्रथम, निग्रह की साधना, अपने प्राथमिक, इन्द्रियनिरोध के अर्थ में —

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।

जब यह अपनी इन्द्रियों को विषयों से उस प्रकार हटा लेता है जैसे कछुवा अपने अंगों को समेंट लेता है तब उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है.

१.१. स्थितप्रज्ञ का स्थित्यात्मक व्यवहार :

कर्म के दो रूप हैं, स्थिति और गति. अर्जुन के दो प्रश्न **किमासीत** (कैसे बैठता है) और **व्रजेत किम्** (कैसे चलता है), क्रमशः कर्म के स्थित्यात्मक और गत्यात्मक पर्यायों में स्थितप्रज्ञ के आचरण को ले कर किए गए प्रश्न हैं. व्याख्येय श्लोक स्थितप्रज्ञ के स्थित्यात्मक व्यवहार का निर्वचन करता है. यह एक विशेष प्रकार का उद्यम है, जिसे विवेच्य श्लोक रूपक के द्वारा प्रस्तुत करता है. ***'स्थितप्रज्ञ कैसे बैठता है'***, इस प्रश्न का उत्तर है, ***'जैसे कछुवा अपनी इन्द्रियों को समेंट कर बैठता है'***.

१.२. कच्छपवृत्ति की उपमा : इसके निहितार्थ :

कछुवे की उपमा 'स्थितप्रज्ञ कैसे बैठता है', इसका शब्दशः निदर्शन है. बैठना अकर्म नहीं है. बहिर्मुखीवृत्ति का प्रयत्नपूर्वक निरोध भी कर्म की ही कोटि में आता है. कच्छपवृत्ति इसका निकट निदर्शन है लेकिन उपमा का अर्थ इतना ही नहीं है. इसमें अन्तर्गर्भित है, साधना की एक सम्पूर्णविधि, जो इसे एक केन्द्रीय रूपक की हैसियत देती है. इन्द्रियों की अन्तर्मुखता, विषयसम्बन्ध का विच्छेद, बहिर्मुखता का स्तम्भन, निरोध की सावधिक उपलब्धि — इन्द्रियसंयम की साधना

के ये सभी पक्ष कछुवे के व्यवहार में साकार होते हैं.

१.३. निग्रह (संयम) : साधना का प्रारम्भबिन्दु :

'स्थिति' के लिए किया गया प्रयत्न भी एक कर्म ही है. कछुवे का अपने अंगों को भीतर समेंटना, बाह्य स्पर्शों से सम्बन्ध विच्छेद कर लेना, ये कर्म के ही रूप हैं. यहां इन्द्रियों की अन्तर्मुखता, विषयभोगों से उनका हटना, निष्क्रिय हो जाना —यह उपक्रम, स्थितप्रज्ञ के स्थित्यात्मक व्यवहार और उसकी साधना दोनों को बताता है.

श्लोक का शब्दार्थ कुछ ऐसा है जो किसी भी विचारशील व्यक्ति को उलझन में डाल सकता है : ***"जैसे कछुवा अपने अंगों को सब ओर से समेट लेता है, वैसे ही जो अपनी इन्द्रियों को विषयों से हटा लेता है, उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है''***. यह सामान्य अनुभव की बात है कि जहां निरोध होता है, स्थिति की सिद्धि भी उसी स्थान में होती है. लेकिन यहां तो निरोध इन्द्रियों का हो रहा है, और स्थिति की सिद्धि प्रज्ञा में(स्थितप्रज्ञ)में हो रही है. स्पष्ट है, यहां इन्द्रियनिरोध के द्वारा स्थितप्रज्ञता की सम्पूर्ण साधना को परिकल्पित किया गया है, जिसका आरम्भबिन्दु होने से इन्द्रियनिरोध को स्थितप्रज्ञ के लक्षण रूप में प्रस्तुत किया गया है.

१.४. स्थिति की साधना :

निग्रह से इन्द्रियजय तक : इन्द्रियनिरोध, कर्मेन्द्रियों में स्थितप्रज्ञभाव की साधना का प्रारम्भिक सोपान है. इसे स्थितप्रज्ञ का लक्षण समझने की भूल नहीं की जानी चाहिए. प्रारम्भबिन्दु होने से यह उपलक्षण है, उस सम्पूर्ण साधना का जो इन्द्रियनिरोध को इन्द्रियजय में रूपान्तरित करती है. ***''यदा संहरते चायं ...."*** (श्लो.५८) यहां से ले कर ***'वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता'*** (श्लो.६१) यहां तक, इन्द्रियनिरोध से ले कर इन्द्रियजय तक के साधनापथ को रेखांकित किया गया है. स्थिति को सुनिश्चित करने में निरोध की अपर्याप्तता की चेतना ही यहां निमित्त बनती है.

प्रश्न यह है कि आध्यात्मिक मूल्य के रूप में निरोध की हैसियत क्या है? क्या विधि का अनुपालन स्वयं में एक सम्पूर्ण धर्म हो सकता है? अथवा प्रामाणिक आस्था की अवगति का एक सोपान. धर्मदर्शन की इस आधारभूत जिज्ञासा को सम्बोधित है अग्रिम श्लोक :

विषयाः विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परंदृष्ट्वा निवर्तते॥५९॥

निराहार देह के विषय निवृत्त हो जाते हैं, रस (आसक्ति) को छोड़कर. वह आसक्ति भी परं तत्त्व के साक्षात्कार के बाद निवृत्त हो जाती है.

२. श्लोक *'विषयाः विनिवर्तन्ते'...'* :

२.१. भावार्थ : *'विषयाः विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः'* यह वाक्य निरोध के स्वरूप और फल को बताता है. *'रसवर्जम्',* यह पद उस दायरे की पहचान करता है, जहां निरोघमूलक साधना की पहुंच नहीं है. यह दायरा आसक्ति (रस) का है. यह आसक्ति भी तत्त्व के साक्षात्कार से निवृत्त हो जाती है. *'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते'*, यह वाक्य उस आदर्श को उपस्थापित करता है, जो इन्द्रियनिरोध के साथ प्रारम्भ हुई साधना की मंज़िल है, आदर्श, जहां पहुंच कर इन्द्रियनिरोध सहज शील में रूपान्तरित हो जाता है. श्लोक का यह कथ्य, जहां आस्था में संयम (नैतिकता) के प्रामाणिक दायरे और भूमिका को रेखांकित करता है, वहीं आनुषंगिक रूप से हिन्दू मूल्यबोध के विशिष्ट स्वरूप को स्वरूप को भी उजागर करता है, जिसे ले कर बहुत सी गलतफहमियां प्रचारित हैं.

२.२. श्लोक की व्याख्या :

उक्त वाक्य में *'आहार'* शब्द का अर्थ है ग्रहीत, या ग्रहण करने के योग्य. इस अर्थ में विषयों का भोग आहार है, इन्द्रियों का और तन्मुखेन देहधारियों का. निरोध की साधना भोगों के त्याग की साधना है. भोगों का त्याग होने पर भोग्य पदार्थ अर्थात् विषय स्वतः अप्रासंगिक हो जाते है. यह भोग ही है जिसका आश्वासन विषय को मूल्यवान् बनाता है. विषय का मूल्यहीन होना, अप्रासंगिक होना ही उसकी निवृत्ति है.

किसी के पास अथाह दौलत हो और उसके भोग को प्रतिबंधित कर दिया जाए तो वह दौलत भी उसके लिए मिट्टी है. ऐसे लोगों के किस्से सुनने को मिलते हैं जिन्होंने अपने साहसिक उद्यम से बियाबान रेगिस्तान में सोने की खान खोज ली थी. लेकिन अथाह सम्पदा के बीच वे प्यास से तड़प तड़प कर मर गए. अथाह सोना उनके लिए एक बूंद पानी नहीं दे सका. ऐसे

लोगों ने मृत्यु की भयावहता के बीच अन्तिम क्षणों में '*विषयाः विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः* इस कथन के सत्य का दर्दनाक साक्षात्कार जरूर किया होगा. भोगमूल्य से रहित हुए विषय (आहृत हो या अनाहृत) अप्रासंगिक हो जाते हैं, पीछे छूट जाते हैं. यही अर्थ है '**विषयाः विनिवर्तन्ते**' का.

२.३. निग्रहमूलक साधना की सीमाएं : इन्द्रियनिरोध की साधना से विषयों की निवृत्ति होती है, विषयासक्ति की नहीं. इसी बात को '**रसवर्जं**' इस पद से कहा है. *'रस'* शब्द का यहां अर्थ है आसक्ति. यह आसक्ति मूलवासना का कार्य है, या यों कहें कि व्यवहार है. आसक्ति के बन्धनकारी व्यवहार को दर्शाने के लिए ही व्याख्येय प्रकरण में इसके लिए 'स्नेह' (यः सर्वत्रानभिस्नेहः) तथा 'रस' इन दो शब्दों का प्रयोग हुआ है. यह आसक्ति, स्वयं इन्द्रियों का प्रवृत्तिहेतु होने के कारण, उनमें होनेवाली निरोध की साधना का अविषय है. कोई भी कार्य अपने कारण का नियन्ता नहीं होता. कर्म भी इसका अपवाद नहीं है. इन्द्रियनिरोधरूप कर्म जिस प्रकार विषय की निवृत्ति करता है, उस प्रकार अपने आसक्तिमूल को विषय बना कर उसका निवारण कर सके, यह सामर्थ्य उसमें नहीं होती. यह उसके स्वरूप से बाधित है.

२.४. निरोध का साक्षात्कारात्मक प्रज्ञा में उद्धार : पानी से पानी नहीं धोया जाता. पानी की शुद्धि के लिए कुछ अन्य उपाय किए जाते हैं. इसी प्रकार, कर्म के मूल की निवृत्ति कर्म से नहीं होती, यही आशय है '**रसवर्जं**' इस निवर्तक पद का. इन्द्रियनिरोध की साधना, भोग और भोगविषयों की निवृत्ति तक जा कर ठहर जाती है. इससे आगे इसकी गति नहीं है. आगे जो आसक्ति का दायरा है, वह कर्म का नहीं ज्ञान का विषय है. आसक्ति की निवृत्ति कर्म से नहीं परं तत्त्व के साक्षत्कारात्मक ज्ञान से होती है. यह साक्षात्कारात्मक अनुभव इन्द्रियनिरोध से प्रारम्भ हुई साधना का उपान्त है. यहां पहुंच कर आसक्ति के क्षय से निर्बाध हुई इन्द्रियनिरोध की साधना, सहज शील में परिवर्तित हो जाती है.

कारण सामग्री का निराकरण हो जाने के बाद, जब कार्य ही असम्भव हो गया तो कार्य के निरोध के लिए प्रयत्न का कोई अर्थ नहीं रह जाता. बाढ़ से बचाव के लिए बांध बनाए जाते हैं. लेकिन यदि जल का स्रोत ही सूख जाय तो बांध बनाने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता. परं तत्त्व का साक्षात्कार इसी स्थिति की ओर संकेत करता है. ***रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते,*** इस **वाक्य में 'अपि' शब्द तारतम्य को बताता है. इन्द्रियनिरोध के अनन्तर तत्त्व का साक्षात्कार, तदनन्तर**

रस(आसक्ति) की निवृत्ति, और इस मूलोच्छेद के कारण अप्रासंगिक हुए इन्द्रियनिरोध का सहज शील में रूपान्तरण – यह एक सम्पूर्ण विवरण है स्थिति की साधना का.

३. विशेष विचार :

३.१. स्थिरता की साधना : योग और तंत्र की पद्धतियां : इन्द्रियों की अन्तर्मुखता की स्थिति में व्यक्ति का विषयों से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है, किन्तु भावरूपा होने से विषयासक्ति बनी रहती है, जो प्रज्ञा में स्थिति को अधिक समय तक टिकने नहीं देती. आसक्ति एक अत्यन्त अन्तरंग भाव है. मैं, मेरी खुशी, खुशी की मेरी चाहत (आसक्ति) इन्हें अलग करके देखना असम्भव नहीं, तो मुश्किल अवश्य है. इन्हें अपने से अलग करके देखना ही तत्त्वदर्शन है, व्यक्तित्व का तात्त्विक आधार उस प्रपंच से भिन्न है, जो अनेक सतहों में उस पर आरोपित है. स्थूल शरीर, मनोजगत्, उसकी कामनाएं, उनसे जुड़े सुखदुःखादि के अनुभव, साधन रूप शुभाशुभ मूल्यों का संग्रह — इस सम्पूर्ण प्रपंच के मूल रूप में परिकल्पित अहंकार — यह सूक्ष्म से स्थूल क्रम में गुम्फित एक बहुतलीय संरचना है, जिसे हम व्यक्तित्व नाम देते है.

इस संरचना के मूल में है एक परातृष्णा की ग्रन्थि. यह परातृष्णा, हमारे बहुतलीय व्यक्तित्व और उसके सांसारिक प्रपंच के विकास के मूल में विद्यमान आदि शक्ति है. यह सृजन और चाहतों का मूल होने के कारण अस्थिरता का भी मूल है. अस्थिरता को उसके मूल में ही घेर कर उपाय के द्वारा उसे अनुकूल बनाना, उसी की सहायता से स्थिरभाव की सिद्धि करना, यह योग और तन्त्र की पद्धति है.

३.२. वेदान्त की पद्धति : मूलवासना(शक्ति)और उसके प्रपंच से परे जो कुछ है, उसे शून्य नाम दें या आत्मा, या जीव, जो भी कहें वह हमारा असंसारी आध्यात्मिक सन्दर्भ है, जिसकी ओर संकेत करते हुए कहा गया है - ***रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्वते.*** इस असंसारी सन्दर्भ का साक्षात्कार मात्र वासनाग्रन्थि और उसके अस्थिरताकारक प्रपंच को अप्रभावी बनाने के लिए पर्याप्त है. यह सांख्य की पद्धति है (और वेदान्त की भी). इसमें अस्थैर्यमूल(शक्ति)के भीतर, उसी की सहायता से अविचलभाव की साधना करने के बजाय, परमतत्त्व के साक्षात्कार के द्वारा अविचलभाव की सिद्धि की जाती है. यह विकार के शक्तिमूल को उपाय से अनुकूल बनाने, उसे बहलाने फुसलाने के बजाय, उसके अतिक्रमण का मार्ग है

३.३. स्थितप्रज्ञ : सांख्य और योग दोनों का एकीकृत आदर्श :

स्थितप्रज्ञ का अर्थ है, '*जिसकी प्रज्ञा स्थित है*' या '*जो प्रज्ञा में स्थित है*', (स्थिता प्रज्ञा यस्य सः, प्रज्ञायां स्थितो यः सः). इसमें 'स्थिति' और 'प्रज्ञा' इन दो अर्थों का संग्रह है. इनकी परस्परोपकारक साधना के द्वारा स्थितप्रज्ञ के आदर्श की सिद्धि होती है. प्रज्ञा के स्वरूप से स्थिति की सिद्धि, यह सांख्य है. साधना (उपाय) के द्वारा प्रज्ञा में स्थिति की सिद्धि, यह योग है.

सर्व प्रथम प्रज्ञा में 'स्थिति' की साधना की चर्चा की गई. *'प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्'*, '*दुःखेष्वनुद्विग्नमना सुखेषु विगतस्पृहः*', और *'यदा संहरते चायं .... इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता'*, ये स्थिति की साधना के क्रमिक सोपान हैं. इनमें वासना की अस्थिरताकारक सतहों का साधना के द्वारा क्रमशः अपलाप करते हुए स्थिति की सिद्धि के पथ को रेखांकित किया गया है. योग का यह मार्ग उपाय है, उपाय होने से कर्म है. यतः कर्म प्रकृति के गत्यात्मक अवयव (रजोगुण) का कार्य है, इसके द्वारा स्थिति के एक व्यावहारिक कल्प की ही सिद्धि हो सकती है. इससे आगे इसकी गति नहीं है.

स्थिति की उक्त साधना अपने तात्त्विक आधार के रूप में, अपने से परे एक शाश्वत् चेतन परमार्थ को परिकल्पित करती है, जिसके साक्षात्कारात्मक ज्ञान के बिना अस्थिरताकारक उपादान की निवृत्ति नहीं होती. परमार्थ का ज्ञान ही आस्था का विश्वसनीय ठहराव है. सांख्य की इस अन्तदृष्टि को ही '*रसवर्ज्यं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते*', इस वाक्य में सूत्रबद्ध किया गया है.

ऊपर दिए विवरण से स्पष्ट है कि सांख्य और योग की साधनाओं के समन्वित आदर्श का निदर्शन है स्थितप्रज्ञ. स्मरण हो, गीता में सांख्य और योग की चर्चा के बीच शास्त्रबुद्धि की चर्चा हुई है. यह शास्त्रबुद्धि नैतिकनिरोध का ही एक रूप है. आचारमूल्य शुभाशुभ रूप में हों या पुण्यपाप रूप में, इन्द्रियनिरोधोपलक्षित संयम की साधना का ही विस्तार है, साथ ही विस्तार हैं उन सभी दुर्बलताओं और परिच्छित्तियोंका भी, जो इन्द्रियनिरोध की साधना के साथ जुड़ी हैं.

४. श्लोक '*यततो ह्यपि कौन्तेय....*'

'स्थिति' की साधना में नैतिक-निग्रह की अपर्याप्तता :

इन्द्रियनिरोध की भांति, निरोध के नैतिक और धर्मशास्त्रीय रूप भी स्थितप्रज्ञभाव में स्थिति को सुनिश्चित करने के लिए पर्याप्त नहीं है. निरोधक अनुशासन के उच्चतरविधानों की समीक्षा

अनुपद श्लोक का विषय है :.

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।।६१।।

हे अर्जुन! जो विद्वान् हैं, संयम के लिए जब वे प्रयत्न कर रहे होते हैं, उनके मन को अभिभूत करने वाली इन्द्रियां हठात् हर ले जाती हैं.

४.१. निरोध के उच्चतर पर्याय : नैतिक और धर्मशास्त्रीय :

उनकी अपर्याप्तता : शास्त्रविधि या सर्वात्मभाव के बौद्धिकविमर्श के द्वारा आचरण का नियमन नैतिकनिरोध का रूप लेता है. यह इन्द्रियनिरोध का अधिक परिष्कृत रूप है और इसलिए ध्यान देने योग्य है, क्योंकि यह शास्त्रनिष्ठ आस्था का मौलिक तत्त्व है. *'यह करो यह न करो'* ऐसा शास्त्रविधान और तदनुसार आचरण ही लोक में तत्तद् धर्मों को उनकी पहचान देता है. गीता की दृष्टि यह है कि इन्द्रियनिरोध की भांति, नैतिकनिरोध भी एक हद तक ही आस्था में स्थिति का संरक्षक हो सकता है. 'स्थिति' के परमार्थ को वह भी नहीं छूता. आस्था के विधिनिषेधमूलक, पुस्तकनिबद्ध विग्रह की सीमित प्रायोजकता को रेखांकित करने वाला यह श्लोक धर्मदर्शन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है.

४.२. श्लोक की व्याख्या :

विपश्चित् शब्द का अर्थ है विद्वान्. एक ऐसा व्यक्ति जो शास्त्रों की व्यवस्था को अच्छी तरह समझता है. जिस विद्वान् की बात यहां हो रही है, वह केवल शास्त्रों का ज्ञाता नहीं है अपितु आचरण में शास्त्रविधान को जीने के लिए सतत प्रयत्नशील है : ***यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः.*** सामान्य जन की तो बात क्या, ऐसे व्यक्तियों में भी जो सम्यक् ज्ञान और अध्यवसाय की सम्पदा से सम्पन्न है, संयम के प्रयत्न अपेक्षित परिणाम नहीं देते. जिस समय संयम का प्रयत्न चल रहा होता है, इन्द्रियां हठात् उसके मन को बहा ले जाती हैं, और प्रयत्न नैतिक-धार्मिक मूल्य में रूपान्तरित होने से पहले ही, अनपेक्षित दिशाओं में भटक कर उपक्षीण हो जाता है. भटकाव को रोकने के लिए जितनी कठोर व्यवस्थाओं का सहारा लिया जाता है, मन भटकाव के उतने ही और उससे भी अधिक नए रास्ते तलाश लेता है, कारण कि विधान, मन का नहीं केवल आचरण का नियमन करता है. ***विधि की दुर्बलता, उसके अनुशासन का अनुपसंहारी स्वरूप ही आस्था के साधनाकल्प के अनुसंधान का सैद्धान्तिक औचित्य है.***

विपश्चित् शब्द परोक्षज्ञान से सम्पन्न व्यक्ति को बताता है. ***यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः*** यह वाक्य एक ऐसे व्यक्ति को परिकल्पित करता है, जो शास्त्रों के विधान के अनुसार आचरण करने का प्रयत्न कर रहा है. शास्त्रविधान भावना को जन्म देते हैं. भावना 'यह करो, यह न करो' इस रूप में नैतिक निरोध का आकार लेती है. संयम का यह विधिलब्ध रूप, परोक्षनिष्ठ अतः संदेह-संक्रमित होने से, न तो टिकाऊ होता है और न ही विश्वसनीय, क्योंकि बिना मन का परिष्कार किए, यह केवल आचरण के परिष्कार को उद्देश्य बना कर प्रवृत्त होता है. **धर्मविधानों का अनुपालन किस प्रकार होता है, इस बात का अध्ययन किया जाए तो इस सूत्र का रहस्य कि विहिताचार के प्रयत्नों को धता बता कर, कैसे इन्द्रियां मन को हठात् हर ले जाती है', अनायास खुल कर सामने आ जाता है.**

४.३. इन्द्रियों द्वारा मन का अपहरण : सोदाहरण विवरण : संयम की साधना के लिए विभिन्न धर्मों में उपवास का विधान है. उपवास का समापन होने पर लोग भोजन पर इस तरह टूट कर पड़ते हैं जैसे उन्होंने कोई उपवास किया ही न हो. ऐसे भी हैं जो दिन भर कठोर उपवास करते हैं, एक बूंद पानी भी नहीं पीते. लेकिन रात की कोई बंदिश नहीं. इनकी खिदमत के लिए रात देर तक लजीज़ खाने की दुकानें खुली रहती हैं, जहां ईमानवाले, इससे पहले कि सुबह हो, पिछले दिन और आने वाले दिन की सारी कसर रात में ही निकाल लेने की कोशिश में जुटे रहते हैं.

जहां दिन रात की कोई पाबंदी नहीं, वहां तो उपवास एक अहर्निश भोजनोत्सव ही होता है. इसका मतलब यह नहीं कि सभी उपवास करने वाले ऐसे होते हैं. कुछ लोगों में उपवास संयम का उदाहरण होता है. वहां केवल इन्द्रियनिरोध नहीं होता, मन की साधना भी होती है. विकृतियां तब आती हैं जब आहार-निरोध केवल विधान के अनुपालन के लिए किया जाता है. मन की साधना से असंबद्ध, अनुपकृत, आचारनिरोध धीरे-धीरे अप्रत्याशित विकृतियों से ग्रस्त होता चला जाता है, कारण कि आचरण से अनन्त गुना सूक्ष्म, अनन्त गुना अधिक होती है मन की गति. निरुद्ध की गई इन्द्रियां अनियंत्रित मन से जुड़ जाती हैं. यह मन है जो निरुद्ध हुई इन्द्रियों के लिए, निरोध के बीच, तृप्ति के नए रास्ते तलाश कर देता हैं. बिना शिकायत का मौका दिए, निरोध का पालन करते हुए, इन्द्रियां मन की सहायता से तृप्ति की नई राहों पर चल पड़ती हैं.

तत्तद् धर्मविधानों पर आधारित, मानव के धर्माचरण का अध्ययन किया जाए तो उनमें एक अद्भुद् साम्य नजर आता है. वे सब इन्द्रियसंयम के आधे अधूरे प्रयोग हैं; ऐसे प्रयोग, जिनमें निरोध प्रतीयमान है, और भोग वास्तविक. विधिमूलक धर्माचरण में निरोध और भोग दोनों न सिर्फ एक साथ चलते है, अपितु पारस्परिक वंचना के द्वारा एक दूसरे के पूरक हैं.

हरन्ति प्रसभं मनः' का अर्थ मन को ले भागना नहीं, मन की सहायता से निकल भागना है : मन और इन्द्रियां के बीच दोहरा उपकार्य-उपकारक भाव है. हरन्ति प्रसभं मनः यह वाक्य इसी की ओर संकेत करता है. इन्द्रियां मन को हठात् इसलिए हर ले जाती हैं, क्योंकि मन पहले से ही वासनावासित होता है. वह इन्द्रियों के हलके से इशारे पर उनके साथ निकल भागने को तैयार रहता है. लेकिन मन इन्द्रियों के साथ सिर्फ भागता ही नहीं, निरोधतंत्र को बिना तोडे, उससे निकल भागने की रांह भी इन्द्रियों को मन ही दिखाता है.

अतः '*हरन्ति प्रसभं मनः*' का अर्थ मन को ले भागना नहीं, मन की सहायता से निकल भागना है, क्योंकि शास्त्रविधि का अनुपालन करते हुए, उनके बीच से इन्द्रियों के लिए तृप्ति की निरापद राह का अनुसंधान तो मन ही करता है.

शब को मय पी, सुबह को तौबा कर ली।
रिन्द के रिन्द रहे, हाथ से ज़न्नत न गई ।।

४.५. नैतिकनिरोध सिर्फ अपर्याप्त है, व्यर्थ नहीं :

ऊपर दिए विवरण से यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि नैतिक-निरोध व्यर्थ है. नैतिकनिरोध का संग्रह जब तक साधना में नहीं होता, तब तक वह अनुपसंहारी रहता है; यह नैतिकता के बारे में हिन्दूदृष्टि है. संयम के संहिताबद्ध-प्रतीयमान में कठोरतापूर्वक अपने को ढाल कर कृतकृत्य हुआ तपस्वी निश्चिन्त होते ही बिखर जाता है. हिन्दू पुरागाथाएं ऐसे तपस्वियों के पतन के कथानकों से भरी पड़ी हैं.

कतिपय ठेठ पुस्तकपंथी धर्म, जो नैतिक-निरोध को धर्म का परमार्थ मानते हैं, हिन्दूधर्म पर अनैतिकता का आक्षेप लगाते हैं. ये बहुत से अर्धसत्यों में से एक है, जो ऐकान्तिक पुस्तकपंथों की आदत में आते हैं. इन्हें हमदर्दी के साथ समझा जाना चाहिए.

हिन्दूधर्म नैतिक-निरोध को अस्वीकार नहीं करता; वह उसके लिए धर्म का प्राथमिक अर्थ है, उसका परमार्थ नहीं. साधना में संग्रह के द्वारा ही वह एक आश्वस्त करने वाले, उद्धार करने वाले चारित्रिक शील का रूप लेता है. यह कहना अयुक्तिसंगत होगा कि हिन्दूधर्म नैतिकबोध से रहित है, किन्तु यह भी सच है कि हिन्दूधर्म नैतिक-निरोध को धर्म का परमार्थ नहीं मानता. वह उसे केवल प्रारम्भबिन्दु मानता है, आस्था का शैशवकाल, आस्था के परिपक्व प्रामाणिक स्वरूप में प्रवेश का सोपान मात्र. इस दृष्टि से हिन्दूधर्म को अनैतिक नहीं परा-नैतिक धर्म कहा जाना चाहिए.

५. श्लोक *"तानि सर्वाणि संयम्य..."* :

नैतिकनिरोध से ले कर, क्रमशः योग और समर्पणबुद्धि में समग्रता को प्राप्त करती आस्था के विकास के क्रम का निपुण निदर्शन है नीचे दिया श्लोक :

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियांणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।६१।।

उनका संयम करके, योग से युक्त, मुझमें परायण हुआ, जिसकी इन्द्रियां वश में है, उसी की प्रज्ञा प्रतिष्ठित है

५.१. धर्मदर्शन की दृष्टि से श्लोक का महत्त्व :

गीता के प्रथम दो अध्याय साम्प्रदायिक सिद्धान्तकारों के लिए बहुत कठिन जमीन साबित हुए हैं. पहला अध्याय आस्था के विकास के ऐतिहासिक संदर्भ को रेखांकित करता है, जो सम्प्रदाय निष्ठा के लिए अप्रासंगिक है.

सांख्य का आत्मतत्त्व चिन्तन, कम से कम वह सामग्री तो उपलब्ध करा देता है, जिसे पूर्वकल्पित विचार यात्रिकी की सहायता से, सहज अद्वैत वेदान्त में रूपान्तरित किया जा सकता है. परवर्ती भाष्यकारों के अधिक महत्त्वाकांक्षी, अधिक घनीभूत, साकार साम्प्रदायिक विग्रहों के लिए, दूसरे अध्याय का निराकार विस्तार उतना सम्बल भी नहीं देता. इस परिपेक्ष्य में सन्दर्भित श्लोक महत्त्वपूर्ण अपवाद है. **दूसरे अध्याय का यह अकेला श्लोक है जो मत्परः पद के सारगर्भित प्रयोग के द्वारा, ईश्वरवादी तथा वैष्णव व्याख्याकारों को पैर रखने भर की जगह देता है, उस सामग्री से उपकृत करता है, जिसकी उन्हें तलाश है.**

५.२. धर्म-त्रिपुटी की परिकल्पना :

स्थितप्रज्ञ आस्था का परमादर्श है. इस आदर्श की सिद्धि के तीन चरण हैं, जो आदर्श का समग्र अभिधान भी हैं. प्रकृत श्लोक में इन्हें क्रमशः ***'तानि सर्वाणि संयम्य'***, इस वाक्यांश से, तथा ***'युक्तः'*** और ***'मत्परः'*** इन पदों के द्वारा रेखांकित किया गया है. निरोधमूलक साधना इसका प्रथम चरण है, जिसे *'तानि सर्वाणि संयम्य',* इस वाक्यांश में संग्रहीत किया गया है. दूसरा चरण है योग से युक्त होना. इसे 'युक्त' पद से कहा गया है. तीसरा सोपान है मन का परमार्थ में समर्पण, जिसे 'मत्परः' पद से कहा गया है यह त्रिपुटी गीता की दृष्टि में आस्था का आदर्श परिकल्प है.

५.३. निरोधमूलक-धर्म (पुस्तकपंथ) के उद्धार में योग की भूमिका :

इन्द्रियनिरोध और नैतिकनिरोध, इन दो रूपों में विहिताचार आस्था की प्रारम्भिक अवस्था है. इस तथ्य को रेखांकित करता है, ***'तानि सर्वाणि संयम्य'*** यह वाक्यांश. यतः इन्द्रियनिरोध, तदुपलक्षित आचारविधि आस्था का पूर्णतया विश्वसनीय आधार नहीं हो सकता, योग की सहायता से आस्था में 'स्थिति' को सुनिश्चित करना, आस्था के विकास का दूसरा सोपान है. योग, वासना का क्षय करते हुए, अन्तःकरण की शुद्धि करता है. शुद्धान्तःकरण से सम्पन्न व्यक्ति धर्मविधान को उसके सही रूप में देखने समझने में समर्थ होता है. इस दृष्टि से योग, धर्मविधि का व्यापक चेतना में उद्धार करता है, अपलाप नहीं.

ईसाई और इस्लाम जैसे पुस्तकपंथ, अपनी ऐकान्तिक पुस्तकीय प्रतिबद्धताओं के कारण आज अपने ही लिए नहीं, सारे संसार के लिए सिरदर्द बन चुके हैं. कारण स्पष्ट है. इन्होंने, शास्त्रों के समनन्तर, योग जैसी किसी साधना का विकास नहीं किया, जो शास्त्रबुद्धि का व्यापक धर्मचेतना में उद्धार कर सके. वैसे ईसाइयों में गुह्योपासकों (mystics), और इस्लाम में सूफी साधकों की परम्परा मिलती है. योग की बढ़ती लोकप्रियता को देखते हुए, इन्हें अब योग साधकों के रूप में निरूपित किया जाता है. इसमें संदेह नहीं कि इन्होंने साधना के द्वारा ने व्यापक धर्मचेतना में अपनी संहिताबद्ध आस्था का उद्धार करने के प्रयास किए. इस अर्थ में इन्हें योग के साधक कहा भी जा सकता है. किन्तु इस्लाम और ईसाई धर्मों ने आस्था में योग की इस भूमिका को कभी मान्यता नहीं दी. गुह्यसाधकों और सूफियों की साधना ईमानवालों के लिए पाप थी, कुफ्र थी, और इसके लिए इन साधकों को भयावह यंत्रणाएं झेलनी पड़ीं.

योग केवल शरीर का व्यायाम नहीं है, जैसा कि आम तौर पर समझा जाता है. यह शरीर की बीमारियों का नहीं, मन की बीमारियों का भी इलाज है. लेकिन इसका मुख्य प्रयोजन तो आस्था की बीमारियों का इलाज है. वैचारिक असहिष्णुता, अन्यधर्मावलंबियों के प्रति घृणा, आतंक और आत्मप्रसार में धर्मबुद्धि, ये आस्था की बीमारियां हैं, जिनसे ग्रस्त हैं संसार के प्रमुख धर्म. योग इनका उद्धारक हो सकता है : *स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्.*

शास्त्र केवल आचरण का नियमन कर सकते हैं, मन का नहीं. मन का संयम विधान से नहीं योग से सिद्ध होता है. अतः हिन्दूधर्म, इन्द्रियसंयमोपलक्षित- आचारपरायण धर्म या धर्मो के उद्धारक रूप में योग की भूमिका को मान्यता देता है. यही निहितार्थ है, '***तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत***', यहां तक के वाक्यांश का.

५.४. इन्द्रियनिग्रह से इन्द्रियजय तक की साधना का क्रम :

उपलब्धि के भेद से, योग की साधना के दो पक्ष सामने आते हैं, एक है अन्तःकारण की शुद्धि और दूसरा, शुद्धान्तःकरण में परं तत्त्व का साक्षात्कार. इस प्रकार इन्द्रियनिरोध से समारम्भ, उसकी अपर्याप्तता की चेतना से योग की प्रवृत्ति, योग के द्वारा द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि, शुद्ध हुए अन्तःकरण में परमतत्त्व का साक्षात्कार, साक्षात्कारात्मक अनुभव से इन्द्रियों की विषयोन्मुख प्रवृत्ति में हेतुभूत-आसक्ति का क्षय — यह पांच चरणों में निबद्ध, इन्द्रियनिग्रह से इन्द्रियजय की साधना का क्रम बनता है.

इस साधना के प्रथम तीन सोपान ***'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत'***, इस सूत्र से प्राप्त होते हैं जब कि अन्तिम दो सोपान, ***'रसवर्ज्यं रसोऽप्यस्य दृष्ट्वा निवर्तते'***, इस पूर्वसूत्र से प्राप्त होते हैं. इस सूत्र के 'रस' पद का अर्थ है आसक्ति. यह आसक्ति अनादि वासना का प्रथम विकार है, शक्ति का प्राथमिक स्फुरण जो इन्द्रियों को विषयोन्मुख बनाता है, उन्हें मन को बहा ले जाने की, उसे अस्थिर करने की सामर्थ्य देती है. परमार्थ के साक्षात्कारात्मक अनुभव के बाद, जिनके आसक्तिमूल का क्षरण हो चुका है, उनकी इन्द्रियों में मन को अस्थिर करने की सामर्थ्य नहीं रह जाती. इसीलिए कहा है : ***वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता.***

यहां इन्द्रियों को वश में करने का अर्थ केवल निरोध या नियमन नहीं है. इसमें एक लम्बी साधना पूर्वकल्पित है, जो इन्द्रियनिरोध को निवृत्ति में, उपक्रम को विजय में, संयम के प्राथमिक

अभ्यास को शील में रूपान्तरित करती है.

५.५. *'मत्परः'* पद के निहितार्थ :

अधिकांश धर्म आचारविधि को ही धर्म का परमार्थ मान कर कृतकृत्य हो जाते हैं. हिन्दूधर्म उससे आगे जाकर आस्था में योग का संग्रह करता है. किन्तु आस्था का सम्पूर्ण आदर्श यह भी नहीं हो सकता, क्योंकि यह उस अहंकार से संक्रमित है, जिसे हर मानवीय उपक्रम अपने साथ ले कर आता है. संयम और योग की साधनाएं इसका अपवाद नहीं हैं. मत्परः पद परमार्थ में समर्पण को बताता है. यहां समर्पण होता है साधक होने के अहंकार का, जो साधना के क्रम में साधक के भीतर एकत्रित होता जाता है. इस प्रकार ***संयम, योग*** और (परमार्थ में) ***समर्पण*** की त्रिपुटी हिन्दुओं के लिए आस्था का सम्पूर्ण आदर्श है.

५.६. इस पद की ईश्वरार्थक व्याख्या की योग्यता :

उक्त विवरण में **'मत्परः'** का अर्थ है, ***'मेरे परायण'***, ***'मुझ में समर्पित'***, यह पदार्थ अनेक दृष्टियों से मनन के योग्य है. दूसरे अध्याय में, या यों कहें कि गीता में, यह पहला प्रयोग है जिसे ईश्वर के अर्थ में निरूपित किया जा सकता है. यह बात गीता के ईश्वरवादी व्याख्याताओं के लिए, उनमें भी जो भक्तिमार्गी हैं, उनके लिए तसल्ली देने वाली बात है. गीता किसी को निराश नहीं करती. उसके अंचल की छांह सब के लिए है. 'मत्परः' शब्द ऐसा है जिसे ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी अपने अपने ढंग से परिभाषित कर सकते हैं. इसमें प्रयुक्त 'अस्मत्' शब्द व्यक्तिवाची है, या तत्त्ववाची, यह गंभीर गवेषण का विषय है. वाच्यार्थ निःसंदेह व्यक्तिवाची है, किन्तु निकट का सन्दर्भ *'रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते'*, इस पक्ष में जाता है कि 'मत्परः' को 'परमार्थ में समर्पित', यह अर्थ दिया जाए.

योगशास्त्र में ईश्वरप्रणिधान को योग की साधना का ही अंग माना गया है. अतः यह कहा जा सकता है कि *मत्परः* पद युक्त के अर्थ का ही विश्लेषण है, और कोई नई बात नहीं कहता. लेकिन यह व्याख्या स्वीकार के योग्य नहीं है, क्योंकि सन्दर्भ योग का नहीं, धर्मदर्शन का है. समर्पणभाव धर्म का मूलतत्त्व है. इसका संग्रह आस्था की संरचना में इसके केन्द्रीय महत्त्व को रेखांकित करता है.

६. हिन्दूधर्म का लक्षणसूत्र :

***'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः'* : हिन्दू-आस्था के सम्पूर्ण विस्तार को तीन चरणों में नाप लेने वाला, भगवान् कृष्ण की वाणी में अवतरित वामन भगवान् का अद्भुत् सूत्रविग्रह है, गीता का यह वाक्य *'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः*. संयम, योग और समर्पण की यह त्रिपुटी हिन्दू के लिए आस्था का सम्पूर्ण आदर्श है, और आचारशास्त्र से आगे जा कर साधना और समर्पण के तत्त्वों का संग्रह करने के कारण हिन्दूधर्म का अविकल लक्षण भी**. लक्षण इसलिए क्योंकि अधिकांश धर्म शास्त्रानुपालन को ही धर्म का परमार्थ मानते हैं. यह हिन्दूधर्म ही है जो आस्था की विधिमूलक जड़ता के योग में उद्धार और फिर उद्धारक होने के दम्भ का परमात्मभाव में समर्पण — इस सम्पूर्ण प्रक्रिया को स्वीकार करता है. समर्पण के इस आत्यन्तिक आदर्श में अन्तिम आहुति तो आस्था के समस्त साधनों की, समस्त मध्यस्थ परम्परा की होती है.

समर्पण का यह आत्यन्तिक आदर्श ही हिन्दू आस्था का परमार्थ है. किताब और पैगम्बर को आखिरी सत्य मानने वाले त्याग के ऐसे किसी आदर्श को स्वीकार नहीं कर सकते जो इन आलम्बनों की भी कुर्बानी मांगता हो. अतः स्वरूपोपपादक और इतर व्यावर्तक होने से ***तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः*** यह सूत्र हिन्दूधर्म का अनवद्यलक्षण सिद्ध होता है. हिन्दुओं में जो ईश्वर को नहीं मानते वे भी गुरुजनों के प्रति, अपनी अर्हत और सिद्धजनों की परम्परा के प्रति समर्पण की बात को स्वीकार करते हैं. इस प्रकार यह सूत्र हिन्दूधर्म का सर्वसम्प्रदाय-सामान्य लक्षण है. इतिहास-भूगोल की विवशताओं से मुक्त, उसका स्वरूप लक्षण.

६.१. हिन्दूधर्म को ले कर लक्षणचिन्तन : यह लक्षण सूत्र गीता के धर्मचिन्तन की सहज उपलब्धि है. लेकिन जैसा कि होता आया है, सहज किसी का ध्यान आकर्षित नहीं करता, और जो असहज है वह अपनी अपनी उछलकूद से सब का ध्यान आकर्षित करता है लेकिन आश्वस्त नहीं करता. गीता की उपलब्धि उसके स्वरूपनिष्ठ चिन्तन का परिणाम है जब कि आधुनिक हिन्दूधर्म चिन्तन, एकांगी प्रतिमानों से विभ्रमित, इतिहास और भूगोल के संयोगों में हिन्दूधर्म को तलाशता है.

आधुनिक हिन्दूधर्मचिन्तन की दो दुर्बलताएं सुव्यक्त हैं. यह ईसाई-इस्लामादि धर्मों के एक-आयामी मांडल को सामने रख कर हिन्दूधर्म की एक आयामी पहचान को निर्धारित करने

का प्रयास करती है, जो हिन्दूधर्म में है ही नहीं. ऐसी पहचान जब नहीं मिलती तो वे या ता इसके स्वरूप को ही नकारते हैं या फिर हिन्दूधर्म को एक अपरिभाष्य पहेली मान कर उसकी उलझनों में डूबते उतराते रहते हैं. यह दुर्बलता का एक रूप है जिसकी परिणतियों का यथाक्रम निदर्शन हमें स्वामी दयानन्द और डा. अम्बेडकर के चिन्तन में देखने को मिलता है. इसका दूसरा रूप उन विचारधाराओं में देखने को मिलता है जो भूगोल और इतिहास के संयोगों में हिन्दूधर्म के लक्षण को निर्धारित करने का प्रयास करते हैं. वीर सावरकार और आर. एस. एस. का चिन्तन इसका सहज निदर्शन है. आर. एस. एस. के बौद्धिक तो यह कहते नहीं थकते कि 'हिन्दूधर्म एक धर्म नहीं यह तो संस्कृति है'.

.६.२. गीता चिन्तन का वैशिष्ट्य : इतिहास-भूगोल के संयोगों पर आधारित धर्म चिन्तन समय की मांग है और इस मायने में इसकी व्यावहारिक उपयोगिता से इन्कार नहीं किया जा सकता. लेकिन निर्णायिक लक्षण स्वरूप संयोगों के विवेचन से नहीं स्वरूप की समझ से प्राप्त होता है. गीता का धर्मचिन्तन हिन्दूधर्म के स्वरूप में, उसकी द्वन्द्वात्मक-संरचना में अन्तर्दृष्टि पर आधारित है, जो संयोगों के अतिक्रमण के द्वारा आस्था के सार्वभौमिक परमार्थ की सिद्धि करती है. गीता का सूत्र *'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः'* हिन्दूधर्म का स्वरूपनिष्ठ लक्षण ही नहीं है, द्वन्द्वात्मक संरचना और साधना के द्वारा हिन्दूभाव की सिद्धि के क्रम का निपुण विवरण भी है.

७. लक्षणसूत्र में परिकल्पित धर्मत्रिपुटी :

पैगम्बरवादी धर्मत्रिपुटी से इसकी विलक्षणता : *संयम-योग- समर्पण* की यह त्रिपुटी, सहज ही पैगम्बरवादी धर्मत्रिपुटी के साथ तुलना को आकर्षित करती है. पैगम्बरवादी धर्मों का मूल परिकल्प है, ईश्वर- संदेशवाहक (पैगम्बर) - अवतरित संदेश (किताब) की त्रिपुटी. इस त्रिपुटी का प्रत्येक अवयव बाह्य है, आयातित है; समन्वित होकर वे एक बहिरंग अनुशासन का रूप लेते हैं. हिन्दू-आस्था की, जहां तक प्राथमिक कक्षा की बात है, वह आचारप्रधान है. उसमें विधिनिषेधरूप शास्त्रविधान के रूप में बहिरंग अनुशासन की प्रतिष्ठा कुछ उसी तरह है जैसी पैगम्बरवादी धर्मों में है. किन्तु योग के द्वारा व्यवस्थामूलक धर्म का उद्धार और समर्पण के क्रम विशुद्ध आभ्यन्तर साधनाएं हैं. इनका सम्बन्ध मन से है, और मन का अनुशासन विधान का नहीं साधना का विषय होता है. यह मूल अन्तर है इन दो आस्था-त्रिपुटियों में.

पैगम्बरवादी धर्मों का आदि और अन्त है आचारविधि. हिन्दू आस्था केवल आचारविधान देकर सन्तुष्ट नहीं हो जाती. वह उस सम्पूर्ण आभ्यन्तर उपस्कर के परिष्कार की ओर उन्मुख होती है जो आचारविधान के स्रोत को साक्षात् उपस्थित कर देने की सामर्थ्य रखता है; जिसकी साधना, आयातित, उधार मांगे, परप्रमाणित मार्गदर्शन को बहुत हद तक अप्रासंगिक बना देती है.

उपसंहार, अनुपद व्याख्येय के साथ संगति :

ऊपर कह आए हैं, 'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः'. यह इन्द्रियों द्वारा मन का अपहरण क्या है? कैसे इन्द्रियां मन को हठात् ले भागती हैं, ये प्रश्न निकट विवेचना की अपेक्षा रखते हैं. *'ध्यायते विषयान्पुंसः...'* इस श्लोक से प्रारम्भ होते आगामी एकक में इस गुत्थी पर विचार करेंगे.

■ ■ ■

पञ्चम एकक:

(व्यक्तित्व के अपक्रम का मनोविज्ञान)

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजाते।
सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते।।६२।।

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति।।६३।।

(विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष में उन विषयों के प्रति आसक्ति पैदा होती है. आसक्ति से कामना, कामना से क्रोध पैदा होता है. क्रोध से सम्मोह (अविचार), सम्मोह से स्मृतिविभ्रम हो जाता है. स्मृति के भ्रष्ट होने से बुद्धि का नाश होता है. बुद्धि का नाश होने पर मनुष्य का विनाश हो जाता है)

व्याख्येयैकको हि पूर्वोक्तस्य *'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मन'* इति सूत्रस्य मनोवैज्ञानिकं स्पष्टीकरणम्। प्रस्तौत्ययं मनसोऽपक्रमस्य सक्रमं चित्रणम्। अपक्रमो नाम स्थितिमूलात् तात्त्विकाधारादपगमः व्यक्तित्वस्य। निमेयोऽयं मनसो विपरिणामैः कारणकार्यश्रृंखलानिबद्धैः। तथाहि–विषयानुध्यान-आसक्ति-कामना-क्रोध-सम्मोह-स्मृतिविभ्रम-बुद्धिनाशश्चेति विपरिणाम-श्रृंखला।

१. मनोवैज्ञानिकधार्मिकोभाभ्यां दृग्भ्यां महत्त्वपूर्णेयमपक्रमसप्तपदी अपेक्षते निकटविवेचनाम्। अतो निरूप्यते सा यथाक्रमम्।

१.१. विषयानुध्यानं ह्यनर्थ मूलम् । को हेतुः विषयानुध्यानस्येति जिज्ञासायां, अध्याहृतो भवति '*इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मन* इति सूत्रम् । अनेन ज्ञायते यदिन्द्रियोपलब्ध्यारम्भं हि विषयानुध्यानम्। यतः प्रत्यक्षपूर्वकं हि विषयानुध्यानं, उचितोऽनुध्यानोपलक्षित-मनसोऽपक्रमस्य इन्द्रियैः मनसोऽपहरणत्वेन विनिश्चयः।

विषयानुध्यानाद्विषयासक्तिरिति सत्यम्। सत्यं एतदपि यद्विषयासक्तिरेव विषयानुध्यानस्य निमित्तम्। भोगासक्तेः संवाहकत्वादेव विषयो भवति ध्यानविषयः। अतोऽस्यासक्तेर्मुखरा-भिव्यक्तिः नवीनीकरणं वेति संगोपपत्तिरिति संगतिः। '

१.२. अनुध्यानान्मुखरासक्तिरेव गृह्णाति भोगेच्छारूपं कामपर्यायं, आसक्तेः व्यक्तरूपत्वात्कामस्य।

१.३. विषयानुध्यानादासक्तिः आसक्तेः भोगेच्छा (कामः) एतावता न काऽपि समस्या। किन्तु *'कामात्क्रोधोऽभिजायते'*, विचाराय विवशीकरोति। कामनायाः प्रतिहतायाः क्रोध इति पारम्परिकव्याख्या (*तस्मात् कामात्कुतश्चित् प्रतिहतात्, क्रोधोऽभिजायते* – शां.भा.)।

कामात्क्रोधोऽभिजायत इति निरुपाधिकवचनस्य सोपाधिकत्वाद्दोषपूर्णेयं व्याख्येति न शङ्कनीया। मनोविज्ञाने यथेतरविज्ञानेषु वस्तुस्थित्यनुसारमूह्यो न्यायव्यवहारः। निरापद-प्रतीयमानाऽपि घ्यानादासक्तिरपि नास्ति उपाधिविरहा। सूक्ष्मनिरीक्षणेनानुवीक्षणीया सा। किन्तु कामात्क्रोधः क्रोधात्सम्मोह इत्यनयोः सुव्यक्तबाह्यनिमित्त- निर्भरत्वादपरिहार्यो भवति सोपाधिकं निर्वचनं वस्तुस्थित्यनुरोधात्।

१.४ यथा प्रतिहतात्कामात्क्रोधोऽभिजायते तथैव प्रतिहतादेव क्रोधाद्भवति सम्मोहः कर्तव्यमूढता रूपः। अवन्ध्यकोपस्य तत्कालप्रतिकारकर्मनियोजितत्वान्नावकाशः बुद्ध्यां सम्मोहोपपादनाय। अतो प्रतिहतादेव क्रोधात्सम्मोह इति दुर्निवारः।

सम्मोहो हि क्रोधसंततिः। व्यक्तित्वस्य जाग्रत-नैतिक-कल्पस्योपरागोऽयम्। निरुपायक्रोघ-जनितकुण्ठया यदा व्यक्तित्वस्य चेतनानुशासनं गम्यते शिथिलतां, सुप्तप्रायो ह्यसौ 'सम्मोहित' इति कथ्यते। भाष्यकारैः पारम्परिकैः अविवेकपर्यायत्वेन परिभाषितोऽयम् – *क्रोधाद्भवति सम्मोहोऽविवेकः कार्याकार्यविषयः। क्रुद्धो हि सम्मूढः सन् गुरुमपि आवेशति* (शां.भा.)।

समीक्षार्हेयं सम्मोहव्याख्या। क्रुद्धो यदा अविवेकमाचरति गुरुमावेशति, तस्येदमाचरणं हि क्रोधस्य व्यवहारः न तु कार्यम् । क्रोधस्य कार्यन्तु सम्मोहः भावोत्पादरूपः। तस्य 'क्रोधाद्भवति

सम्मोहः' इति वाक्ये साक्षात्प्राप्तत्वादनावश्यक उपचारावलम्बनम्।

१.५. सम्मोहो हि स्मृतिविभ्रमस्य जनकः। स्मृतिर्हि बहुतलीयसंस्कारकोषः यस्य साहाय्येन सजीवो भवत्यतीतः। भजते इयं बहुतलीयसंरचनामधोनिर्दिष्टाम्।

१.६. अनुभवप्रवाहो हि स्मृत्याः प्राथमिकमुपादानम्। अस्योपरि चेतनव्यक्तित्वविमर्श आरोपयति स्वीयमनुशासनम्। अनुशासनमिदं बुद्ध्यां निर्माति मूल्यकोषान् येभ्यः बुद्धिराददते वर्गीकृतां मूल्यसामग्रीं निर्णयव्यापारस्योपादानभूताम्। सम्मोहस्य प्रभावेण शिथिले जाते चेतनानुशासने विश्रृंखलिताः भवन्ति मूल्यकोषाः। अनेन बुद्ध्यां भवति निर्णयसामग्र्यवरोधः। निर्णयोपादानस्यावरोधाज्जायते बुद्ध्यां कार्यविप्लवम्। अयमेव बुद्धिनाशः, कार्यानुपपत्तेः कारणवैकल्यस्य ज्ञापकत्वात्।

१.७. बुद्धिविनाशो यथाक्रमं कल्पते व्यक्तित्वस्य निर्णायकस्वरूपस्यावसानम्। तदेवास्य विनाशकल्पः, निर्णयस्वातन्त्र्यस्य स्वारस्यत्वाच्चेतनसत्तायाः।

२. विवेच्यस्थलं हि मनोविश्लेषणस्य प्रयोगस्य आध्यात्मे चास्य नियोजनस्यैतिहासिकमुदाहरणम्। आधुनिकमनोविश्लेषण दृषाऽपि प्रकृतस्थलस्य व्याख्यानं सम्भवम्।

३. धार्मिक-वैज्ञानिकदृग्भ्यां महत्त्वपूर्णेयं सप्तपदी व्यक्तित्वक्षरणस्य। अत्रास्थायां मनोविज्ञानस्य संग्रहो रेखांकयति विज्ञानविरोधि-पुरागाथाकल्पितेभ्यो धर्मेभ्यो वैलक्षण्यं हिन्दूधर्मस्य।

एकक विमर्श :

सूत्र *'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः'*(श्लो.६०) का व्याख्यान है यह एकक. इसके दो श्लोक मन के भटकाव का सजीव रेखाचित्र प्रस्तुत करते हैं. भटकाव का अर्थ है, स्थितिमूल से दूर होना, व्यक्तित्व के तात्त्विक आधार से दूर होना. यह भटकाव विस्तार में नहीं, स्वरूप के क्षरण के रूप में होता है, जिसे मन की क्रमिक विपरिणतियों के रूप में देखा और समझा जा सकता है व्याख्येय श्लोकों में इनका क्रम इस प्रकार हैं : मन के द्वारा विषयों का चिन्तन, विषय चिन्तन से विषयासक्ति, आसक्ति से कामना, कामना से क्रोध, क्रोध से सम्मोह, सम्मोह से स्मृतिविभ्रम, स्मृतिविभ्रम से बुद्धिनाश. ये मन की सात क्रमिक विपरिणतियां हैं जो व्यक्तित्व के बिखराव की प्रक्रिया का एक सुसम्बद्ध रेखाचित्र प्रस्तुत करती हैं.

१. मन की विच्युति का पदक्रम :

यथाक्रम विवरण : विवेच्य एकक मनोविश्लेषण के प्रयोग और आध्यात्म में उसके नियोजन का सम्भवत पहला ऐतिहासिक उदाहरण है. आस्था में मनोवैज्ञानिक पद्धति का यह संग्रह, अक्सर विज्ञानविरोधी, पुरागाथाकल्पित धर्मों से विलक्षण हिन्दूधर्म के खुलेपन और वैज्ञानिक स्वरूप को रेखांकित करता है. वैज्ञानिक और धार्मिक दोनों ही दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्वक्षरण की यह सप्तपदी निकट विवेचना की अपेक्षा रखती है.

१.१. *'ध्यायते विषयन्पुंस: संगस्तेषूपजायते '* :

'विषयों का ध्यान करने से उनमें आसक्ति पैदा होती है', यह कथन सत्य होते हुए भी अपर्याप्त कथन है.. आखिर मनुष्य विषयों का ध्यान करता ही क्यों है? इसके समाधान के लिए हमें *'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मन:'* इस सूत्र की ओर लौटना होगा, जिसके स्पष्टीकरण लिए यह मनोविश्लेषण प्रस्तुत किया गया है. विषयानुध्यान का प्रारम्भ किसी न किसी इन्द्रियोपलब्धि से ही होता है. किसी विषय को देख कर, उससे जुड़ी यादें, सुखद और दुःखद, जागृत हो जाती हैं, और यहीं से प्रारम्भ होता है मन के अपक्रम का सिलसिला जिसका विवरण इस एकक में दिया गया है. यतः अनुध्यान का प्रारम्भ इन्द्रियोपलब्धि से होता है, अतः अनुध्यानोपलक्षित सम्पूर्ण बिखराव को उचित ही इन्द्रियों द्वारा मन के हरण के रूप में निरूपित किया जा सकता है.

यह सही है कि 'विषयों के ध्यान से उनमें आसक्ति पैदा होती है'. यह भी उतना ही सही है, शायद इससे भी कुछ अधिक सही है कि विषय के ध्यान का निमित्त भी विषयासक्ति ही है. अतीत के भोगानुभवों से जुड़े होने के कारण ही विषय ध्यान में उभरता है, हमारा ध्यान चयनात्मक होता है और इसके मूल में होता है विषय का भोगमूल्य. **अत: जब यह कहा जाता है कि 'विषयों का ध्यान करने से उनमें आसक्ति पैदा हो जाती है, तो इसका सही अर्थ यही होगा कि ध्यान करने से विषय में पहले से बैठी आसक्ति, मुखर हो उठती है, पुष्ट होती है. यहां प्रयुक्त 'उपजायते' पद का अर्थ है अभिव्यक्त होना, या पुनरुज्जीवित होना.**

१.२. *'संगात्संजायते काम:'* (आसक्ति से कामना पैदा होती है) :

विषयासक्ति का अर्थ है विषय की भोग सम्भावनाओं में आसक्ति. अनुध्यान से मुखर हुई यह आसवित भोगेच्छा (कामना) का रूप लेती है. काम आसक्ति का ही व्यक्तरूप है, उसकी

अन्तरंग सम्भावना का यथार्थीकरण.

१.३. *'कामात्क्रोधोऽभिजायते'* (काम से क्रोध उत्पन्न होता है) :

मन द्वारा विषयों का ध्यान, ध्यान के कारण विषय में आसक्ति, आसक्ति से विषयों को भोगने की इच्छा अर्थात् काम उत्पन्न होता है यहां तक कोई समस्या नहीं है. किन्तु **'कामात्क्रोधो ऽभिजायते'** यह स्थल निकट से विचार करने योग्य है. कामना की पूर्ति न होने पर क्रोध होता है, यह इस वाक्य की एक पारम्परिक व्याख्या है. प्रतिहत-कामना, क्रोध को, कुण्ठा हताशा आदि क्रोधपर्यायों को जन्म देती है, यह सामान्य अनुभव की बात है. लेकिन जहां कामना की पूर्ति हो गई वहां क्रोध की अप्रसक्ति होने से 'कामात्क्रोधोऽभिजायते' यह कथन घटित नहीं होगा. यदि यह वाक्य केवल एकदेशीय सत्य को कहता है. तब तो गीता में ***कामात्क्रोधोऽभिजायते*** ऐसा सामान्य कथन नहीं होना चाहिए. इसके बजाय कहना चाहिए था, *'कामात्प्रतिहतात् क्रोधोऽभिजायते'.*

इस प्रकार की शंका उचित नहीं है. प्रतिहत कामना क्रोध को जन्म देती है , इस बारे में कोई विवाद नहीं है. निकट से देखें तो जहां कामना अप्रतिहत है, वहां भी थोड़ा आगे चल कर, कुण्ठा, हताशा आदि क्रोध पर्याय ही उसकी नियति बनते हैं. कामना की हर तृप्ति, भोगे हुए सुख को फिर से जीने की चाहत को जन्म देती है, यह चाहत एक नई तलाश को. यतः सुख में बासी होने की आदत होती है, यह तलाश जिस सुख को खोज कर लाती है, वह वही नहीं होता, जिसके लिए तलाश शुरू हुई थी. घटे हुए तृप्ति-मूल्य के कारण, कामना की अप्रतिहत उपलब्धि भी हताशा को ही जन्म देती है, जो क्रोध का ही एक पर्याय है. प्रतिहत होने पर तो क्रोध होगा ही. इस प्रकार 'कामात्क्रोधोऽभिजायते' यह कथन एक मनोवैज्ञानिक वस्तुस्थिति का अनवद्य निर्वचन है.

१.४. ***क्रोधाद् भवति सम्मोहः*** (क्रोध से सम्मोह होता है) :

जिस प्रकार प्रतिहत-कामना से क्रोध पैदा होता है उसी प्रकार प्रतिहत क्रोध से सम्मोह होता है. यदि क्रोध अप्रतिहत है, तो वह तत्काल प्रतिशोधकर्म में प्रवृत्त हो जाएगा. उसके पास इतना अवकाश होगा ही नहीं कि वह मुड़ कर बुद्धि की ओर उन्मुख हो सके और उसमें सम्मोह

पैदा कर सके. अतः प्रतिहत क्रोध से ही सम्मोह होगा, हर क्रोध से नहीं, यह निश्चित है.

सम्मोह क्रोध की सन्तान है. यह व्यक्तित्व के जाग्रत-नैतिक-कल्प के उपराग का नाम है. निरुपाय क्रोध को जब प्रतिकार-कर्म में अभिव्यक्ति नहीं मिलती, (बाहर जाने को रास्ता नहीं मिलता) तब वह सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर बिखर कर उसे अभिभूत कर देता है. क्रोध(कुण्ठा) के प्रभाव से जब व्यक्ति का चेतन अनुशासन कुछ समय के लिए शिथिल, सुप्तप्राय हो जाता है, तब उसे सम्मोहित हुआ कहा जाता है. इसे मूर्छा तो नहीं कह सकते, लेकिन यह मूर्छा के जैसी अवस्था है, जिसमें व्यक्ति की बुद्धि, उसके नैतिक अनुबंध, यहां तक कि अहंकार भी काम करना बंद कर देते हैं. इस अवस्था को गीता के विद्वान् भाष्यकारों ने अविवेक नाम दिया है. : *"क्रोधात्भवति सम्मोहोऽविवेक: कार्याकार्यविषय:। क्रुद्धो हि सम्मूढ: सन् गुरुमपि आवेशति* – (शां.भा.) ***क्रोध से सम्मोह अर्थात् कार्य-अकार्य के विषय में अविवेक पैदा होता है. क्रुद्ध व्यक्ति सम्मूढ़ता को प्राप्त हो कर गुरू को भी गाली देता है.***

सम्मोह की यह व्याख्या समीक्षा के योग्य है. क्रुद्ध व्यक्ति जब अविवेकपूर्ण आचरण करता है, गुरु को अपशब्द कहता है, तब उसका यह आचरण, क्रोध का व्यवहार है, कार्य नहीं. क्रोध का कार्य अर्थात् भावोत्पाद तो सम्मोह है, जो क्रोध की ही भांति एक मनोदशा है. यह मनोदशा विवेक-निरपेक्ष होती है, और इसी कारण अविवेक निरपेक्ष भी, क्योंकि विवेक-अविवेक स्वायत्त व्यक्तित्व के व्यवहार हैं. व्यक्तित्व की स्वायत्तता के अपलाप का ही दूसरा नाम है सम्मोह . लोकव्यवहार में जो कहा जाता है कि क्रोध में आदमी को अपने पर काबू नहीं रहता यह कथन सम्मोह की दशा को अधिक निकट से बताता है.

सम्मोहन की सुविचारित पद्धति को हिप्नोटिज्म कहते हैं. यह एक वैज्ञानिक पद्धति है और नियंत्रित प्रयोगों को बताती है. लेकिन क्रोध से उत्पन्न सम्मोह एक स्वतःस्फूर्त अविचारित परिणति है. इस दशा में व्यक्ति का जाग्रत, चेतन-अनुशासन ध्वस्त हो जाता है और वह एक अर्धसुप्त विनैतिकता (अनिर्णय) की अवस्था में फिसल जाता है. इसे अविवेक या अनैतिकता नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अविवेक, विवेक की ही तरह जाग्रत(चेतन) अवस्था का ही व्यवहार है.

क्रोधाद्भवति संमोहः का सरल अर्थ यह है कि क्रोध (हताशा) की दशा में व्यक्ति का अपने ऊपर अधिकार नहीं रह जाता. वह 'चेतन' से हट कर 'अवचेतन' में उतर जाता है.सम्मोह की यह दशा स्मृतिभ्रंश अर्थात् स्मृतिदोष को जन्म देती है.

१.५.***सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः*** (सम्मोह से स्मृतिविभ्रम होता है) :

सामान्य भाषा में स्मृति का अर्थ है याददाश्त, या उसकी साधक यांत्रिकी. यह ऐसा संस्कार-कोष है, जिसकी सहायता से हम अतीत के अनुभवों को जीते हैं. यतः स्मृति अतीत के अनुभवों को ही उपलब्ध कराती है, कोई नए ज्ञान को नए अनुभव को जन्म नहीं देती, अतः बहुत से दार्शनिक स्मृति को ज्ञान में प्रमाण नहीं मानते. उनका यह विचार स्मृति के अनेक-तलीय व्यापार की अपर्याप्त समझ पर आधारित है. स्मृति घटनाचित्रों का प्रवाह या निर्विशेष संग्रह मात्र नहीं होती.अपने विभागानुभागों में यह मूल्यवान् रूप में विनिश्चित अनुभवों का संग्रह करती रहती है. जो मूल्यवान् नहीं हैं, उपयोगी नहीं हैं, ऐसे अनुभवों का संग्रह न करके उन्हें भुला देने, अवचेतन के अंधेरे गर्त में डाल देने का काम भी स्मृति का ही है.

उन अनुभवों को, जो धार्मिक, नैतिक और कलात्मक दृष्टि से मूल्यवान् हैं, व्यवहार के लिए उपलब्ध कराना – यह काम भी स्मृति का ही है. मूल्यवान् अनुभवों के विनियोग से व्यक्तित्व का परिष्कार होता है अतः इन्हें संस्कार नाम भी दिया गया है. ये संस्कार वर्तमान जीवन के ही नहीं जन्म जन्मान्तरों के मूल्यवान् अनुभवों का संग्रह हैं. इस प्रकार मूल्यवान् अनुभवों के संग्रह और उनकी व्यवस्था का नाम है स्मृति.

आत्मविमर्श यथा 'मैं देवदत्त हूं', ऐसी जो प्रत्यभिज्ञा है वह भी स्मृति ही है. यह आत्मविमर्श ही है जो संस्कारों को प्राथमिकताओं के आधार पर व्यवस्थित करता है और उनके विनियोग को सुनिश्चित करता है. इस प्रकार स्मृति का नियन्ता और अनुशास्ता होता है आत्मविमर्श. सम्मोह का पहला शिकार यह आत्मविमर्श ही होता है. सम्मोह की स्थिति में 'मैं अमुक व्यक्ति हूं' यह प्रत्यभिज्ञान नहीं रहता. **सम्मोह के प्रभाव में अनुशासक अधिष्ठाता के शिथिल होने पर स्मृति का व्यवस्थापक अनुशासन शिथिल हो जाता है, और उसमें संकलित मूल्यवान् संस्कार व्यवहार के लिए उपलब्ध नहीं हो पाते. स्मृति का अव्यवहार्य हो जाना, नाकाम हो जाना ही स्मृतिभृंश अर्थात् स्मृति का क्षरण है.**

१.६. '*स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशः*' :

अनुभवप्रवाह स्मृति का उपादान है. इस प्रवाह पर आत्मविमर्श या यों कहें कि व्यक्तित्वविमर्श के द्वारा आरोपित अनुशासन व्यवस्था का नाम है स्मृति. यह अनुशासन स्मृति में मूल्यकोषों का निर्माण करता है, जो बुद्धि द्वारा निर्णय के लिए वर्गीकृत सामग्री उपलब्ध कराते हैं. सम्मोह के प्रभाव में यह अनुशासन शिथिल होने लगता है. मूल्यानुबंध विगलित होने लगते हैं और बुद्धि को संस्कारकोष से वह सामग्री नहीं मिल पाती, जिसकी सहायता से वह निर्णय लेने की अभ्यस्त है. स्मृति कोष के अवरुद्ध हो जाने से बुद्धि की निर्णय करने की सामर्थ्य खो बैठती है. इसी का संग्रह करता है सूत्र *'स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशः'* में. बुद्धिनाश का अर्थ यहां बुद्धितंत्र का अपलाप नहीं है. बुद्धितंत्र की कार्यक्षमता का खो जाना, उसकी अव्यवस्था और विपर्यस्त-व्यवहार ही यहां *बुद्धिनाश* पद का अर्थ है.

१.७. *बुद्धिनाशात्प्रणश्यति* (बुद्धि का विनाश होने पर मनुष्य का विनाश हो जाता है) :

यथोक्त रूप में बुद्धि के विनाश का अर्थ है, व्यक्तित्व की निर्णायक हैसियत का अन्त. यही उसका विनाश है. सम्मोहित व्यक्ति के सत्संस्कार स्मृति के अनिर्बन्ध हुए प्रवाह में बह जाते हैं, यह प्रवाह स्वयं अवचेतन के गर्त में धंसता जाता है. जागृत, जवाबदेह व्यक्तित्व का लोप और अवचेतन अर्थात् विचारहीन चेतनालेश के रेगिस्तान का विस्तार ही व्यक्ति का विनाश है.

२. आधुनिक मनोविश्लेषण का संग्रह करते हुए पुनराख्यान :

आधुनिक मनोविश्लेषण पद्धति के प्रवर्तक हुए हैं फ्रायड नाम के एक मनोवैज्ञानिक. गीता के इस स्थल की व्याख्या फ्रायड की पद्धति से भी की जा सकती है. विषयचिन्तन, उससे विषय में आसक्ति, आसक्ति से भोगेच्छा, दमित भोगेच्छा से हताशा (क्रोध), हताशा से सम्मोह, चेतन के नियन्त्रण का शिथिल होना और दमित भोगेच्छा के द्वारा अवचेन का निर्माण. यह विवरण मोटे तौर पर फ्रायड के विश्लेषण के क्रम में आता है.

गीता में जिसे 'सम्मोह' कहा गया है, मनोविश्लेषण की पद्धति में उसी को 'अवचेतन' नाम दिया गया है. चेतन-मन, स्मृति में संग्रहीत शुभाशुभ मूल्य कोषों के आधार पर आचरणको नियंत्रित करता है. अपने को चेतन के अनुशासन के विरुद्ध परिभाषित करता अवचेतन, स्मृति में सुरक्षित

मूल्यकोषों को ध्वस्त कर देता है, या फिर उन्हें अपने हिसाब से बना लेता है. शुभाशुभ की सुविधाजनक व्याख्याएं भी अवचेतन के आग्रहों से प्राप्त होती हैं. इसी को गीता में स्मृतिभ्रंश कहा है, जिसका अर्थ है स्मृति में संग्रहीत संस्कारों का विपर्यास. बुद्धि अपने निर्णयों के लिए संस्काराहितमूल्यों पर निर्भर होती है. अतः इनमें उलटपुलट होने पर बुद्धि की निर्णायक भूमिका नष्ट हो जाती है.

बुद्धि की निर्णायक भूमिका नष्ट हो जाने पर सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विघटन हो जाता है. यही है *'बुद्धिनाशात् प्रणश्यति'* का अर्थ. स्वस्थ व्यावहारिक व्यक्तित्व ही आध्यात्म में आगे बढ़ सकता है. जो व्यक्तित्व बीमार है, वह आध्यात्म पथ में भी आगे नहीं बढ़ सकता. स्वस्थ व्यक्तित्व सब परिस्थितियों में, वे अनुकूल हो या प्रतिकूल अपनी निर्णायक हैसियत को नहीं छोड़ता, जबकि अस्वस्थ व्यक्तित्व परिस्थितियों के पीछे घिसटता चलता है. आदमी तैरता है, वह किनारे पहुंचा सकता है और डूब भी सकता है. किन्तु तैरने की प्रत्येक क्रिया के पीछे उसका अपना निर्णय काम कर रहा होता है. इसके विपरीत लकड़ी का टुकड़ा लहरों द्वारा उछाला जाता है, उनके वेग का अनुसरण करता चलता है. वह किनारे पहुंच जाए तो संयोग मात्र है; लेकिन यह मंजिल भी उसकी मंजिल नहीं हो सकती, क्योंकि अगली लहर उसको उछालकर फिर बीच धारा में डाल सकती है.

व्यक्तित्व का स्वारस्य है, सुसंगति, और अनुशासन; निर्णायक हैसियत, जो समस्त व्यवहार के बीच, एक साहसी जवाबदेह चेतनबिन्दु के रूप में उसे परिभाषित करती है. इस व्यक्तित्व का क्षरण किस प्रकार होता है, गीता में *ध्यायतो विषयान्पुंसः* यह कहते हुए इसका निरूपण किया है. निर्णायक हैसियत को खो बैठना ही व्यक्ति की मौत है, जिसके क्रमिक अवतरण को ऊपर दिए श्लोकों में सोपानबद्ध किया गया है.

३. मनोविश्लेषण का विज्ञान और गीता :

मनोविश्लेषण एक विज्ञान है, धर्म और नैतिकता निरपेक्ष. फ्रायड ने इसके आधार पर जिस स्वस्थ्य व्यक्तित्व की परिकल्पना प्रस्तुत की है वह, धर्म और नैतिकता के विरुद्ध, एक भोगवादी जीवनदर्शन का आधार बनता है. गीता की विशेषता यह है कि वह मनोविश्लेषण

के आस्था में संग्रह का मार्ग दिखाती है. यह इसलिए सम्भव हो सका क्योंकि गीताधर्म, या यों कहें कि हिन्दूधर्म नैतिकनिरोध को, सिर्फ नैतिकनिरोध को, धर्म की हद नहीं मानता. गीता प्रकारान्तर से फ्रायड की इस बात का समर्थन करती है कि आत्यन्तिक-निरोध, नैतिक हो या धार्मिक, असमाहार्य मानसिक विकृतियों को जन्म देता है — *यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः, इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः.* अतः वह निरोध को आस्था का परमार्थ न मान कर, उससे आगे, योग के रूप में, मन की साधना को परिकल्पित करती है : *तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः.*

स्वस्थ व्यक्तित्व द्वन्द्वमुक्त होता है, इस मनोविज्ञान को स्वीकार करते हुए, विधिनिषेध के द्वन्द्व में जकड़े धर्म के उद्धार के लिए, गीता योग का उपदेश करती है. योग की साधना समस्त द्वन्द्वों से मुक्त मनोदशा में प्रवेश का द्वार है : *निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्.*

स्वस्थ आस्था का पूर्वकल्प है स्वस्थ्य मन. यह कि ऐकान्तिक निरोध मन के लिए अस्वस्थकर है, इस बारे में गीता का आधुनिक मनोविश्लेषण से कोई मतभेद नहीं है. मतभेद है उपचार की पद्धति को ले कर. फ्रायड स्वेच्छाचार के निरोधमूलक समस्याओं का सहज उपचार मानता है. इससे भिन्न गीता निरोध के व्यापक चेतना में संग्रह और उद्धार का रास्ता दिखाती है. मन की साधना अर्थात् योग, निरोध से ले कर निरोधप्रसूत अवचेतन तक के उद्धार की साधना है. इसका रेखाचित्र पूर्व एकक में प्रस्तुत किया जा चुका है.

आस्था में विध्यर्थ (निरोध) से उत्पन्न समस्याओं के समाधान के लिए योग का आश्रय, योग के द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि, शुद्ध हुए अन्तःकरण के द्वारा परमतत्त्व का साक्षात्कार, साक्षात्कारात्मक अनुभव से उस आसक्ति का क्षय, जो इन्द्रियों की प्रवृत्ति का ही नहीं, मन के उन समस्त विभाजनों का भी आधार है, जो निरोध के उपक्रम से मन में निर्मित होते हैं. इस प्रकार आसक्ति का क्षय निरोधजन्य द्वन्द्वग्रन्थि का ही निराकरण नही करता, अपितु विभाजक प्रपंच के निराकरण के द्वारा वह सम्पूर्ण व्यक्तित्व का एकीभाव में उद्धार करता है.

योग का कार्य यहीं समाप्त नहीं होता. वह आगे बढ़ कर उस आस्था का उद्धार करता है जो विधिनिषेध में विजड़ित, व्यक्ति के लिए, समाज के लिए दर असल सारी दुनियां के लिए

समस्याएं उत्पन्न करती रहती है. गीता का मनोविश्लेषण केवल मनोविश्लेषण नहीं है. यह एक समग्र उपचार है, व्यक्ति और उसकी आस्था के उद्धार का.

४. आस्था में मनोविज्ञान का संग्रह :

हिन्दू-धर्म का वैज्ञानिक मिजाज : विवेच्य एकक अनेक दृष्टियों से ध्यान देने योग्य है. यह आस्था में मनोविज्ञान के संग्रह का अप्रतिम उदाहरण है. इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह स्थल हिन्दूधर्म के स्वभाव और उसके विशिष्ट व्यक्तित्व के निर्माण की प्रक्रिया को रेखांकित करता है. संसार के अन्य धर्मों की भांति हिन्दूधर्म के भी अपने प्रस्थान शास्त्र है, जो कर्मकाण्ड और आचारविधान के द्वारा हिन्दू आस्था के साकार विग्रह का निर्माण करते हैं. इसके वाबजूद जो विशेष बात है वह यह कि आस्था का शास्त्रविधान हिन्दुओं को नए अनुभवों को स्वीकार करने, उन अनुभवों के प्रकाश में अपनी आस्था को नए सिरे से परिभाषित करने से कभी नहीं रोक सका. इससे एक जागृत, विज्ञान-सहिष्णु, विचारशील आस्था अस्तित्व में आती है, जो अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण कभी भी अतिवादी नहीं हो सकी.

जो लोग अपने धर्मशास्त्र को एकमात्र ईश्वरीय आदेश, तदनुसार आस्था का ऐकान्तिक आलम्बन मानते हैं, उनके लिए शास्त्र के विरुद्ध, कोई भी वैज्ञानिक मान्यता, वह कितने ही पुष्ट प्रमाणों पर आधारित क्यों न हो, स्वीकार्य नहीं हो सकती. विज्ञान के अनुसार धरती पर मानव का अस्तित्व लगभग ५० लाख वर्ष से है जब कि सीमेंटिक उद्भव के यहूदी-ईसाई-इस्लामादि धर्म अपने पुरागाथा-प्रमाण के आधार पर इसे ५ हजार वर्ष से अधिक का नहीं मान सकते. हिन्दुस्तान के पिछड़े अर्धशिक्षित लोग दांतों में उंगली दबा लेते हैं, जब वे अखबारों में पढ़ते हैं कि वैज्ञानिक सभ्यता के शिखर पर बैठे अमेरिका जैसे देश में सम्प्रति इस बात को ले कर आन्दोलन चल रहा है कि विद्यालयों के पाठ्यक्रम में से विकासवाद के वैज्ञानिक सिद्धान्त को हटा कर बाइबिल में वर्णित पुरागाथाओं को पढ़ाया जाए. यह विचित्र स्थिति कमोबेश उन सभी धर्मों की है जो अपनी किताब को ईश्वर का एक मात्र प्रामाणिक संदेश मानते हैं.

अपनी आस्था की मान्यताओं से सभी को मोह होता है, सही हों या गलत. हिन्दूधर्म इसका अपवाद है ऐसा तो नहीं कह सकते. लेकिन एक हिन्दू अपनी किताबी आस्था के

अविचार को खुल कर देखने का साहस रखता है, उसे कहने का भी और यथाशक्ति उसके परिष्कार का भी. हिन्दूधर्म का पूरा इतिहास आस्था में इस वैज्ञानिक खुलेपन के संग्रह का इतिहास है. इतर धर्मों में यह दुःस्साहस है, जिसकी ओर वही कदम उठा सकता है, जिसे अपनी जान की परवाह न हो.

■ ■ ■

षष्ठ एकक:

(व्यक्तित्वसंग्रह की साधना)

(क) रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥६४॥
प्रसादे सर्वदु:खानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥६५॥
नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्॥६६॥

(ख) इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥६७॥
तस्माद्यस्य महाबाहो निग्रहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥६८॥

अनुशासित आत्मावाला साधक, रागद्वेष से शोधित, वश में की हुई इन्द्रियों के द्वारा विषयों का सेवन करता हुआ, निर्मलता को प्राप्त कर लेता है(६४). निर्मलता प्राप्त होने पर साधक के सम्पूर्ण दुःखों का नाश हो जाता है और ऐसे प्रसन्नचित्तवाले साधक की बुद्धि निःसंदेह जल्दी ही पूरी तरह स्थिर हो जाती है (६५). साधनरहित पुरुष में बुद्धि की प्रतिष्ठा नहीं होती; साधना के बिना भावना (ध्यान) नहीं बनती. भावरहित पुरुष को शान्ति नहीं मिलती और अशान्त को सुख कैसे मिल सकता है (६६).

इन्द्रियों के विषयों के बीच संचरण करते जिसका मन उनका अनुसरण करता है, वह (मन) उसकी प्रज्ञा का उसी प्रकार अपहरण कर लेता है जैसे जल में नौका को वायु हरण करके ले जाती है (६७). इसलिए हे महाबाहो! जिस मनुष्य की इन्द्रियां इन्द्रियविषयों से सर्वथा निग्रहीत हैं, उसकी ही प्रज्ञा प्रतिष्ठित है (६८).

विवेच्यैककस्य पञ्चश्लोकात्मकस्य द्वौ विभागौ। (क) व्यक्तित्वसंग्रहस्य साधनाविषयो हि प्रथमो विभाग:(६४-६६), विलक्षण: *ध्यायतो विषयान्पुंस* इत्यस्याव्यवहितपूर्वाद्विखण्डनविवरणपरात्। अस्य त्रिषु श्लोकेषु प्रथमस्तु वर्णनं व्यक्तित्वसंग्रहस्य साधनाक्रमस्य, द्वितीयो भावपर्यायस्य एकीकृतव्यक्तित्वस्य, तृतीयस्तु व्यतिरेकानुपपत्या पुष्टि: यथोक्तसाधनाक्रमस्य प्रसादपार्यन्तिकस्य।

संग्रहोपसंहाररूपद्वितीयो विभाग: द्विश्लोकात्मक:(६७-६८)। प्रथमस्तु एककभावार्थस्य रूपकावतरणं, लक्षणस्य पुनराख्यानेन द्वितीयो विरचयत्युपसंहारं स्थितप्रज्ञप्रकरणस्य।

१. प्रकृतैककोऽन्वयव्यतिरेकिपद्धत्या रेखांकयति व्यक्तित्वसंग्रहस्य प्रक्रियाम्। निकटदूरस्थ-संदर्भैरुपकृतोऽयमुद्घाटयति गीताया विशिष्टां शैलीसंरचनाम्। स्मरणीयं यत्पूर्वैकक: *'ध्यायते विषयान्पुंस:...बुद्धिनाशात्प्रणश्यतीति'* निरूपयति व्यक्तित्वस्य विखण्डनक्रमं; अनुपद-विवेच्यस्तु साधनाक्रमं व्यक्तित्वसंग्रहस्य । उभौ परिकल्पयत: पूर्वसूत्रौ *'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मन:', 'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्पर:'* इति विखण्डनसंग्रहपरौ। अध्यायान्तवितितोयं विचारान्वयक्रम: रेखांकयति मननोद्देश्यनिबद्धां संश्लिष्टां गीतोपदेशशैलीम्।

२.१ 'रागद्वेषवियुक्तैस्तु' इत्यत: 'बुद्धि: पर्यवतिष्ठत' एतदन्तं, श्लोकद्वये संग्रह: क्रियते व्यक्तित्वसंग्रहस्य साधनाया: सोपानत्रयाणां क्रमिकोपलब्धीनाञ्च तत्प्रत्यायकानाम्। उपलब्धिषु चरमोपलब्धिस्तु बुद्धे: प्रतिष्ठा, अनन्यशरणं प्रबुद्धास्थया:। 'बुद्धौ शरणानुसंधानं परिकल्पयतिं साधनाक्रममधोनिर्दिष्टम्।

२.२ अनुशासितव्यक्ति: (विधेयात्मा), आत्मन: वशवर्तिभ्य: रागद्वेषपरिशुद्धेन्द्रियेभ्य: विषयानुप-भुञ्जन् प्रसादमधिगच्छतीति प्रथमश्लोकस्य शब्दार्थ:। परिकल्पयत्ययं साधनाया: परस्परसम्बद्धावयवचतुष्टयम् : भूमि: साधनं, व्यापार: फलञ्च। अत्र भूमिस्तु विधेयात्मा, साधनं रागद्वेषविमुक्तात्मवश्येन्द्रियाणि, इन्द्रियै: विषयोपभोगो व्यापार:, प्रसादस्तु फलम्। व्याख्यानमपेक्षते प्रत्येक: साधनावयव:।

३. कोऽयं विधेयात्मा? विधानयोग्यो विधेय:। निदेशयोग्यो हि स्वरूपं यस्य स विधेयात्मेति

शब्दार्थ:। शश्वदात्मन: सर्वतन्त्रस्वतंत्रत्वात्, अनुपपन्नविधेयत्वान्मनो हि विधेयात्मत्वेन निश्चेतव्यमिति शश्वदात्मवादिन:। अतो *'विधेयात्मेच्छातो विधेय आत्मान्त:करणं यस्य सोऽयं प्रसादमधिगच्छती'* त्याचार्यशङ्करस्य व्याख्या हि अधिकृता पारम्परिकव्याख्या 'विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छती'ति गीतावचनस्य।

विचारमर्हतीयं व्याख्या। मूलप्रश्नस्तु कोऽयं विधेयात्मा? अन्त:करणपर्यायं मन: व्यक्तिर्वा अहङ्कारपर्यायो य: प्रसादमधिगच्छति। निर्विवादं चित्तस्य सर्वासामवस्थानां मनोधिष्ठानत्वम्, तथापि तेषां भोक्ता, अधिकृत आदाता तु व्यक्ति एव। प्रकृते साधनाया: फलागमरूपप्रसादेन सम्पूर्णव्यक्तित्वस्य परिष्कारत्वात् स एवाधिगम्य: प्रसादस्य।

३.१ विहितेन्द्रियव्यवहारनिष्पन्नप्रसादस्तु मनोद्वारेणैव आप्लावयति संघातावयवान् सम्पूर्णं व्यक्तित्वञ्च। प्रक्रियानुरोधेन सोपानभूतत्वादयुक्त: मनस उद्देश्यतानियोग:, अपर्याप्तफल-निष्पत्तित्वात् । अभ्युपगमे मनोद्दिष्टे प्रसादे, अनुपपन्नोऽभविष्यत् *'प्रसादेसर्वदु:खानां हानिरस्योपजायत'* इति वाक्यस्यार्थ:, मनसो दु:खहानेरप्रयोजकत्वात्। आत्मन: दु:ख एव सर्वेषां चिन्ताविषय:।

३.२ आत्मतत्त्वस्याविधेयत्वादपर्याप्तविधेयत्वान्मनसो व्यक्तित्वसंघात एव विधेयात्मपदस्योपचार:। व्यक्तित्वं नाम शरीरेन्द्रियमनबुद्ध्यहंकारादीनां संघात:। व्यावहारिककल्पत्वादात्मन:, अनुपपन्ने आत्मनि, अव्यवहितप्राप्ते तस्मिन्नेव व्यवहार: कल्पनीय: न तु व्यवहिते संघातावयवविशेषे।

४. *रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्* इत्यनेन निदर्श्यते इन्द्रियाणामादर्शव्यवहार:। अयमादर्शव्यवहार: मनसोऽनन्तरं सम्पूर्णे व्यक्तित्वे आधानं करोति प्रसादेति विरलगुणस्य सहजतापर्यायस्य। त्रय: समया: आदर्शव्यवहारस्योपपत्ते:। इन्द्रियाणां रागद्वेषवियुक्तिस्तु मूलसमय:, अस्योपपादकौ समयौ इन्द्रियाणामात्मवशित्वम् (आत्मवश्यै:) विधेयत्वञ्च विधायकमनस: । इन्द्रियेषु रागद्वेषयोर्निराकरणमनुशासनाय कल्पते अनुशास्तृभूमितलौ मनोऽहंकारक्रमौ। एवमिन्द्रियाणामादर्शव्यवहार: कल्पते त्रिपदीयं क्रमिकानुशासनमिन्द्रिय-मनोहंकाराणाम्।

४१ आसक्तिनिराकरणाधीनत्वाद्रागद्वेषनिराकरणस्य, तस्याश्चानुध्यानाधीनत्वादनुध्याननिरोधरूप-मनस्साधना तु प्रथम: समय: रागद्वेषविमुक्ते:। अयमपि परिकल्पयत्येकमनुशासितमुच्चतर-मनुशास्तारमननुशासितानुशास्तुरनुशासनेऽप्रमाणत्वात्। अतोऽनुशासितव्यक्तित्वं तु द्वितीय: समय: रागद्वेषयोर्मुक्ते: साधनाया:। अत: विवेच्ये श्लोके *आत्मवश्यै* इति पदेन

साधितमनसोऽनुशासनस्य, *विधेयात्मे*'त्यनेनानुशासितव्यक्तित्वानुशासनस्य च संग्रहः क्रियते साधनासोपानत्वेन। व्यक्तित्वे चानुशासनस्य सिद्धिर्भवति शास्त्रैः ज्ञानयोगाभ्याञ्च ।

४.२ इन्द्रियाणां विषयेष्वनासक्तव्यवहारो हि व्यक्तित्वसंग्रहस्य साधनायाः प्राथमिक्युपलब्धिः। यथोक्तरीत्या परिष्कृतेन्द्रियैः विषयग्रहणं भवत्येकः सहजव्यापारो हर्षविषादादिविकाररहितः। गोचरभूमौ गवादीनां संचरणवदेतादृशो विषयोपभोगो न लभते मूल्यविनिश्चयं इच्छा-संकल्पप्रभवोद्यमसामान्यम्। अतो न जनयत्ययं किमपि भावविमर्शं बन्धनरूपम्। अयं तु इन्द्रियाणां स्वभावस्य सहजाभिव्यक्तिः, अव्यवहिता, निर्विकल्पा असम्भिन्ना। नेयं परिशुद्धविषयोपलब्धिः भोग इति वक्तुं शक्यते, भोगस्य व्यक्तित्वे भोक्तृ-भोग-भोग्यभेदपरिकल्पितप्रवृत्तिजन्यार्जित- सम्पद्रूपत्वात्। परिशुद्धविषयोपभोगस्तु इन्द्रियाणां स्वभावस्याविकलावगतिरूपः। प्रसाद एवास्य सहजभावपर्यायः।

५. प्रसादस्तु स्वरूपावगतेः भावाभिव्यक्तिः। नानाविधा ह्यस्या निष्पत्तिः। प्रकृते परिशुद्धभोगनिष्पत्तिर्निदर्शयत्यस्याः प्रसादपर्यायसहजतां निसर्गसंक्रामिकाम् । रागद्वेषवियुक्तये यानि साधना- सोपानानि संक्रम्येयं इन्द्रियव्यवहारे निष्पन्ना भवति तैरेव पुनरावर्तयन्ती क्रमशः मनोबुद्ध्यहंकारसहितमाप्लावयति सस्मित- स्पर्शेन सम्पूर्णं व्यक्तिक्षेत्रम्। अवधेयमत्र साधनाया उपक्रम-प्रसादाभिषिक्तप्रत्यागमयोर्मध्ये महत्त्वपूर्णं गुणात्मकमन्तरम्। उपक्रमो हि विधेयात्मपर्यायेषु (अहंकार-बुद्धि-मन-इन्द्रियादिषु) अनुशासनस्य साधना। प्राप्य स्वात्मनः परिनिष्ठां प्रसादेन फलवती, प्रसादं वितरन्ती विधेयात्मपदानां व्यक्तित्वस्यैकीभावे उद्धारं कुर्वन्ती परावर्तते इयं प्रसादधारा। विलीयतेऽस्याः प्रवाहे विधेयात्मग्रन्थिः। अनुशासनं हि स्वारस्यं विधेयात्मनः, अनुशासनस्य स्वारस्यं तु निरोधः, व्यतिरेकभूमिः सहजतायाः। प्रसादस्य संक्रमणं उद्धारयति विधेयात्मपर्यायनिरोधग्रन्थीन् स्वात्मनः सहजतायाम्। सहजतेयं हि फलं व्यक्तित्व-संग्रहस्य साधनायाः, प्रमाणमपि तत्सिद्धैकीकृतव्यक्तित्वस्य ।

६. अथः श्लोकः प्रपञ्चयति प्रसादस्य व्यापकं फलितार्थम् :

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते॥६५॥

७.१-३ उक्तौ अत्र प्रसादस्य द्वौ फलितार्थौ, सर्वदुखहानिः बुद्धेरविचलप्रतिष्ठा च। प्रसादस्तु सामान्यानुभवः दैनिकजीवनस्य। कथमनेन सर्वदुःखहानिः। प्रसादानन्तरमपि दृश्यते दुःखानां

सद्भावः। वस्तुतः प्रसादस्य द्वौ भेदौ समान्यविशेषौ। सामान्योऽनायासानुभवः दैनिकजीवनस्य विशेषस्तु साधनार्जितः। सर्वदुःखहानिश्रुतेः साधनार्जितप्रसादे एव चरितार्थता, प्रभावीपरिणामविरहाः प्रसादस्यानायासापत्तयः, भंगुरत्वादल्पावधिकत्वाच्च।

७.३. प्रसादोपलक्षितसाधनया यावन्मात्रभोगानां सुखदुःखादीनां क्षयः इत्याशयः *प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायत* इत्यस्य। रागद्वेषवियुक्तेन्द्रियाणां उपलब्धिर्भवति सुखदुःखविनिश्चयरहिता, रागद्वेषनिमित्तत्वात्तादृशविनिश्चयानाम्। यद्येवं तर्हि कथं नोक्तं 'सर्वसुखदुःखहानिरिति? उच्यते– सुखस्य दुःखे गतार्थत्वादनावश्यकं तस्य पृथगुल्लेखः। गीतादृष्ट्या सर्वे भोगा अन्ततः दुःखरूप एव : *'ये हि संस्पर्शजा भोगाः दुखयोनय एव ते'* इति। अतो नास्त्यत्र न्यूनोक्तिः।

७.४-७ *'प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिःपर्यवतिष्ठते'* इत्यपरा फलश्रुतिः प्रसादविषयका। रागद्वेषौ न केवलमाचरणमपितु वैचारिकयांत्रिकीमपि विकुरुतः । मनस्तु बुद्धेर्भावपरिवेशः, संवेगै कषायितः सतताक्रान्तः। साधनया उपशमितसर्वास्थिरताकारकसंवेगाः, अयं भवति सहज परिवेशो बुद्धेः स्थिरभावे प्रतिष्ठायाः। मनोभूमिपरिशुद्धेर्भावार्थत्वात्प्रसादः प्रमाणयत्यादर्शपरिवेशं बुद्धेः पर्यवस्थानस्य। अत उक्तं भवति 'प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।

८. निष्कर्षोऽयं सम्पुष्यते व्यतिरेकानुपपत्तिपरम्परया :

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।।६६।।

९. व्यक्तित्वसंग्रहस्य साधनायाः पर्यवसितफलितार्थो हि बुद्धेःप्रतिष्ठा। न सम्भवतीयं योगं विना, *नास्ति बुद्धिरयुक्तस्ये*ति। बुद्धेः प्रतिष्ठां विना नास्ति भावोदयः। अतो उक्तं भवति *नचायुक्तस्य भावने'ति* । भावनापदस्यानेकार्थेषु द्वावत्रप्रासंगिकौ। भावनेति ध्यानमिति योगवेदान्तमतौ। कर्तव्यस्य भावबीजमिदमित्यपरे मीमांसकादयः। अर्थविकल्पेन प्राप्येते व्याख्याविकल्पौ : तथाहि, *'योगं विना नास्ति ध्यानं'* तथा *'योगं विना नास्ति प्रामाणिकमूल्यबोधः'* इति। तत्त्वबोधनीतिबोधावुभौ, अविकलभावरूपत्वात्शान्तिप्रभवौ। अत उच्यते 'न चाभवयतः शान्तिरिति । अशान्तचित्ते सुखमपि न भवति सुखावहम् इति सामान्यानुभवः।

१०. योगेन मनोपरिवेशपरिष्कारपुरस्सरशुद्धबुद्धेः प्रतिष्ठा हि पर्यवसिततात्पर्यार्थो विवेचितव्यतिरेकानुपपत्तिचतुष्टयस्य। व्यतिरेकपरम्पराऽऽरूढार्थोऽयं रूपके सजीवो भवति अधश्श्लोके। इदमेव सौन्दर्यं गीताया, गीतत्वमस्याः यद्वितर्कगर्ते विलुप्तिपूर्वमेव अर्थमुद्धारयति सा

अविस्मरणीये बिम्बे :

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥६७॥

अत्र केन्द्रीयबिम्बस्तु अम्भसि वायुना नौकापहरणम्। उपमेयं कुशलं निदर्शयत्यननुशासित-मनसः परायत्ततां प्रज्ञाया अपि तत्सम्बद्धायाः।

११. यथा पवनो नौकायाः तथैव मनो हि परिवेशो बुद्धेः। महत्त्वपूर्णमिदमुपमालब्धस्पष्टीकरणम्। अननुशासिते मनोपरिवेशे नास्ति बुद्ध्यां स्थिरतालाभः। अनुशासितो मनोपरिवेशो हि पूर्वकल्पः बुद्धेः प्रतिष्ठायाः। *प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते*, अस्यैव व्यतिरेकानुवादो ह्यत्रोपमा-निबन्धः '*तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि*' इति।

यथा पूर्वश्लोके निरूपितमनुशासितमनोपरिवेशस्य त्रयः समयाः : इन्द्रियाणां रागद्वेष-वियुक्तिः (रागद्वेषवियुक्तैः), मनसोऽधीनत्वं (आत्मवश्यैः), मनसोऽपि उच्चतरानुशासना-धीनत्वञ्च (विधेयात्मा). अनया क्रमिकसाधनया परिशुद्धेन्द्रियाणां विषयेष्वनासक्त संचरणेन मनस्सहितसम्पूर्णव्यक्तित्वे या सहजताया निष्पत्तिर्भवति सा एव भावानुवादो बुद्धेः प्रतिष्ठायाः। इदं हि कथ्यमेककस्य प्रथमश्लोकस्य 'रागद्वेषवियुक्तैस्तु...प्रसादमधिगच्छतीत्यस्य। विपर्यासः प्रसज्यते यदा मनोऽभूत्वा इन्द्रियाणामनुशास्तानुगच्छति तानि। अस्यैव संग्रहः क्रियते श्लोकस्य पूर्वार्धे : *इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयत* इति। एवं विवेच्य श्लोकस्य पूर्वोत्तरार्धौ द्वयोरुक्तश्लोकयोः कुशलभावार्थसंग्रहौ।

१२. अधःश्लोके लक्षणस्य पुनर्निवचनेन उपसंहरति स्थितप्रज्ञप्रकरणम् :

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥६८॥

१३. अयं हि एकः जिज्ञासार्होपसंहारः, यस्येन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यःसर्वशः निगृहीतानि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता, इत्यस्य सम्पूर्णपूर्वचिन्तनविरोधित्वात्। पूर्वविवरणं परिशुद्धेन्द्रियैः विषयोपभोगेन न तु विषयसम्बन्धविच्छेदेन करोति स्थितप्रज्ञभावस्य सिद्धिम् :

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥६४।

अनेन सर्वथा विपरीतः प्रकृतश्लोकः स्थितप्रज्ञलक्षणत्वेन प्रस्तौतीन्द्रियविषयसम्बन्धोच्छेदम्। स्फुटमत्र स्ववचनविरोधः। उच्यते – इन्द्रियनिग्रहो हि स्थितप्रज्ञस्योपलक्षणं प्राथमिकसोपानत्वात्साधनायाः। तद्रूपेणैव न तु लक्षणत्वेनावगन्तव्यः प्रकृते इन्द्रियार्थविच्छेदकल्पः। अतो नास्ति स्ववचनविरोध इत्यनवद्यम्।

एकक विमर्श :

व्यक्तित्वसंग्रह की साधना तथा प्रकरण का उपसंहार — यह कथ्य है, ५ श्लोकों के इस एकक का. इसके आधार पर एकक के दो भाग हैं. प्रारम्भ के तीन श्लोकों (६४-६६)का पहला भाग है. स्मरण हो कि इससे पूर्व के एकक (**ध्यायते विषयान्पुंसः...**)में व्यक्तित्व के विखण्डन के क्रम को बताया गया. अब इस विभाग में व्यक्त्वित्व संग्रह की साधना का निर्वचन है. इसके तीन श्लोकों में पहला(६४) साधना के क्रम का यथारूप वर्णन है, दूसरा(६५) एकीकृत-व्यक्तित्व के भावपर्याय का, जबकि अन्तिम श्लोक(६६) व्यतिरेक की अनुपपत्ति को दिखाते हुए, यथोक्त साधना की पुष्टि करता है.

दूसरा विभाग संग्रह और उपसंहार का है. इसमें एकक के अन्तिम दो श्लोक हैं(६७-६८). प्रथम श्लोक एकक के भावार्थ का रूपकावतरण है, जब कि दूसरा लक्षण का पुनराख्यान करते हुए स्थितप्रज्ञ-प्रकरण का उपसंहार.

१. गीत की तरह अन्तर्गुम्फित प्रतिपादन शैली :

अध्याय जैसे-जैसे उपसंहार की ओर बढ़ता है, श्लोकार्थ अधिकाधिक घनीभूत होते जाते हैं. पूर्वोक्त का संग्रह और और उसमें उपवर्णनों का आधान, इनमें एक अप्रतर्क्य सघनता का निवेश करता है. इसे समझने के लिए, संरचना में अन्तर्निविष्ट सूत्रों की पहचान करना जरूरी हो जाता है, ताकि अनुवाद को उपवर्णनों से अलग करके देखा जा सके.

जैसा कि बताया जा चुका है, एकक का पहला भाग, अन्वयव्यतिरेकी पद्धति के द्वारा व्यक्तित्व-संघटन की प्रक्रिया को रेखांकित करता है. ध्यान से देखें तो यह अन्वय-व्यतिरेक परम्परा निकट और दूर के संदर्भों से जुड़कर, गीता की उस अन्तरंग प्रतिपादन शैली का

उद्घाटन करती है, जो उसकी गीतात्मकता का रहस्य है. हमने देखा कि पिछला एकक *'ध्यायते विषयान्पुंसः... बुद्धिनाशात्प्रणश्यति'* , व्यक्तित्व के बिखराव के क्रम को रेखांकित करता है, जब कि इसके ठीक विपरीत, विवेच्य एकक व्यक्तित्व संग्रह की साधना के क्रम को बताता है. इस बात का संज्ञान पारम्परिक भाष्यकारों ने भी लिया है. (शां.भा. तथा भाष्योत्कर्षदीपिका)

बिखराव का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, तत्समनन्तर एकीभाव की साधना की प्रस्तुति, दोनों के संग्रह के द्वारा स्थितप्रज्ञ के स्वरूप के निर्वचन का सिलसिला पीछे तक जाता है. वहां हमें वे संदर्भ सूत्र प्राप्त होते हैं, जिनकी व्याख्या हैं, दो एकक जिनकी हम चर्चा कर रहे हैं.

'ध्यायते विषयान्पुंसः', यह एकक पूर्व में कहे गए *'इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः'* इस बिखराव के सूत्र को परिकल्पित करते हुए प्रवृत्त होता है, जब कि प्रकृत एकक(*' रागद्वेषवियुक्तैस्तु ...कुतःसुखम्'*) का पूर्वकल्प है, सूत्र *'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः'.* पूर्वसूत्रों का संग्रह करते हुए, अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा विषय प्रवर्तन का यह क्रम आगे तक जाता है. यह अन्तर्गुम्फित शैली गीता की गीतात्मकता को, उसमें अन्तर्निविष्ट मनन का प्रयोजन – दोनों को एक साथ रेखांकित करती है.

२. *'रागद्वेषवियुक्तैस्तु ...बुद्धिः पर्यवतिष्ठते'* :

व्यक्तित्वसंग्रह की साधना : पूर्व एकक में व्यक्तित्व के क्रमिक क्षरण की प्रक्रिया का निरूपण हुआ. सम्प्रति दो श्लोकों में व्यक्तित्व संग्रह की साधना के क्रम को बताते है :

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।।६४।।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।।६५।।

अनुशासित आत्मावाला साधक, रागद्वेष से शोधित, वश में की हुई इन्द्रियों के द्वारा विषयों का सेवन करता हुआ, निर्मलता को प्राप्त हो जाता है. निर्मलता प्राप्त होने पर साधक के सम्पूर्ण दुःखों का नाश हो जाता है और ऐसे प्रसन्नचित्तवाले साधक की बुद्धि निःसंदेह जल्दी ही पूरी तरह स्थिर हो जाती है.

२.१. उक्त श्लोकों के कथ्य का विश्लेषण :

उक्त श्लोकों से इन्द्रियों के आदर्शव्यवहार की तीन शर्तें प्राप्त होती हैं : रागद्वेष से वियुक्ति, इसकी सिद्धि के लिए इन्द्रियों पर मन का अनुशासन, और अनुशास्ता मन का स्वयं अनुशासित होना. यह कर्म का आदर्श स्वरूप है.

विवेच्य श्लोक कर्म के इस आदर्श का निदर्शन कराते हुए, एक ओर उसके निष्पादन की शर्तों का संग्रह करते हैं तो दूसरी ओर आदर्श आचरण में अन्तर्निहित उस शील की पहचान करते हैं जो वापस लौटते हुए, मन और बुद्धि सहित सम्पूर्ण व्यक्तित्व को अपनी सहजता से आप्लावित करते हुए उसका उद्धारक बनता है. इस शील को गीता में **'प्रसाद'** नाम दिया है. यह सहजता है जो एक साधक में आचरण की अनवद्यनिष्पत्ति से प्राप्त होती है.

२.२. साधना के अवयव : एक अनुशासितव्यक्ति(विधेयात्मा), अपनी वशवर्ती, रागद्वेष से परिशोधित इन्द्रियों के द्वारा विषयों का उपभोग करता हुआ निर्मलता को प्राप्त करता है. प्रथम श्लोक का यह भावार्थ साधना के परस्पर सम्बद्ध चार सोपानों को परिकल्पित करता है : भूमि, साधन, व्यापार और फल. व्यक्तित्व की सहजता ही व्यक्तित्वसंग्रह की साधना का फल है. इस साधना का प्रत्येक सोपान विशेष विवरण की अपेक्षा रखता है.

३. 'विधेयात्मा' पद की व्याख्या :

३.१. विधेयात्म-क्षेत्र की पहचान की समस्या : विधेय का अर्थ है, विधान के योग्य, आदेश दिए जाने के योग्य. विधेयात्मा का अर्थ हुआ, अनुशासन के योग्य अर्थात् अनुशासित आत्मा. यह शाब्दिक अर्थ बहुतों को उलझन में डालने वाला है, खास कर उनको जो आत्मा को सर्वतंत्र-स्वतंत्र और अविधेय मानते हैं. अतः आचार्य शङ्कर, से ले कर सम्पूर्ण भाष्यपरम्परा, विधेयात्मा पद को अनुशासित मन के अर्थ में निरूपित करती है. उनके अनुसार **'विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति'**, इस वाक्य का अर्थ हुआ, 'अनुशासित मन निर्मलता को प्राप्त करता है'.

उक्त पारम्परिक व्याख्यान अपर्याप्त व्यक्तित्वदर्शन पर आधारित होने के कारण पुनर्विचार के योग्य है.यहां एक सीधा सवाल यह पैदा होता है कि यह विधेयात्मा है कौन, जिसे 'प्रसाद' की प्राप्ति होती है. 'प्रसाद' की प्राप्ति मन को होती है, या व्यक्ति को? यह सही है कि सुख- दुःखादि की भांति प्रसाद भी मन का धर्म है. वस्तुतः चित्त की समस्त अवस्थाओं का औत्पत्तिक अधिष्ठान मन

ही है. लेकिन इनसे कृतकृत्य होने वाला, इनको पानेवाला अधिकारी, व्यक्ति होता है, मन नहीं.

व्यवहार में यही कहा जाता है, '**मैंने बहुत दु:ख पाए हैं**'. कोई यह कहते नहीं सुना जाता कि '**मेरे मन ने बहुत दु:ख पाए हैं**'. कदाचित् कोई ऐसा कहे तो उससे कहा जा सकता है, मन दु:खी है तो होने दो, तुम्हें जो परेशानी है, वह बताओ. सुखदु:खादि का उद्भव जरूर मनोभूमि में होता है, लेकिन उनको पानेवाला अधिकारी व्यक्ति ही होता है. दु:ख मन में होता है, लेकिन आंसू आंखों में आते हैं, प्रसन्नता अगर सिर्फ मन की होती तो चेहरे पर चमक और मुस्कान कभी नहीं आती. उंगली कट जाने का दर्द सिर्फ पंजे का नहीं होता, सिर्फ हाथ को भी नहीं, पूरे शरीर का होता है.

'**विधेयात्मा**' का अर्थ है अधीनस्थ नैदेशिक-क्षेत्र. यत: व्यक्तित्व एक संघात है, इसमें विधेयात्मा शब्द के सापेक्ष अर्थ प्राप्त होते हैं. प्रत्येक उच्च संकाय की तुलना में अवर की विधेयता संघात के अनुशासन से प्राप्त होती है. मन के लिए इन्द्रियां विधेयात्मा हैं; इसी प्रकार बुद्धि के लिए मन, अहंकार के लिए बुद्धि विधेयात्मा हैं, अर्थात् अधीनस्थ नैदेशिक क्षेत्र हैं. साधना तथा नैतिक अनुशासन का विषय होने से सम्पूर्ण व्यक्तित्व विधेयात्मा होता है. प्रकृत में साधना का फलागम, उसका 'प्रसाद' सम्पूर्ण व्यक्तित्व का परिष्कार करता है केवल मन का नहीं. अत: मन में उसका पर्यवसान मान लेने से साधना के फल की अधूरी निष्पत्ति होगी, और श्लोक के अर्थ की भी.

३.२. मन को विधेयात्मा मानने में समस्याएं :

गीता के विद्वान् भाष्यकारों ने '**प्रसादमधिगच्छति** ' इसका अर्थ किया है '**मन निर्मलता को प्राप्त करता है**'. इस अर्थ से व्याख्या की जो समस्याएं पैदा होती हैं उनका संज्ञान लेना जरूरी है. ठीक आगे के श्लोक में यह फलश्रुति आती है, *'प्रसादे सर्वदु:खानां हानिरस्योपजायते'*, प्रसाद से सम्पन्न होने पर उसके समस्त दु:ख दूर हो जाते हैं. किसके दु:ख दूर होते हैं, मन के या व्यक्ति के? *'अशान्तस्य कुत:सुखम्'* यह वाक्य किसके बारे में है.फलागम किसको होता है, व्यक्ति को या मन को. मन तो जड़ है. उसका अभीष्ट क्या और अनभीष्ट क्या? हम अपने दु:ख दूर करना चाहते हैं, अपना अभीष्ट पाना चाहते हैं?.अगर वह हमारा नहीं है तो मन के दु:ख दूर करने का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता. अत: *'विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति'*, यहां विधेयात्मा

का अर्थ अनुशासित व्यक्ति ही हो सकता है, अनुशासित मन नहीं. अतः 'अनुशासित व्यक्ति प्रसाद(प्रसन्नता) को पाता है, यही अर्थ किया जाना चाहिए. मन का प्रसाद तो प्रक्रिया से ही प्राप्त है. इन्द्रियों के व्यवहार से उपपन्न प्रसाद, मन से होते हुए ही सम्पूर्ण संघात को, व्यक्तित्व को आप्लावित करता है. अतः मन उससे अछूता रहे यह सम्भव नहीं. किन्तु मन में उसका पर्यवसान मान लेने पर फलनिष्पत्ति अधूरी रहेगी और उसके उच्चतर विनियोग, यथा *'प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते',* सम्भव नहीं हो पाएंगे.

यह भी ध्यान देने की बात है, कि चर्चा यहां स्थितप्रज्ञ(व्यक्ति)की हो रही है, व्यक्तित्व के किसी अवयवसंकाय की नहीं. ***'स्थितधीः किं प्रभाषेत', 'किमासीत व्रजेत किम्'*** (स्थितप्रज्ञ कैसे बोलता है, कैसे बैठता है, कैसे चलता है) ये सवाल एक साकार, मांसल व्यक्तित्व को परिकल्पित करते हैं, उसके किसी निराकार संकाय को नहीं. अतः इनके निर्वचन के फलितार्थ का आगम व्यक्ति में ही होना चाहिए. 'मन' में फलागम का विनिश्चय व्यक्तित्वदर्शन की अपर्याप्त समझ पर आधारित है.

३.३. व्यक्तित्व-क्षेत्र (संघात) को 'विधेयात्मा' मानना :

एक बेहतर व्याख्या कल्प : आत्मतत्त्व के अविधेय होने और मन के अपर्याप्त विधेयक्षेत्र होने से, व्यक्तित्वसंघात में ही विधेयात्मपद का उपचार युक्त है. शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि अहंकार, ये अवयव हैं, व्यक्तित्वतंत्र के. व्यक्तित्वसंघात में अंगभूत होने से, व्यक्तित्व के किसी अवयव में आत्मा का उपचार युक्तिसंगत नहींहो सकता. जैसे यंत्र के किसी पुर्जे का यंत्र के मूलप्रयोजन के साथ कोई सीधा सम्बन्ध नहीं होता; संघात का उपकारक होने में ही उसका अस्तित्व कृतकत्य होता है, उसी प्रकार शरीरेन्द्रिय-मनबुद्धि-संघात, न कि उसका कोई अवयव 'आत्मा' शब्द के उपचार का विषय हो सकता है. संघात, जिसे हम आज की भाषा में व्यक्तित्व कहते हैं, आत्मा का व्यावहारिक कल्प है, और आत्मा में व्यवहार की अनुपपत्ति होने पर, इस संघात में ही, न कि इसके किसी अवयव में आत्मा को परिकल्पित किया जाना चाहिए.

आत्मा के अर्थ में अनुपपत्ति वहां आती है जहां उसे कारक सम्बन्धों का विषय बनाया जाता है. विधेयात्मा पद इसका उदाहरण है. गीता से ही इसका एक अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट उदाहरण नीचे दिया जा रहा है :

यस्त्वात्मरतिरेवस्यादात्मतृप्तश्च मानव:।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।। (गीता ३.१७)

आत्मा में रति, आत्मा में तृप्ति, आत्मा में ही संतुष्टि, ये कार्य एकरस आत्मा में सम्भव नहीं हैं. इनकी उपपत्ति आत्मा के एक छायाकल्प को, एक व्यक्तित्व को परिकल्पित करती है, जिसे प्रकृत श्लोक में मानव शब्द से कहा गया है. इस व्यक्तित्व में ही, न कि उसके मन आदि किसी अवयव में आत्मा का उपचार किया जाना चाहिए.

४. 'विषयानिन्द्रियैश्चरन् ...' :

४.१. इन्द्रियों का आदर्श व्यवहार और उसकी शर्तें : हमारे यहां इन्द्रिय शब्द को अक्सर भोगसाधन के संकुचित अर्थ में लेने का चलन है. इस अवांछित अर्थसंकोच के कारण इनके व्यवहार के सही अर्थ का ग्रहण नहीं हो पाता. प्राणी का आचरण कर्मेन्द्रियों के द्वारा ही सम्पन्न होता है. अतः इन्द्रियों के व्यापार का सीधा सीधा अर्थ है प्राणी का आचरण. विवेच्य श्लोक में *'विषयानिन्द्रियैश्चरन्'* का शाब्दिक अर्थ है, इन्द्रियों के द्वारा विषयों के बीच संचरण करता हुआ. इसका तात्पर्यार्थ है इन्द्रियों का व्यवहार, उनके द्वारा निष्पन्न आचरण या केवल आचरण, क्योंकि यावन्मात्र कर्म इन्द्रियों के द्वारा ही सम्पन्न होते हैं.

इन्द्रियों का आदर्श व्यवहार, मन और फिर सम्पूर्ण व्यक्तित्व में जिस विरल गुण का आधान करता है, वह है प्रसाद अर्थात् सहजता. इन्द्रियों की आदर्श प्रवृत्ति की दो, या यों कहें कि तीन आधारभूत शर्तें हैं : (१)इन्द्रियों का रागद्वेष से मुक्त होना (रागद्वेषवियुक्तै:), यह मूल शर्त है. (२) इन्द्रियों का अनुशासित होना (आत्मवश्यै), तथा अनुशासक व्यक्तित्व का स्वयं अनुशासित होना, ये दो उसकी उपपादक शर्तें हैं.

यतः इन्द्रियों में रागद्वेष व्यक्तित्व के मनोवैज्ञानिक उपादानों से प्राप्त होते है, इनका निराकरण इन्द्रियों से परे मन और व्यक्तित्व में अनुशासन की साधनाओं को परिकल्पित करता है. इस प्रकार इन्द्रियों के आदर्श व्यवहार की ये तीन शर्तें त्रिधा अनुशासन को पूर्वकल्पित करती हैं. अनुशासित-व्यक्तित्व (विधेयात्मा) की चर्चा के बाद प्रसंगप्राप्त है यहां रागद्वेषवियुक्ति और उसमें परिकल्पित साधना का विवरण.

४.२. *'रागद्वेषवियुक्तैस्तु... '* का अर्थ :

इन्द्रियों का रागद्वेष से मुक्त होना, यह इन्द्रियों के आदर्श व्यवहार की पहली शर्त है. विचारणीय बात यह है कि इन्द्रियां रागद्वेष का औत्पत्तिक अधिष्ठान नहीं होतीं. वे इसे यथाक्रम मन से प्राप्त करती हैं. पूर्व एकक में मन में विषयानुध्यान के द्वारा राग की उत्पत्ति की बात कही है : ***ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते.*** मूलवासना, जोकि एक निराकार मौलिक उत्प्रेरक है, विषयानुध्यान के द्वारा आसक्ति के रूप में व्यक्त होती है, आकार ग्रहण करती है. कर्म की सार्थक उपपत्ति के लिए, इन्द्रियों तक पहुंच कर यह आसक्ति, रागद्वेष का आकार लेती है, अधिक विविक्त, अधिक मुखर.

रागद्वेष का मूल, मन की गहराइयों में बैठी आसक्ति में होने से इन्द्रियों में साक्षात् उसका निराकरण सम्भव नहीं. मन में अनुध्यान के निराकरण से, आसक्ति का निराकरण होने पर ही इन्द्रियों में रागद्वेष से विमुक्ति सम्भव है. अतः अनुध्याननिरोधरूपा मन की साधना रागद्वेषविमुक्ति की पहली शर्त है. मन की साधना उच्चतर अनुशासन को परिकल्पित करती है. यह अनुशासन व्यक्तित्वसंघात का ही हो सकता है, जो स्वयं अनुशासित हो, कारण कि अननुशासित अनुशास्ता किसी अनुशासन में प्रमाण नहीं हो सकता. अतः अनुशासित व्यक्तित्व इन्द्रियों में रागद्वेषविमुक्ति की साधना की दूसरी शर्त है. ***'आत्मवश्यैः'*** पद से इन्द्रियों पर प्राप्त दोहरे अनुशासन का संग्रह किया गया है, जब कि ***'विधेयात्मा'*** पद से अनुशासित व्यक्तित्व का, जो इन्द्रियों सहित मन का भी अनुशास्ता है. कहने की आवश्यकता नहीं, व्यक्तित्व में अनुशासन की सिद्धि शास्त्रों से, ज्ञान और योग से सम्पन्न होती है.

४.३. इन्द्रियों का अनासक्तसंचरण :

एकीकृत व्यक्तित्व की मौलिक उपलब्धि : उक्त शर्तों को पूरा करते हुए, रागद्वेष से मुक्त हुई इन्द्रियां जब विषयों को ग्रहण करती हैं, तब उनकी यह प्रवृत्ति किसी हर्ष विषादादि विकार को जन्म नहीं देती. वह एक सहज व्यापार होता है, पशुओं द्वारा चरागाह में संचरण की तरह. विषयों का यह संग्रह किसी मूल्यविनिश्चय, उससे उत्पन्न इच्छा और संकल्प के क्रम से प्राप्त नहीं होता. यह इन्द्रियों के स्व-भाव की अभिव्यक्ति है, केवल, अव्यवहित और निर्विकल्प, बिना किसी मिलावट के. **इस परिशुद्ध विषयोपभोग को भोग नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भोग एक**

अर्जित सम्पदा है, जो व्यक्तित्व में भोक्ता, भोग और भोग्य के भेद से प्राप्त उद्यम को परिकल्पित करती है. आसक्तिनिरपेक्ष विषयोपलब्धि स्वभाव की अविकल अवगति है, बिना किसी टूट के बिना किसी जोड़ के. परिशुद्ध विषयोपभोग का निसर्ग भावपर्याय है 'प्रसाद'.

५. 'प्रसाद' : अविकल स्वरूप का भाव-पर्याय :

भोग का स्थायीभाव है *'तुष्टि'*, स्वभावावगति का स्थायीभाव है सहजता अर्थात् *प्रसाद*. स्व-भाव की अवगति, अस्तित्व में जिस सहजता का संचार करती है उसी का नाम है प्रसाद. परिशुद्धविषयोपभोग से निष्पन्न यह सहजता संक्रामक होती है; वह रागद्वेषवियुक्ति के जिन साधनासोपानों को तय करते इन्द्रियों के व्यवहार में निष्पन्न होती है, उन्हीं से वापस लौटती है, मन, बुद्धि अहंकार सहित सम्पूर्ण व्यक्तित्वक्षेत्र को अपने स्पर्श से आप्लावित करती है.

यहां साधना के विनिर्गम (प्रस्थान) और प्रसाद से आप्लावित होकर उसके प्रत्यागम (वापसी) में एक महत्त्वपूर्ण गुणात्मक अन्तर देखने में आता है. इन्द्रियों की परिशुद्धि, उनके द्वारा विषयोपभोग, उस उपभोग से प्रसाद की निष्पत्ति पर्यन्त जो विनिर्गम है, वह विधेयात्मा में, यह अधिक सही होगा कि विधेयात्म-पर्यायों में (अहंकार, बुद्धि, मन और इन्द्रियों में)अनुशासन की साधना है.यह साधना अपने निवर्तन बिन्दु पर पहुंच कर, प्रसाद से फलवती होकर जब वापस लौटती है तो प्रसाद को वितरित करती उसकी धारा विधेयात्म-पदों का व्यक्तित्व के एकीभाव में उद्धार करती जाती है. विधेयात्मग्रन्थि खुल जाती है; विधेयात्मा, विधेयात्मा नहीं रह जाता.

६. प्रसाद के फलितार्थ : *'प्रसादे सर्वदु:खानां ...'* :

विधेयात्मा का स्वारस्य है अनुशासन, अनुशासन का स्वारस्य है निरोध(संयम). जहां अनुशासन है, निरोध है, वहां सहजता नहीं होती. प्रसाद का संक्रमण विधेयात्म-पर्यायों का अपनी सहजता में उद्धार करता जाता है. यह सहजता ही व्यक्तित्वसंग्रह की साधना का फल भी है, एकीकृत व्यक्तित्व का प्रमाण भी. प्रसाद का फलितार्थ बताने के लिए अगला श्लोक प्रवृत्त होता है :

प्रसादे सर्वदु:खानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धि: पर्यवतिष्ठते।।

प्रसाद से युक्त होने पर इसके समस्त दुःखों का अपलाप हो जाता है और उस निर्मलचित्तवाले पुरुष की बुद्धि शीघ्र ही पूरी तरह से स्थिर हो जाती है.

यहां प्रसाद के दो फलितार्थ बताए : समस्त दुःखों की हानि, तथा निर्मलचित्त हुए व्यक्ति में बुद्धि की अविचल प्रतिष्ठा. दोनों ही निकट विवेचना की अपेक्षा रखते हैं, इसलिए क्योंकि अभी तक तो इस प्रसाद का रूप भी पूरी तरह स्पष्ट नहीं है, जिसे सर्वदुःखहानि जैसी भारीभरकम फलश्रुति से जोड़ कर प्रस्तुत किया गया है.

६.१. श्लोक की व्याख्या :

जिसके होने पर प्राणी के अशेष दुःख नष्ट हो जाते हैं, वह प्रसाद है क्या? प्रसाद जिस रूप में हम इसे जानते हैं एक भाव है, जो दैनिक जीवन में अनेक छायाओं में हमारे सामने आता है. इसे हम भलीभांति पहचानते हैं, भले ही इसे व्याख्यायित न कर पाएं. स्वयं गीता इसे 'प्रसन्नता' के पर्याय रूप में प्रस्तुत करती है (***प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते***). भाष्यकारों ने इसका अर्थ निर्मलता किया है. इस व्याख्यान में इसके लिए 'सहजता' शब्द का प्रयोग किया गया है. ये सभी अर्थ प्रसाद की भावच्छायाएं हैं, जो मूलभाव को समझने में मदद करती हैं.

किसी कठिन समस्या से जूझता हुआ व्यक्ति जब निर्णय तक पहुंचने में सफल हो जाता है, उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व हलका हुआ महसूस करता है, तब उसके इस एहसास को 'प्रसाद' नाम दिया जा सकता है. जब कोई व्यक्ति नहा धो कर, साफसुथरे कपड़े पहन कर बैठता है, तब एक बेवज़ह आन्तरिक प्रसन्नता उसे अपनी गोद में उठा कर दुलार जाती है, तो वह प्रसाद का ही स्पर्श होता है. इसे खुशी नहीं कह सकते, सुख या आनन्द भी नहीं कह सकते, क्योंकि भीतर या बाहर, इसका कोई कारण दिखने में नहीं आता. **अपनी सत्ता का स्पर्श, अपने होने का एहसास ही यहां भाव रूप में व्यक्त होता है. अपने होने के एहसास से अधिक अन्तरंग, अधिक सहज कोई भाव नहीं हो सकता. एहसास की यह सहजता ही 'प्रसाद' है.**

६.२. प्रसाद के 'सामान्य' और 'विशेष' अर्थ :

यह प्रसाद समस्त दुःखों को नष्ट करने वाला कैसे हो सकता है? प्रसाद का अनुभव दैनिक जीवन में अक्सर होता रहता है. इससे समस्त दुखों का अपलाप तो नहीं हो जाता. प्रसाद

के अनुभव के बाद भी दुःख बने रहते हैं. फिर कैसे कह दिया ' *प्रसादे सर्वदु:खानां हानिरस्योपजायते'*. इस कथन की अनुभवविरुद्धता 'प्रसाद' के स्वरूप पर पुनर्विचार करने और सामान्य में उस विशेष की तलाश करने को विवश करता है जिसमें यह फलश्रुति घटित हो सके.

जब सम्पूर्ण व्यक्तित्व अपने सहजभाव में प्रतिष्ठित होता है, तभी वह **'प्रसाद'** का अनुभव करता है. सुखदुःखादि पैने भावों को भोगने के लिए व्यक्तित्व को अपने को विभाजित करना पड़ता है. ऐसे क्षणों में व्यक्तित्व भोक्ता, संस्पर्श और तज्जन्य भोग्यसंवेदना में विभाजित हो कर, अर्थात् असहज हो कर ही भोग की उपलब्धि कर पाता है. इससे भिन्न है प्रसाद का अनुभव; वह दैनिकचर्या में अनायास प्राप्त होता हो या फिर उसे साधना के द्वारा हर स्थिति में अविभाजित व्यक्तित्व प्रसाद के आविर्भाव की आधारभूत शर्त है. पारिभाषिक भाषा में कहें तो प्रसाद एकीकृतसत्ता का भावविमर्श है.

६.३. *'प्रसादे सर्वदु:खानां हानिरस्योपजायते'* का अर्थ :

'प्रसाद' से प्राणी के समस्त दुःखों की हानि हो जाती है, यह फलश्रुति केवल साधना के द्वारा अर्जित प्रसाद के बारे में ही सार्थक है. *प्रसाद* के अनायास दौर, भंगुर और अल्पावधिक होते हैं अतः इनसे किसी प्रभावी परिणाम की अपेक्षा नहीं की जा सकती.

पुनः यह कहा जा सकता है कि 'प्रसाद' से सम्पन्न होने पर **'समस्त दुःखों की हानि हो जाती है,'** यह कथन अनुभवप्रतिषिद्ध है. प्रसाद और समस्त दुःखों की हानि के बीच कोई कार्यकारण सम्बन्ध दिखने में नहीं आता. वस्तुतः प्रसाद यहां व्यक्तित्वसंग्रह की साधना का उपलक्षण है. अतः *'प्रसादे सर्वदु:खानां हानिरस्योपजायते'* इस वाक्य का अर्थ हुआ 'उस साधना के द्वारा जो प्रसाद में पर्यवसित होती है, समस्त दुःखों की हानि हो जाती है.' दुखहानि प्रसाद से नहीं प्रसादोपलक्षित साधना से होती है.

६.४. *'दु:खहानि '* पद के निहितार्थ :

इन्द्रियों के रागद्वेष से मुक्त करने की साधना, जिसकी चर्चा ऊपर विस्तार से हो चुकी है, इन्द्रियों तथा उनसे पूर्व की (मन आदि) विधेयभूमियों में सम्पन्न होती है. ये राग और द्वेष ही हैं, जो इन्द्रियोपलब्धि को सुखात्मक या दुःखात्मक बनाते हैं. जिसमें राग है, उसकी प्राप्ति से सुख और जिसमें द्वेष है उसकी प्राप्ति से दुःख होता है. राग और द्वेष से मुक्त हुई इन्द्रियों की

विषयोपलब्धि सुख और दुःख के विनिश्चयों से मुक्त होती है. यदि ऐसा है, तब यह क्यों कहा गया कि 'समस्त दुःखों की हानि हो जाती है'. कहा तो यह जाना चाहिए था कि 'समस्त सुखों और दुःखों की हानि हो जाती है.'

इस प्रकार की आशंका निराधार है, क्योंकि जिसे हम सुख मानते हैं, वह भी अन्ततः दुःख रूप ही है. गीता के अनुसार, यावन्मात्र संस्पर्शजन्यभोग दुखरूप ही हैं :

ये हि संस्पर्शजाः भोगाः दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।।

'जो भी संस्पर्शजन्यभोग हैं, वे आदि और अन्त वाले होने से दुःखमूल है, अतः ज्ञानी को उनमें मन नहीं लगाना चाहिए'. सुख का भी पर्यवसितार्थ दुःख ही है. अतः '**प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते**' इतना भर कहना पर्याप्त माना गया. लेकिन एक अन्य आधार पर इसे न्यूनोक्ति कहा जा सकता है.

रागद्वेष हानोपादेय रूप में भोगों को उनका अर्थ देते हैं. इन्द्रियां जब उनसे मुक्त होती हैं तो केवल सुख या दुःख की नहीं, यावन्मात्र भोगों की हानि होती है. ये राग और द्वेष ही हैं जो कर्मपरिणाम में मूल्याधान करते हैं, उसे फलरूप में विनिश्चित करते हैं तथा उसकी उपलब्धि को भोग की पहचान देते हैं. रागद्वेष से मुक्त हुई इन्द्रियों की विषयोपलब्धि, एक सहज निराकांक्ष कर्म है; इसे भोग नहीं कहा जा सकता. स्वभाविक कर्म 'भोग' नहीं होते, निराकांक्ष और मूल्याधानरहित होने के कारण, जैसे सांस लेना, सोना, छींकना आदि.

रागद्वेष से मुक्त हुई इन्द्रियां, बिना किसी संकल्प और मूल्यविनिश्चय के, जब केवल स्वभाव से विषयों में प्रवृत्त होती हैं, तब उनकी इस प्रवृत्ति को भोग नहीं कहा जा सकता. लेकिन ऐसी प्रवृत्ति में स्वभाव की सहजता होती है, अपने होने की चेतना का निसर्ग सौन्दर्य. इसी को गीता में 'प्रसाद' नाम दिया गया है. प्रसादोपलक्षित-साधना द्वारा सुखदुःखादि यावन्मात्र भोगों का क्षय हो जाता है, यह भावार्थ है *'प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते'* इस वाक्य का.

रागद्वेष आचरण की ही नहीं, विचार की यांत्रिकी को भी विकृत करते हैं. व्यक्तित्वसंग्रह की साधना, रागद्वेष के निराकरण के द्वारा द्विधा प्रसादपर्यायों को जन्म देती है, इन्द्रियों में गति

की सहजता को, और मन में ठहराव की सहजता को इनके बीच जो सामान्य तत्त्व है वह है सहजता अर्थात् प्रसाद. जिन उपलब्धियों का प्रसाद के फल के रूप में प्रस्तुत किया गया है वे वस्तुतः प्रसादोपलक्षितसाधना का फल हैं, यह बात पहले कह आए हैं.

'प्रसाद' के पास अपनी मुस्कुराहट के सिवा, कुछ भी देने को नहीं होता. देने के लिए टूटना पड़ता है, सृजन की प्रक्रिया से गुज़रना पड़ता है. प्रसाद तो स्वरूपावगति का भावानुवाद है. एकीकृत व्यक्तित्व का एहसास, उसकी महक. *प्रसाद* का विश्लेषण नहीं होता; किसी भी सरल इकाई का विश्लेषण नहीं हो सकता क्योंकि वह निरवयव होती है. हां, उसकी पहचान को रूपायित करने के लिए निकट और दूर के पर्याय तलाशे जा सकते हैं. ये पर्याय उसके अर्थ को समझने में मदद करते हैं.

रागद्वेष के निराकरण के द्वारा व्यक्तित्वसंग्रह की साधना के क्रम में प्राप्त ऐसे ही दो प्रसाद-पर्याय हैं, 'आचरण की सहजता' और 'मन की निर्मलता'. *'रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्....'* इस श्लोक में आचरण की सहजता का निरूपण करने के बाद, ***'प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धि:पर्यवतिष्ठते'*** यह श्लोक मन की निर्मलता और उसके उपकारक परिवेश में बुद्धि की प्रतिष्ठा को परिकल्पित करता है.

६.५. 'प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धि:पर्यवतिष्ठते ':

'प्रसाद' के बारे में दूसरी फलश्रुति : इसके निहितार्थ : *'प्रसन्नचित्तवाले साधक की बुद्धि नि:संदेह जल्दी ही पूरी तरह स्थिर हो जाती है',* इस फलश्रुति में 'मन की निर्मलता', 'बुद्धि का सब ओर से स्थिर हो जाना' इन दो तथ्यों को प्रस्तुत करते हुए उनके बीच उपकार्य- उपकारकभाव की ओर संकेत किया गया है.

६.६. 'प्रसाद' को निर्मलता का पर्याय मानते हुए व्याख्या :

'प्रसाद' का ही एक अर्थ है निर्मलता, स्वच्छता. निर्मलता कहीं भी हो सकती है, किन्तु मालिन्य और निर्मलता, दोनों का ही सहज संक्रमण होता है सरल, पारदर्शी माध्यमों में. लोक में स्वच्छता और मलिनता के उदाहरण दर्पण, पानी और आकाश में तलाशे जाते हैं. इन सब माध्यमों से कहीं अधिक तरल, अधिक पारदर्शी है मानव का मन. मालिन्य और निर्मलता

की अनन्त सम्भावनाओं का यह कोष, यथोक्त प्रसादपर्यन्त साधना के द्वारा उस निर्मलता को प्राप्त करता है, जिसे यहां '**प्रसन्नचेतसः**' शब्द से कहा है.

मन की निर्मलता, बुद्धि की स्थिरता का पूर्वकल्प है, और मन की निर्मलता का पूर्वकल्प है स्वयं मन का ठहराव. बिना मन की निर्मलता के बुद्धि सही निर्णय नहीं ले सकती, और मन तब तक निर्मल नहीं हो सकता जब तक कि वह रागद्वेष का निराकरण करते हुए अपने लिए ठहराव की सिद्धि नहीं कर लेता.

मन में ठहराव कितनी दुर्लभ उपलब्धि है, यह वे ही जानते हैं, जिन्हें अन्तर्निरीक्षण का, अपने भीतर झांक कर देखने का थोड़ा बहुत अभ्यास है. जिस मनोभूमि में सोते जागते तूफान उठते रहते हैं, उसमें ठहराव से बड़ा अकल्पितकल्प (अजूबा) क्या होगा? ध्रुवप्रदेशों के बारे में सुनते हैं कि वहां निरन्तर बर्फीले तूफान उठते रहते हैं, जो एक पल के लिए भी नहीं रुकते. कुछ ऐसे ही, शायद उनसे भी बीहड़ तूफानों की भूमि है यह मन. जो कुछ भी इसके परिवेश में है, इन्द्रियां हों या बुद्धि, इसकी आक्रमक झकझोर से बच नहीं पाता.

बुद्धि को अपने निर्णय की स्वतंत्रता का बहुत अभिमान होता है. लेकिन वास्तविकता यह है, कि उसके निर्णय भी उसके अपने नहीं होते, मन की गहराइयों से आते अनबूझ निर्देश उन्हें बिना बताए अपने हिसाब से नापते जोखते और ढालते चलते हैं. अक्सर लोगों को कहते सुना है, '**मैंने बहुत सोच कर यह फैसला किया है**'. यह बिना सोच का, एक दिलचस्प, बहुत ही सोचा समझा उदाहरण है.

६.७. निर्मल मन के बिना बुद्धि के स्वतंत्र निर्णय असम्भव :

बुद्धि का सोच समझ कर फैसला तो तब हो जब निर्णय में सोच समझ के अलावा किसी विजातीय सत्ता का हस्तक्षेप न हो. अन्तर्मन की अतल गहराइयों से आते ज्वार-भाटे बुद्धि को निरन्तर डांवांडोल रखते हैं, उसके हर फैसले में दखल रखते हैं. मन के भी अनेक तल हैं. थोड़े अभ्यास से अपने निर्णयों में हम मन के हस्तक्षेप को देख सकते हैं. मन कहता है कि " ये अपने हैं, 'तुझे अपनों को मदद पहुंचानी है', 'दुश्मनों से हिसाब किताब पूरे करने हैं', 'वायदे निभाने हैं' 'वायदे तोड़ने हैं' वगैरह वगैरह.". ये सभी भावविमर्श हमारे सोचविचार कर किए गए निर्णय

में निर्णायक होते हैं. ये तो मन के सतही, चेतन-तल का हस्तक्षेप है जिसे कोशिश करके देखा जा सकता है. लेकिन मन की गहराइयों से आती अवचेतन और अचेतन की सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अदृश्य उत्प्रेरणाएं हमारे निरीक्षण का विषय बिना बने ही हमारे निर्णयों को अपने हिसाब से बना लेती हैं. नासमझ हैं वे लोग जो कहते रहते हैं कि 'हमने बहुत सोच समझ कर निर्णय लिया है'. पहले यह तो देखें कि बुद्धि सोचसमझ कर निर्णय लेने की स्थिति में है भी या नहीं.

६.८. बुद्धि का भाव-परिवेश है मन : स्वतंत्र निर्णय लेने के लिए जरूरी है, बुद्धि का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होना. इसके प्रतिरोधक हैं मन के संवेग, सतत आक्रामक और गतिशील. **मन बुद्धि के लिए परिवेश है, ठीक वैसे ही जैसे वायुमण्डल प्राणियों के लिए. अस्थिर मनोपरिवेश बुद्धि को चैन से बैठने नहीं देता. अत: मनोपरिवेश की शुद्धि, बुद्धि की प्रतिष्ठा की आधारभूत शर्त बन कर सामने आती है. इसी को ध्यान में रखते हुए योग का उपदेश हुआ है.**

७. *'नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य...'* :

७.१. पूर्वोक्त निष्कर्षों की व्यतिरेकमुखेन पुष्टि : बुद्धि की प्रतिष्ठा मन की परिशुद्धि के बिना नहीं, परिशुद्धि साधना (योग) के बिना नहीं. इस व्यतिरेक परम्परा को बताने के लिए अग्रिम श्लोक प्रवृत्त होता है :

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयत: शान्तिरशान्तस्य कुत: सुखम्।।६६।।

साधनरहित पुरुष की बुद्धि प्रतिष्ठित नहीं होती; साधनरहित की भावना(ध्यान) नहीं बनती. भावनारहित पुरुष को शान्ति नहीं मिलती और अशान्त को सुख कैसे हो सकता है.

७.२. श्लोक की व्याख्या :

पहले के दो श्लोकों में व्यक्तित्वसंग्रह की साधना की रूपरेखा प्रस्तुत की गई. शुद्धबुद्धि की प्रतिष्ठा इस साधना की परमोपलब्धि है : ***'प्रसन्न चेतसो ह्याशु बुद्धि: पर्यवतिष्ठते'***. इस निष्कर्ष की अब व्यतिरेकमुखेन पुष्टि करते हैं.

'नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य' इसमें **'अयुक्तस्य'** पद का अर्थ है *'जो उपाय से रहित है ऐसे व्यक्ति की'*. उपाय से तात्पर्य है **योग**. जिसने योग की साधना नहीं की, ऐसा व्यक्ति की शुद्धबुद्धि

नहीं होती. योग की साधना के बिना शुद्धबुद्धि की प्रतिष्ठा सम्भव नहीं, यह आशय हुआ ***'नास्तिबुद्धिरयुक्तस्य'*** इस वाक्य का.

इस क्रम में दूसरी व्यतिरेकोपपत्ति है : ***'न चायुक्तस्य भावना'***. योग के बिना भावना नहीं बनती. 'भावना' एक पारिभाषिक शब्द है, जिसके व्याकरण, योग, वेदान्त, मीमांसा और आयुर्वेद में अलग अलग अर्थ प्राप्त होते हैं. हमारे लिए दो अर्थ ध्यान देने योग्य हैं. योग और वेदान्तदर्शन में भावना का अर्थ है ध्यान : ***'न चायुक्तस्य भावना, निदिध्यासनात्मिका विजातीय-प्रत्ययान्तरितसजातीयप्रत्ययप्रवाहरूपा'*** — **मधुसूदनी**. किसी अन्य विषय के व्यवधान से मुक्त, एक ही विषय के प्रत्ययों के मनोप्रवाह का नाम है भावना. यह ध्यान का ही रूप है. **इस प्रकार 'न चायुक्तस्य भावना' का अर्थ हुआ, 'योग' के बिना ध्यान नहीं होता'.**

'भावना' शब्द का दूसरा प्रसिद्ध अर्थ है, कर्तव्य का भावबीज. यह अर्थ कर्मकेन्द्रित, आचारपरायण मीमांसादि सम्प्रदायों के लिए अभीष्ट है. मीमांसक इसे इन शब्दों में परिभाषित करते हैं : *भवितुर्भवनानुकूलो भावयितुर्व्यापार विशेषः.* किए जाने वाले कर्म की उपपत्ति में प्रवर्तक के व्यापार विशेष का नाम है भावना. 'यह करो' ऐसा कहने से सुनने वाले में कर्म में प्रवृत्ति का उपकारक जो मनोभाव आकार लेता है उसी को भावना कहते हैं. आज की भाषा में इस पारिभाषिक अर्थ को कहने के लिए 'नैतिकबोध', या 'मूल्यबोध' जैसे शब्द प्रचलित है. **'भावना' के इस वैकल्पिक अर्थ को स्वीकार करने पर 'न चायुक्तस्य भावना' का अर्थ होगा, 'अयुक्त' अर्थात् योग की साधना से रहित अन्तःकरण में प्रामाणिक मूल्यबोध की उपपत्ति नहीं होती'.**

'योग के बिना ध्यान की उपपत्ति नहीं होती' तथा ***'योग से रहित अन्तःकरणमें प्रामाणिक मूल्यबोध की उपपत्ति नहीं होती'***, ये दोनों ही अर्थ स्वीकार किए जा सकते हैं, बिना किसी विप्रतिपत्ति के. ध्यान और प्रामाणिकआचरण, दोनों ही स्वरूपावगति के अलग अलग साधन है. यहां साधनभेद है फलभेद नहीं. अतः यहां एक सीमित दायरे में व्याख्याविकल्प स्वीकार करने से कोई सैद्धान्तिक समस्या पैदा नहीं होती.

'भावना' नाम है स्वरूपावगति का, जो ध्यान या कर्म के द्वारा अपने को परिभाषित करती है. स्वरूप से भिन्न अर्थात् विषय की स्पृहा ही अशान्ति का मूल है. स्वरूपावगति में

विषयस्पृहा की उपरति अर्थात् शान्ति अर्थतः प्राप्त है. 'अभावयतः' का अर्थ है, भावना के व्यवहार की, तन्निरूपित स्वरूपावगति की अप्राप्ति. स्वरूपावगति की रिक्तता को पूरा करता है विषयाभिनिवेश, जो अशान्ति का ही दूसरा नाम है. अतः यह व्यतिरेकानुबंध : *न चाभावयत:शान्ति:.'*

जहां अशान्ति हो, वहां सुख के समस्त साधन उपलब्ध होने पर भी सुख नहीं होता. चित्त व्यग्र हो तो षडरस व्यंजन अच्छे नहीं लगते, सुकोमल शैय्या में नींद नहीं आती, मनोरंजन मन को छूते नहीं, अशान्त चित्त में सुख की अनुपपत्ति रोजमर्रा के अनुभव की बात है. इस बात को समझने के लिए ब्रह्मानंद तक जाने की जरूरत नहीं है. अतः कहना पड़ा : ***'अशान्तस्य कुत: सुखम्'***. चित्त की शान्ति हर उपलब्धि के भोग की पूर्व शर्त है, उपलब्धि लौकिक हो अलौकिक हो, या फिर रसात्मक तत्त्वानुभव ही क्यों न हो.

८. *'इन्द्रियाणां हि चरतां ....'*

८.१. एक श्लोक में एकक का भावार्थ : ऊपर दिए तीनों श्लोकों का पर्यवसित तात्पर्यार्थ है, व्यक्तित्व के एकीभाव की साधना, और उसकी परमोपलब्धि, शुद्धबुद्धि की प्रतिष्ठा. इस प्रतिष्ठा की पूर्वशर्त है, परिशुद्ध-मनोपरिवेश, जो उपायरूप में योग की साधना को परिकल्पित करता है.

ऊपर दिए श्लोक के व्यतिरेकप्रपंच में जा कर उलझा यह केन्द्रीय संदेश आगे काव्यात्मक अभिव्यक्ति में जीवन्त हो उठता है. यही गीता का सौन्दर्य है, उसका गीतत्व, जो वितर्क में विलुप्त होने से पूर्व ही अर्थ का उद्धार करके उसे एक अविस्मरणीय बिम्ब की मुखर पहचान दे जाता है नीचे दिया श्लोक इसका निकट निदर्शन है :

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।।६७।।

इन्द्रियों के विषयों के बीच संचरण करते जिसका मन उनका अनुसरण करता है, वह (मन) उसकी प्रज्ञा का उसी प्रकार अपहरण कर लेता है जैसे जल में नौका को वायु हरण करके ले जाती है.

८.२. श्लोक की व्याख्या :

उपमा के द्वारा संग्रह और स्पष्टीकरण : श्लोक में केन्द्रीय बिम्ब है जल में नाव को पवन के द्वारा उड़ा ले जाना. यह उपमा मन और बुद्धि के सम्बन्धों का निदर्शन भी है और उनका स्पष्टीकरण भी. अनियंत्रित मन उसी तरह प्रज्ञा(बुद्धि)का अपहरण करके मनमानी दिशा में ले जाता है, जैसे नाव को पवन. लोक में अनियन्त्रित परिवेश का सर्वाधिक मुखर निदर्शन तो हवा के झोंके ही है. भटकाव और अव्यवस्था इसकी सहज परिणति है. मन के अनियंत्रित स्वरूप और व्यवहार का इससे अच्छा उदाहरण नहीं हो सकता.

नाव के लिए पवन परिवेश है. इसी प्रकार बुद्धि के लिए मन परिवेश है, यह स्पष्टीकरण हमें इस उपमा से ही प्राप्त होता है. इसी को ध्यान मे रखते हुए पूर्व के श्लोको की व्याख्या में *'मनोपरिवेश'* शब्द का जो प्रयोग किया गया है, यह उपमा उसका स्पष्टीकरण है. मनोपरिवेश अगर अनुशासित नहीं है, तो बुद्धि तो कार्य करती हो सकती है, उसमें ठहराव नहीं होगा. यह ठहराव ही है जो बुद्धि को प्रज्ञा में, काम में आनेवाले उस जीवनदर्शन में ढालता है, जिसे आस्था कहते हैं. अनुशासित मनोपरिवेश बुद्धि की प्रतिष्ठा का पूर्वकल्प है : ***प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते***, इसी का व्यतिरेकानुवाद है, ***'तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि'***.

अनुशासित मनोपरिवेश की तीन आधारभूत शर्तें हैं : इन्द्रियों का रागद्वेष से मुक्त होना(रागद्वेषवियुक्तैः),मन के अधीन होना (आत्मवश्यैः) और स्वयं मन का उच्चतर अनुशासन के अधीन होना (विधेयात्मा). इस साधनाक्रम के द्वारा अनुशासित इन्द्रियों का विषयों में व्यवहार, मन सहित सम्पूर्ण व्यक्तित्व में जिस सहज परिवेश का निर्माण करता है, वह सहजपरिवेश अर्थात् 'प्रसाद' बुद्धि की प्रतिष्ठा की प्राथमिक शर्त है. यही एकक के प्रथम श्लोक का कथ्य है :

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।।६४।।

इससे भिन्न स्थिति वह है जब मन इन्द्रियों का अनुशास्ता न हो कर उनके पीछे चलने वाला, उनका अनुगामी हो कर चलता है. इस विपरीत स्थिति की कल्पना विवेच्य श्लोक की प्रथम पंक्ति में की गई है : ***'इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते'***. इस प्रकार विवेच्य श्लोक

के पूर्वार्ध और उत्तरार्ध, ऊपर दिए दो श्लोकों (६४-६५) का व्यतिरेकमुखेन संग्रह करते हैं. श्लोक में कोई नहीं बात नहीं कही गई है. लेकिन पूर्वोक्त की पुष्टि सम्यक् प्रतिपत्ति और मनन लिए इसकी उपयोगिता से इन्कार नहीं किया जा सकता.

९. श्लोक *'तस्माद्यस्य महाबाहो ...'* :

नीचे दिया श्लोक स्थितप्रज्ञ के लक्षण का पुनर्निर्वचन करते हुए प्रकरण का उपसंहार करता है :

तस्माद्यस्य महाबाहो निग्रहीतानि सर्वश:।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।६८।।

इसलिए हे महाबाहो! जिस मनुष्य की इन्द्रियां इन्द्रियविषयों से सर्वथा निग्रहीत हैं, उसकी बुद्धि स्थिर है.

९.१. सम्पूर्ण प्रकरण का निर्णय वाक्य :

'इसलिए हे महाबाहो' (तस्माद्यस्य महाबाहो ...) इस हेतु-गर्भित समारम्भ से यह स्पष्ट है कि श्लोक प्रकरण के निष्कर्ष को कह रहा है. यह निष्कर्ष खासी उलझन में डालने वाला है. ऊपर के चार श्लोकों में जो कुछ कहा है, उसे निरस्त करता, यहां दिया स्थितप्रज्ञ का लक्षण विचार के लिए विवश करता है : *यस्येन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्य: सर्वश: निग्रहीतानि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता* — जिसकी इन्द्रियां इन्द्रियविषयों से पूरी तरह निग्रहीत हों, उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है.

९.२. निष्कर्ष में विरोधाभास :

ऊपर दिए श्लोकों में स्थितप्रज्ञ की साधना का जो विवरण प्राप्त होता है, उसमें परिशुद्ध इन्द्रियों के द्वारा विषयोपभोग की बात की गई है, विषयों से सम्बन्धविच्छेद की बात नहीं. (*रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्*). इतना ही नहीं, यह परिशुद्ध विषयोपभोग प्रसाद का जनक होते हुए बुद्धि की प्रतिष्ठा का अपरिहार्य निमित्त बनता है (प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धि:पर्यवतिष्ठते) . वर्तमान श्लोक, इसके ठीक विपरीत, इन्द्रियों के इन्द्रियविषयों से आत्यन्तिक विच्छेद को स्थितप्रज्ञ के लक्षण के रूप में प्रस्तुत करता है: : *यस्येन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्य: सर्वश: निग्रहीतानि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता.*

९.३. सम्भावित समाधान :

यह विरुद्धवचन इतना मुखर है कि इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती. गीता के विद्वान् विचारकों ने इस ओर ध्यान देना आवश्यक नहीं समझा, तो इससे इसका बोझ हल्का नहीं हो जाता. समाधान के लिए जो सम्भावित व्याख्याविकल्प हो सकते हैं, उनकी ओर संकेत मात्र कर रहे हैं :

१. यह कि विवेच्य श्लोक में परिकल्पित इन्द्रियनिग्रह स्थितप्रज्ञ का लक्षण न हो कर केवल उपलक्षण है. उपलक्षण से तात्पर्य है, लक्षण का व्यावहारिक, कामचलाऊ कल्प, जिसकी लक्ष्य में एक देशीयप्राप्ति लक्ष्य की पहचान तो बन सकती है, लक्षण नहीं. प्राथमिक सोपान होने से इन्द्रियनिग्रह को साधना का उपलक्षण कहा जा सकता है, और तन्मुखेन स्थितप्रज्ञ का. किन्तु इस कामचलाऊ पहचान को एक निर्णायक निर्वचन के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता.

२. यहां पात्रता की अपेक्षा से इन्द्रियनिग्रह को स्थितप्रज्ञ के लक्षण के रूप में प्रस्तुत किया गया है. बहुतों के लिए धर्म का एक ही अर्थ है, और वह है नैतिकनिरोध (विहित-आचरण). संसार के विभिन्न धर्मग्रन्थ 'यह करो, यह मत करो' इस रूप में नैतिकनिरोध के ही विधान है. 'आचारः परमो धर्मः' यह पुस्तकपंथों के बीच धर्म का सर्वमान्य, प्रामाणिक लक्षण है. इसी का विस्तार है, आस्था की तपस्यामूलक अवधारणा, जिसमें विषयसंसर्ग का आत्यन्तिक निरोध धर्माचरण का पर्याय बन जाता है.

प्रकृत में *'यस्येन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यः निग्रहीतानि सर्वश'*; यह वचन आस्था के इस आत्यन्तिकनिरोधमूलक अर्थ की ही ओर संकेत करता है.

आस्था की उक्त निरोधमूलक अवधारणा धर्माचरण को एक पुरुषार्थ के रूप में परिकल्पित करती है, और इसमें संलग्न व्यक्ति को एक ऐसे वीरपुरुष के रूप में जो प्राकृत प्रलोभनों के विरुद्ध सतत संघर्ष में जुटा है. श्लोक का उपक्रम, *तस्माद्यस्य महाबाहो* ('इसलिए हे विशाल भुजाओं वाले) यह सम्बोधन धर्माचरण के इस पुरुषार्थ कल्प को ही सम्बोधित है.

३. विषयों में प्रवृत्ति इन्द्रियों का स्वभाव है. विषयोपभोग के द्वारा इन्द्रियां अपने स्वरूप की सिद्धि करती हैं. अतः इन्द्रियों में आत्यन्तिक विषयसम्बन्धविच्छेद, स्वरूपविरुद्ध होने से एक असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन कल्प है. यह कठिन कल्प असाधारण पराक्रम की अपेक्षा रखता है. इसी बात को रेखांकित करने के लिए **'महाबाहो'** सम्बोधन का प्रयोग हुआ है. जिनमें अपनी सामर्थ्य का भरोसा है, जो साहसिकता के कामों में रुचि है, वे इस असम्भव उपक्रम को करके देख सकते हैं.

जहां तक गीता की बात है, वह इस प्रकार की साहसिकता का अनुमोदन नहीं करती. विषयसम्बन्धविच्छेद नहीं, परिशुद्ध इन्द्रियों के द्वारा विषयोपभोग ही गीता का सुविचारित संदेश प्रतीत होता है : ***रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्.*** प्रकृत श्लोक में विषयसम्बन्ध- विच्छेद-वचन को अभ्युपगमवाद के रूप में समझना चाहिए.

■ ■ ■

सप्तम एकक

(अध्यायान्त के चार श्लोक)

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने:।।६९।।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमाप: प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा: प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।।७०।।

विहाय कामान्य: सर्वान्पुमांश्चरति नि:स्पृह:।
निर्ममो निरहंकार: स शान्तिमधिगच्छति।।७१।।

एषा ब्राह्मी स्थिति: पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।।७२।।

जो समस्त प्राणियों की रात है, संयमी पुरुष उसमें जागते हैं. जिसमें प्राणी जागते हैं वह प्रबुद्ध मुनि की रात होती है (६९). जिस प्रकार निरन्तर भरे जाते हुए अविचलरूप में प्रतिष्ठित सागर में जल प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार जिसमें समस्त विषय प्रवेश करते हैं वही शान्ति पाता है, न कि विषयों की याचना काने वाला (७०). समस्त कामनाओं का परित्याग करके जो पुरुष निष्पृह हो कर विचरण करता है, निर्मम और निरहंकार, वह शान्ति को प्राप्त कर लेता है (७१). हे अर्जुन ! यह ब्राह्मी स्थिति है, जिसे पा कर कोई फिर मोह को प्राप्त नहीं होता. अन्तकाल में भी इसमें कोई स्थित हो जाय तो ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त कर लेता है (७२).

१. दिवारात्रिचर्योपलक्षित-व्यक्तित्वभूम्यभिज्ञानपुरस्सरं अवतारयन्ति लौकिकप्रवृत्त्युपरतिलक्षणां साधनाभूमिम् –

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो: मुने:।।

१.१ दिवारात्रयुग्मस्तु केन्द्रीयबिम्ब:। सामान्यविशेषव्यवहाराभ्यामत्र बहुतलस्पर्शि- सम्पीडित-बिम्बेनैकेन युगपदेव व्यक्तिं यान्ति व्यक्तित्वविवेक-तन्निरूपितसाधनाभूमेरभिज्ञाने साधना च व्यक्तित्वोद्धारस्य। विशदार्थमपेक्षतेऽयम्।

१.२ सामान्यजनाय रात्रि: विश्रामस्य काल:, दिवसस्तूद्यमस्य। दिवसे जागरणस्यार्थो हि व्यवहारस्य संसारे जागरणम्। 'यस्यां जागर्तिभूतानी' त्यनेन व्यज्यते व्यवहारस्य संसार: यस्मिन् सामान्य-जन: जायते जीवति नश्यति च। किन्तु मुनये उन्मीलिताभ्यन्तरचक्षवे लोकव्यवहारस्य कोलाहलपूरितदिवसस्तु उपरतिस्थानत्वात् रात्रिरेव – *यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेरिति* . यद्विषये सामान्यजन: शेते निमीलितचक्षु: तस्मिन्नेव परमार्थे जागर्ति संयमी जन:। जागरणमिदं परिकल्पते व्यवहारानुबंधेभ्य उपरते: साधनाक्रमाणि।

१.३-४. उपरतेरभिव्यङ्ग्यत्वाद्विचाराधीनश्लोको हि स्थितप्रज्ञप्रकरणस्य निपुणतर-सारसंग्रह:। रात्रिस्तु सर्वासामुपरतीनां संग्रहीताभिव्यक्ति:। सा एव भूमि: प्रज्ञायां स्थिते: साधनाया:।

१.५. धर्मदर्शनदृशा विचाराधीनश्लोकस्येमे निहितार्था :

संसारस्यापर्याप्तताबोधो ह्याधार उद्धारोद्धारकपरिकल्पयो: सर्वेषु धर्मसम्प्रदायेषु। अज्ञानं, अनादिवासना, आदिमपापग्रन्थिर्वा संसारस्य हेतुरिति साम्प्रदायिका:। अस्या अतिक्रमणमेवोद्धारस्य प्राथमिकं सोपानम् । निकटदृशा निरीक्षितानि सर्वाणि धर्मविधानानि सांसारिकताया: निरोधस्य नियमनस्य वा विधानानि। नैतिकनिरोधविषयेयं सांसारिकता हि *'निशा'* इत्यस्य तात्पर्यार्थ:।

वस्तुतस्तु प्राकृताचारनिबन्धनं, तस्मादुद्धार: उच्चतरचेतनायां जागरणन्त्वभिदधत्येकस्यैव व्यक्तित्वस्य साधनया परिष्कारस्य क्रमाणि । एतदर्थं सांख्ययोगौ अन्यतमत्वेन प्रस्तुवत: न्यूनतमास्थाकल्पमीश्वरवाद्यनीश्वरवादिसामान्यम्। इदं गीताया: द्वितीयाध्यायस्य विशिष्टं योगदानं धर्मदर्शनदृशा।

२. या निशा सर्वभूतानी'ति श्लोकः प्रस्तौति व्यावर्तकार्थं स्थितप्रज्ञ-परिकल्पस्य । निर्वाणो हि अस्य तार्किकोपसंहारो ब्रह्मनिर्वाणे'तिपदे संग्रहीतः। निर्वचनस्य समग्रतायै अग्रिमो श्लोकः समुद्रस्योपमया प्रस्तौति तस्यैव भावार्थं, विकारनिमित्तानां मध्ये उत्सवः अविकृतपूर्णतायाः।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामाः प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी।।७०।।

२.१. ह्रासवृद्धीति विकारपर्यायौ। अतर्कितोऽपि नास्त्यसम्भवःवृद्धेरविकारसामानाधिकरण्यं, सागरस्यास्य प्रत्यक्षोदाहरणत्वात्। कथमतर्कितः सम्भाव्यते, इति निदर्शितं वर्तते सागरे अविकृतपरिणामि- जलापूर्तिविधया, '*आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्*' इति।

२.२ अविकृतपरिणाम परिकल्पनाय वृद्ध्यां विकारविधेर्निरूपणम् :

१. साधनया कामनासम्बन्धनिराकृत्यनन्तरमेव विषयाणां स्थितप्रज्ञे प्रवेशः। अतोऽतीतकालावच्छिन्नत्वेन तटस्थलक्षणत्वेनोपपादनीयं *कामा* इति पदम्। शुद्धविषयस्यैव प्रवेशार्हत्वादुपचारमात्रं 'कामाः प्रविशन्तीति' वाक्यम्।

२. स्थितप्रज्ञो नाम विवेके प्रतिष्ठितः। विवेकस्तु कामनासहितसमस्तमनोजैविक-संरचनायामनात्मदृष्टिः। अनयाऽनात्मनि तादात्म्यस्य निरुद्धत्वात्, विवेकिनोऽनासक्तिः कामनाविरचितमूल्ययोः तृप्त्यतृप्त्योः। अतो स्थितप्रज्ञे कामानामापत्तिर्हि हर्षविषादादिविकारशून्या। अथवा प्राप्ताः विकाराः नोत्पादयन्ति विकारकार्याणि। स्थितप्रज्ञःताननात्मविषयान् पश्यति तटस्थभावावेन : *गुणाः गुणेषु वर्तन्ते इति मत्वा न सज्जते* इति।

३. स्थितप्रज्ञे काम्यविषयाणामागमो हि अनायासः, निराकाक्षोऽसंकल्पितः। अतोऽविकाराहेतुत्वमस्य। इयं सहजनिपातनविधिरेव प्रविशन्तीति पदेनोक्ता। सामान्यजनेषु विषयाणामागमो न सहजः, कामनानियोजितो हि सः। नियोजित-विषयावाप्तिर्हि तात्पर्यपदं कामकामीति पदस्य ।

'तद्वत्कामाः प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी'ति वाक्ये प्रविशन्ति पदं विषयागमस्य सहजतां व्यनक्ति, या हि युगपदेव स्थितप्रज्ञस्याविचलप्रतिष्ठायाः तस्य शान्तेश्च सम्पूर्णं स्पष्टीकरणम् ।

नि:सन्देहं समुद्रो हि सटीकोदाहरणमविकृतपरिणामस्य, किन्तु स्थितप्रज्ञे विकारनिमित्तेष्व-विकारस्य सजीवनिदर्शनन्तु योगेश्वरस्य भगवत: श्रीकृष्णस्य लीलामय- विग्रह एव।

४. कामनानां साकांक्षत्वात् परापेक्षित्वाच्च सतताशान्तिहेतुत्वम्। तेषां परित्यागेनैव शान्ति: :

विहाय कामान्य: सर्वान्पुमांश्चरति नि:स्पृह:।
निर्ममो निरहंकार: स शान्तिमधिगच्छति।।७१।।

४.१ कामनानां परित्याग: तेन शान्तेरधिगम:, श्लोकस्याद्यन्तावर्थाविमौ। अनयोर्मध्यागतवाक्यांशौ 'य: पुमांश्चरति निस्पृह:', तथा 'निर्ममो निरहंकार:' महत्त्वपूर्णरूपेण अन्तर्निहितसाधनाया: संग्रहं कुर्वन्तौ विवृणुत: कामनात्यागस्य निहितार्थम्।

४.२ वस्तूनां त्यागवत्कामनानां त्यागो न सम्पद्यते हस्तान्तरणमात्रेण। अस्मिन्नन्तर्निहिता वर्तते सम्पूर्णव्यक्तित्वस्य रूपान्तरणस्य साधना, मनोपदार्थानां व्यक्तित्वोपादानभूतत्वात्। रूपान्तरणस्येयं साधना कल्पते 'आभ्यन्तर-बाह्ये'ति द्विधा व्यक्तित्वसंस्काराय। अत्र 'निर्ममोनिरहंकारे'त्याभ्यन्तरसंस्कार:।

४.३ विषयसम्बन्धेन कामनाया: द्वौ विमर्शौ आसक्तिर्भोगाधिकारश्चेति । आभ्यां लभेते ममत्वाहंकारपदार्थौ। उभौ मिलित्वा व्यक्तित्वस्य तात्त्विकाधारे जनयत: व्यावहारिककल्पं, स्वरूपसंकोचरूपम्। साधनाद्वारा अस्य निराकरणं हि आभ्यन्तर: संस्कार:। एवं 'निर्ममो निरहंकार:' इतीदं हि 'विहायकामान्य: सर्वानि'त्यस्य विवरणं आभ्यन्तरसंस्काररूपम्।

४.४ कर्मारूढविषयोन्मुखसंचरणं हि कामनासम्बन्धस्यापर आयाम:। बहिर्मुखत्वात्फलपर्यन्तविस्तार-शीलत्वाच्च, निरूपयतीदं बाह्यसंस्कारविषयं साधनानिमित्तम् । साधनानन्तरं यदवशिष्यते तत्तु निस्पृहसञ्चरणमात्रम् । एवं 'पुमांश्चरति निस्पृहे'ति 'विहायकामन्य: सर्वानि'त्यस्य बाह्य-संस्काररूपार्थस्य निदर्शनम ्।

'विहाय कामान्य: सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृह' इत्युक्तिस्तु 'रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्' इति पूर्वोक्तस्यैवानुगुंजनम् । अवधेयमत्र *'चरन्'* इति शब्दस्य सुविचारित: प्रयोग: कामनासाम्राज्यात्साधनया मुक्तिमापन्नस्य क्षेत्रस्याभिज्ञानाय। इयं तु समस्तस्वार्थानुबंधेभ्यो मुक्तेर्भूमि: निष्कामकर्मानुष्ठानाय ।

अस्थिरतामूलं कामना, अस्थैर्यन्त्वशान्तेर्मूलम्। अतो शान्तिरेव सुतर्कितनिर्विकल्प-निरतिशयोपलब्धिः कामनात्यागस्य साधनायाः। 'स शान्तिरधिगच्छती'ति साधकसम्बन्धेनोक्तम्। स्थितप्रज्ञस्य तु शान्तिः स्वभावो न त्वधिगमः।

५. शान्तिरेव परमार्थो निरतिशयत्वादिति केचन। परमार्थस्य पूर्वकल्पस्य लक्षणमियमित्यपरे। शान्तिलक्षणस्थितप्रज्ञो हि परमार्थे निर्णायकसमर्पणाय प्रस्थानपीठमित्यपरं मतं ये मन्यन्ते तानधिकृत्य प्रवर्तते अध्यायस्य समापनश्लोकः –

> एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
> स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति॥७२॥

धर्मदर्शनदृशा महत्त्वपूर्णोऽयं श्लोकोऽपेक्षते निकटविश्लेषणं व्याख्यानञ्च –

५.१ 'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ' इत्यनेन ज्ञायते यद् स्थितप्रज्ञता एव ब्राह्मीस्थितिः,एषेति पदस्याव्यवहितपूर्वस्य स्थितप्रज्ञभावस्यैव संकेतविषयत्वात्। परिपक्वस्थितप्रज्ञता एव ब्राह्मी स्थितिरित्यपि वक्तुं शक्यते,' *नैनां प्राप्य विमुह्यतीत्यस्य विनिगमकत्वात्।*

५.२ ब्राह्मीस्थितिरर्थात् परिपक्वस्थितप्रज्ञभावो हि परमार्थस्य पूर्वकल्पः, प्रस्थानपीठमपि परमार्थस्यावगतेः।

५.३ ब्रह्मीस्थितिस्तु साधनायाः चरमोपलब्धिः, तत्परस्य परमार्थस्याकार्यत्वात्। द्वे विशेषतेऽस्याः, विच्युतिविरहत्वम् (नैनां प्राप्य विमुह्यति), अन्तिमक्षणे प्रतिष्ठितायामप्यबाधिता परमार्थावगतिः, *स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रहमनिर्वाणमृच्छती' ति.*

५.४ ब्राह्मीस्थितिरेवोद्धारकं पीठम्। साधनया क्रियतेऽस्य निर्माणम्। अवधेयमस्य साधनेतरनिमित्तनिरपेक्षता। न कोऽपि अवतारी पुरुषविशेषः कल्पितो वर्ततेऽत्र उद्धारकत्वेन। उद्धारकप्रज्ञायाः गर्भगृहे यदि कश्चिद् स्थापयति स्वात्मन आस्थालम्बनं, मूलपरिकल्पे न किमप्यन्तरमायात्यनेन। साम्प्रदायिकविनिश्चयानां कोलाहलस्य मध्ये गीतायाः ताटस्थ्यं *आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वदि"*त्यनेन निदर्शितस्य स्थितप्रज्ञभावस्यैव निदर्शनम्।

ब्रह्मनिर्वाणमृच्छतीति फलोक्त्या परिसमाप्तिमाप्नोति अध्यायान्तप्रसंगः। वेदान्तबौद्ध-मोक्षपर्याययोः संग्रहं कुर्वन् ददात्ययं परमार्थायैकां सम्प्रदायनिरपेक्षां प्रस्तुतिम्। नेयं विरुद्धार्थयोः

संग्रहः समायोजनं वा। सम्प्रदायिकविनिश्चयैरुपलक्षितोऽपि सर्वविनिश्चयातिक्रान्तपरमार्थो हि ऐदम्पर्यं ब्रह्मनिर्वाणेति पदस्य। तत्त्वदर्शनस्य प्रत्ययनिबद्धाग्रहान्प्रति गीताया अश्रद्धामभिदधन्, रेखांकयतीदं गीतायाः धर्मदर्शनानुशासनरूपम्।

५.५ 'स्थित्वास्यामन्तकालेऽपी'त्यस्य 'अन्तकालपर्यन्तमविच्छिन्ना स्थितिः', अन्तिमकाल एव लब्धा स्थितिः' इति व्याख्यविकल्पौ। अत्र प्रथमकल्पो न समीचीनः ब्राह्म्या स्थितेः विच्युति-सम्भावनायाः 'नैनां प्राप्य विमुह्यती'त्यनेन बाधितत्वात्। अतो द्वितीयव्याख्या एव ग्राह्या ।

६. स्थितप्रज्ञस्य परिकल्पो हि गीतायाः द्वितीयाऽध्यायस्याद्वितीयोपलब्धिः। धर्मदर्शनदृशा महत्त्वपूर्णः, ईश्वरवाद्यनीश्वरवादिसम्प्रदायानां विरुद्धध्रुवस्पर्शिविस्तारं, साधनोपासनापद्धति-वैविध्यजटिलहिन्दूआस्थापटलं एकात्मकाधारे समाहर्तुं समर्थोऽयं परिकल्पः।

६.१ नात्र प्रस्तुता वर्तते परमार्थस्य काऽपि मूर्तावधारणा, न काऽपि परिकल्पना कस्यचिदस्य मध्यस्थस्यावतारी पुरुषस्य वा। केवलं साधनापथस्य रेखाचित्रं उपलभ्यतेऽत्र सांख्ययोगाकारं, यस्मिन् तत्तद् धर्मावलम्बी रंगदानं कर्तुं शक्नोति स्थापयितुं च स्वकीयं सिद्धान्तमाराध्यं वा। एतदर्थं गीता परिकल्पयति शान्तं निर्वातगर्भगृहं, आभ्यन्तरोपासनापीठं आराध्यस्य प्रतिष्ठायै। शुद्धान्तःकरणलक्षणाभ्यन्तरपीठं हि पूर्वकल्पः सर्वेषां धर्माणाम्। गीता न केवलं नामाभिज्ञानदानं करोतीदमपितु सांख्ययोगोपदेशाभ्यामुपयुक्तसाधनाकल्पयोर्निरूपणं करोति ययोरन्यतरस्य प्रयोगेण निर्माणं क्रियते आभ्यन्तरास्थापीठस्य। धर्मचिन्तनस्य विकासे इदं तु ऐतिहासिकं योगदानं गीतायाः।

६.२ स्थितप्रज्ञो हि शास्त्रनिष्ठाया अपि पूर्णतायाः भूमिः। शास्त्राणां यथार्थः शुद्धान्तःकरण एव उपपन्नो भवति। मनसः परिष्कारं विना विहिताचारो विजड़ितो भवति मिथ्याचारे(गीता ३.४)। शुद्धान्तःकरणोपलक्षितस्थितप्रज्ञभावो हि सर्वेभ्यो धर्मविधानेभ्यः प्रामाणिकविनियोगस्य भूमिः।

६.३ आचारपर्यायं जनयित्वा उपक्षीणा भवति विधिः। मनसो परिष्कारस्तु नास्त्यस्या प्रयोजनं नापि सामर्थ्यम्। विधेर्जायते कर्मणो परिष्कारः नैतिकनिरोधरूपः, न तु चरित्रस्य, शुद्धान्तःकरण-प्रभवशीलरूपं हि तत्।

६.४ आस्थयाः परमार्थो हि परापुस्तकीयः। विभजन्ति पुस्तकपंथानः मानवसमाजं, विहितोपासनापद्धतिभिः, आचारविधानैः आप्तपुरुषालम्बनैः उपास्यविशेषैश्च। तद्भिन्नः,

सनातनःसार्वभौमिकःसाधनाधर्मः, तत्त्वज्ञान-मनोविज्ञानादिसार्वभौमिकानुशासनाश्रितत्वात्तस्य। सांख्ययोगयोरुपदेशेन द्वितीयेऽध्याये निरूपिता वर्तते उद्धारकाभ्यन्तर-फलकस्य निर्माणस्य प्रक्रिया। स्थितप्रज्ञे निदर्शितोऽयं उद्धारकफलको हि परस्परविरोधिधर्मसम्प्रदायानां मध्ये सहाधिष्ठानस्य संवादसहभागयोश्च भूमिः, परापुस्तकीयत्वान्निर्विशेषरूपत्वात्तस्य। हिन्दूधर्मे योगिजनाः,गुह्यसाधकाः, इस्लामख्रीस्त धर्मयोः सूफीरहस्यवादिनश्च – स्थितप्रज्ञपर्यायाः इमे प्रमाणयन्ति आस्थयाः परापुस्तकीयं सार्वभौमिकं वैभवम्। 'त्रैगुण्यविषयाः वेदाः निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन' – अयं हि श्रीमद्भगवद्गीतायाः संदेशः आत्मसम्मोहितपुस्तकपंथानां विश्वे ऐकान्तिक-वैश्विक-वर्चसोऽसम्भवाकांक्षा-जनितानवरतसंघर्षाणां विभीषिकया सततसंत्रस्त-मानवतायाः उद्धाराय।

एककविमर्श :

चार श्लोकों का यह एकक (६९-७२)स्थितप्रज्ञ प्रकरण का एक अर्थपूर्ण बिम्ब में सृजन करते हुए, अध्याय को गरिमामय उपसंहार देता है.

व्यक्तित्व के दो प्रकार होते है, व्यावहारिक और अति-व्यावहारिक(साधनोपयोगी). साधना दर्शन का आधारभूत विवेक है, जिसे एकक का प्रथम श्लोक रात और दिन के रूपक के द्वारा अभिव्यक्ति देता है (*या निशा सर्वभूतानि* ... श्लो.६९). यहीं प्रसंगवश, उस व्यक्तित्वभूमि की पहचान की गई है जो स्थितप्रज्ञ की साधना के लिए जरूरी है

दूसरा श्लोक (*आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं* ... श्लो.७०), स्थितप्रज्ञ के भावार्थ को बताता है. विकारनिमित्तों के बीच, स्थितप्रज्ञ किस प्रकार अविकारी बना रहता है, इसका निदर्शन समुद्र की उपमा के द्वारा कराया गया है.

तीसरा श्लोक (*विहाय कामान्यः सर्वान्* ...श्लो. ७१) उस साधनाविधि का संग्रह करता है, जो व्यक्तित्व के व्यावहारिक कल्प को तत्त्वावगति मे उद्धार के लिए तैयार करती है. अन्तिम श्लोक '***एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ*** ...'(श्लो.७२) से स्पष्ट हो जाता है कि स्थितप्रज्ञ की चर्चा ही अब '***ब्राह्मी स्थिति***' इस नए नाम से उपसंहार की ओर बढ़ रही है. '**ब्राह्मी स्थिति**' व्यक्तित्व का वह रूपान्तरित कल्प है, जो अब परमार्थ में सहभाग के लिए पूरी तरह तैयार है. यह

निरतिशय चेतना में जागरण की अक्षयकोटि है, जिसमें मोहनिद्रा तो दूर की बात, पलक झपकने भर के विक्षेप की भी गुंजाइश नहीं होती : *नैनां प्राप्य विमुह्यति.*

१. श्लोक *"या निशा सर्वभूतानि...."*

१.१. व्यक्तित्व-कल्प : व्यावहारिक और अति-व्यावहारिक (साधनोपयोगी) : ऊपर दिए चार श्लोकों के केन्द्र में है व्यक्तित्व के व्यावहारिक और साधनोपयोगी रूपों का विवेक, जो क्रमशः बंधन और मोक्ष की व्यक्तित्व-भूमियों को रेखांकित करता है.

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने:।।६९।।

समस्त प्राणियों के लिए जो रात्रि है, उसमें संयमी जागता है. जिस (अवस्था) में प्राणी जागते हैं वह देखते हुए (प्रबुद्ध) मुनि की रात है.

१.२. रूपक के द्वारा निर्वचन : 'संयमी उस रात्रि में जागता है जिसमें और सब सोते हैं', यह केन्द्रीय रूपक है, जो दिन और रात के *सामान्य* और *विशेष* व्यवहारों के द्वारा दो व्यक्तित्वकल्पों का निदर्शन कराते हुए रूपान्तरण और उसकी की साधना का एक ही बिम्ब में संग्रह करता है.

जनसामान्य के लिए दिन का अर्थ है, व्यवहार के संसार में जागरण, जब कि रात्रि का अर्थ है विश्रान्ति का काल. इस काल में इन्द्रियां अपने विषयों से उपरत हो जाती हैं. व्यवहार-जगत् की गतिविधियां शान्त हो जाती हैं. यह दिवारात्रि युग्म के द्वारा परिभाषित एक सामान्य, दुनियांदार व्यक्ति का व्यवहारफलक है

विशेष जन के लिए (साधकों के लिए) दिन और रात्रि के अर्थ बदल जाते हैं. जब बहिर्मुखीवृत्तियां शान्ति हो जाती हैं, इन्द्रियां विषयों से उपरत हो जाती हैं, सामान्यजन की वह रात्रि ही साधक का दिन अर्थात् साधना कर्म में प्रवृत्ति का उपयुक्त समय होता है; प्रभात, उच्चतर चेतना में जागरण का .

१.३. निहितार्थ : दिन में जागने का अर्थ केवल आंख खोलना नहीं, कर्म में प्रवृत्त होना है. इसमें जागने का (यस्यां जागर्ति भूतानि) अर्थ हुआ, व्यवहार के संसार को जीना. यह कामचलाऊ, व्यावहारिकता का संसार है, जिसमें सामान्यजन, जन्म लेता है, जिसे ढोता है, और मर जाता है.

किन्तु जिसके आन्तर चक्षु खुल गए है, ऐसे संयमी मुनि के लिए यह व्यवहार के कोलाहलों से भरा दिन उपरतिस्थान होने से रात्रि के समान है : *यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः.*

व्यवहार जगत की दुनियांदारी से परे परमार्थ को देखना ही *देखना* है. *'पश्यतो मुनेः'* का शब्दशः अर्थ है 'देखते हुए मुनि का'. यतः वाणी का व्यवहार मौलिक लोकव्यवहार है. व्यवहारानुबंधों से उपरति को दर्शाने के लिए साधक के लिए *मुनि* (मौनी) शब्द का प्रयोग किया गया है. सामान्यजन जिस परमार्थ के बारे में आंख मूंद कर सोता है संयमी उसके ज्ञान में जागता है. इस जागरण की आधारभूत शर्त है मन का व्यवहारानुबंधों से उपरत होना. यह उपरति ही अतिचेतना में अविकल जागरण की भूमि है जिसे *'पश्यतो मुनेः'* शब्द से कहा गया है.

१.४. एक श्लोक में सम्पीडित, सम्पूर्ण प्रसंग :

विचाराधीन एक श्लोक सम्पूर्ण स्थितप्रज्ञ-चिन्तन का निपुण सारसंग्रह है. १५ श्लोकों के विस्तृत विवरण में स्थितप्रज्ञ की साधना को क्रमशः कामनाओं की, मन, वचन और कर्म की उपरति के रूप में प्रस्तुत किया गया है. रात्रि इन समस्त उपरतियों की संग्रहीत अभिव्यक्ति है.

इस श्लोक तक आते-आते यह बात खुल कर सामने आ जाती है कि स्थितप्रज्ञचिन्तन के उपसंहार वाक्य *'वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता'* का अर्थ केवल इन्द्रियनिग्रह नहीं, अपितु तदुपलक्षित, स्थितप्रज्ञ में पर्यवसित होती सम्पूर्ण साधना है. बहिर्मुखीवृत्तियों की विश्रान्ति की रात्रि में ही साधना का जागरण सम्भव हो पाता है. रात्रि की उपमा प्रवृत्तिमूलक जीवनचर्या की विश्रान्ति को बताती है, केवल इन्द्रियों की उपरति को नहीं.

१.५. धर्मदर्शन की दृष्टि से विचार :

विचाराधीन श्लोक के धर्मदर्शन की दृष्टि से निहितार्थ निम्नवत् हैं :

१. मोक्ष या उद्धार की अवधारणा का आधार है इस संसार की अपर्याप्तता का बोध. अलग अलग धर्मों में अज्ञान को, अनादिवासना या आदिम पापग्रन्थि को इस अशान्त सांसारिकता का हेतु माना है. यह लोक बंधन है. इसका अतिक्रमण उद्धार का प्रभात. दुनियांदारी के मूल्यों का अतिक्रमण किए बिना उद्धारक आस्था में सहभाग सम्भव नहीं है, यह बात विभिन्न धर्मों में अपने अपने ढंग से कही गई है.

निकट से देखें तो सभी धर्मविधान स्वभावरूढ सांसारिकता के निरोध और नियमन के विधान हैं. कुछ के लिए यह विहिताचार आस्था का परमार्थ है तो कुछ के लिए परमार्थ में प्रवेश का प्राथमिक सोपान. हर स्थिति में संसार की अपर्याप्तता की चेतना और सांसारिक वृत्तियों का अतिक्रमण धार्मिक आस्था की मौलिक शर्त बन कर सामने आता है. आस्था की इस सर्वधर्मसामान्य मान्यता को ही गीता अपनी अप्रतिम शैली में सूत्रबद्ध करती है : *या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी.*

२. यह अपर्याप्तता का बोध जब प्रज्ञा बन कर ठहर जाता है, सम्पूर्ण व्यक्तित्व का अनुशास्ता बन जाता है, तब प्रारम्भ होता है व्यापक चेतना में जागरण और रूपान्तरण का सिलसिला. लौकिक मूल्य और उनसे प्रवर्तित वृत्तियां धीरे धीरे निरर्थक और अप्रभावी होती जाती हैं और चेतना के अभिनव अन्तरिक्ष का विस्तार सामने आने लगता है. वस्तुतः अन्धकार का क्षरण और प्रकाश का स्फुरण, दिखने में दो घटनाएं हैं, लेकिन वास्तव में एक ही पटल में होते एक ही रूपान्तरण के दो संज्ञान हैं. प्राकृत व्यवहार की जड़ता और उससे मुक्त हो कर व्यापक चेतना का आविर्भाव, एक ही व्यक्तित्व की दो भिन्न दिशाओं को, भिन्न सम्भावनाओं को बताते हैं.

३. यह ध्यान देने की बात है कि व्यक्तित्व के रूपान्तरण के लिए साधना के अलावा गीता किसी अन्य निमित्त की अपरिहार्यता को — किसी पैगम्बर, गुरू या अवतारी पुरुष — की अपरिहार्यता को स्वीकार नहीं करती. व्यक्तित्व के उद्धारक रूपान्तरण के लिए 'सांख्य' और 'योग' की साधनाओं को पर्याप्त माना गया है.

१.६. 'भेद' और 'स्वरूप' के क्रम में स्थितप्रज्ञ का द्विधा निर्वचन :

'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी' यह श्लोक साधना द्वारा धर्मानुसन्धान की निषेधमूलक शर्त को बताता है. यह स्थितप्रज्ञ का निवर्तक अर्थ है. 'निर्वाण' इस अर्थ की तार्किक परिणति है. अग्रिम श्लोक (**आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठम्**) उपमा द्वारा स्थितप्रज्ञ के **'भावार्थ'** का विवरण है. ये दो श्लोक एक ही वस्तुस्थिति के भावाभावरूपों को बताते हैं.

अनेक व्याख्याकारों ने परमार्थ में जागरण और लोकव्यवसाय को दो अत्यन्त विरुद्ध ध्रुवों के रूप में व्याख्यायित किया है. यह दृष्टि गीता का मन्तव्य नहीं हो सकती. लोकव्यवसाय का

निराकरण निःसंदेह जागरण की प्राथमिक शर्त है. लेकिन जागरण की पूर्णता किसी प्रकार के निषेध या अपलाप को स्वीकार नहीं करती. वस्तुतः परमार्थ में जागरण लोक के अपलाप का नहीं, व्यापक संदर्भ में उसके संग्रह और पुनर्निर्वचन का नाम है. यह लोक का त्याग नहीं, लोकनिमित्त -विकारों का त्याग है. इसी बात को स्पष्ट करने के लिए अग्रिम श्लोक प्रवृत्त होता है :

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामाः प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥७०॥

जिस प्रकार निरन्तर भरे जाते हुए अविचलरूप में प्रतिष्ठित सागर में जल प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार जिसमें समस्त विषय प्रवेश करते हैं वही शान्ति पाता है, न कि विषयों की याचना करने वाला.

२. श्लोक '*आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं...*' :

अविकृतपरिणामवाद का उपमा के द्वारा निदर्शन :

वृद्धि और ह्रास विकार-पर्याय हैं. वृद्धि के साथ अविकार का सामानाधिकरण्य अतर्कित होते हुए भी असम्भव नहीं है. सागर इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है. नदियां सागर में निरन्तर जल उंडेलती रहती हैं, लेकिन सागर में कभी बाढ़ नहीं आती. उसकी हाहाकार करती धमकाती उत्तल तरंगें कभी मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करतीं. चारों ओर से जलराशि का अहर्निश संचय सागर में किसी अतिरेक को, स्वरूप की किसी विकृति को जन्म नहीं देता. संग्रह और अविकार के सहाधिष्ठान का सहज निदर्शन है समुद्र : ***आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्.***

यहां ध्यान देने की बात यह है कि सागर के स्वरूप की अचल प्रतिष्ठा नदियों के प्रवाह को अवरुद्ध करके नहीं की जाती. निरोध के द्वारा यदि सागर अपनी अचलप्रतिष्ठा का निर्वाह करता है तो वह सागर कैसा, और ऐसी नियोजित 'अचलप्रतिष्ठा' कितने दिनों अचल रह सकेगी? ***'समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्,*** (जैसे सागर में जल प्रवेश करते हैं), गीता के इस वचन में पद्धति परिकल्पित तो है लेकिन उसे कहा नहीं गया है. आखिर विकार निमित्त(जल) के संग्रह की वह कौन सी तकनीक है, जिसकी सहायता से, अहर्निश जलसंचय करते रहने के वावजूद, सागर अविकारी बना रहता है? *यद्वत्* शब्द का यह रहस्य अबूझ रह जाता है. समुद्र की उपमा आपूर्ति को स्वीकार करती अचलप्रतिष्ठा के विरोधाभासी यथार्थ का उपयुक्त निदर्शन है. अविकलपरिणामवाद के परिकल्प को यह अवास्तविक होने से बचाती है. इसकी सामर्थ्य इतनी भर है. आगे की गाथा

उपमान की नहीं उपमेय की है. वहां पहुंच कर, *'प्रविशन्ति'* और *'कामकामी'* ये दो शब्द सामने आते हैं, जिनका तुलनात्मक विमर्श *यद्वत्* शब्द के उस रहस्य को खोल देता है, जिसके बिना श्लोक का अर्थ एक अनबूझ पहेली बना हुआ है.

२.१. स्थितप्रज्ञ में काम्य विषयों का आगम :

'कामाः' का अर्थ है काम्यविषय (कामनाओं के विषय). अपने अभीष्ट-अनभीष्ट स्वरूप के कारण इनका आगम विकार का निमित्त बनता हैं. इससे सर्वथा भिन्न, समुद्र में जलों का आगम कोई विकार उत्पन्न नहीं कर पाता. इससे संकेत ग्रहण करते हुए कहते हैं : *'समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्, तद्वत्कामाः प्रविशन्ति सर्वे, स शान्तिमाप्नोति ... 'जैसे समुद्र में जलों का आगम होता है, ठीक उसी तरह से जिसमें काम्यविषय जिसमें प्रवेश करते हैं वह शान्ति पाता है'.* इस वाक्य में उपमा का अर्थ जितना स्पष्ट है, पुरुष विशेष (साधक) में इसकी उपपत्ति उतनी सहज नहीं है. कामनाएं विकार का मूल हैं, और विकार का मूल होने से अशान्ति का. यह कैसे सम्भव है कि विषयसम्बन्ध में साकार हुई कामनाओं का आगम हो और व्यक्ति अविचल और शान्त बना रहे. वह कौन सी प्रक्रिया है कि कामनाओं का संग्रह भी हो और व्यक्ति तज्जनित विकार से अछूता भी रहे. समाधान के लिए हमें *कामाः* शब्द के अर्थ को नए सिरे से देखना होगा.

२.२. अविकारी अधिष्ठान में विषयागम : तीन सम्भावित स्पष्टीकरण :

१. ***कामाः प्रविशन्ति'* वाक्य में अतीत के सम्बन्ध का उपचार मात्र** : स्थितप्रज्ञ पुरुष में प्रवेश करते समय 'जो कभी काम्य विषय थे' वे साधना के द्वारा कामनासम्बन्ध से मुक्त हो कर, तज्जन्य हेयोपादेय अर्थों से रीते हो कर ही आते हैं. अतः उनके लिए कामाः शब्द का प्रयोग अतीत की पहचान को बताने के लिए हुआ है. वस्तुतः सभी विषयों में कामना-सम्बन्ध की योग्यता होती है. इस योग्यता को ध्यान में रखते प्रकृत संदर्भ में कामाः शब्द का प्रयोग किया गया है. वास्तविकता यह है कि स्थितप्रज्ञ में कामना सम्बन्धों के लिए अपेक्षित भावभूमि होती ही नहीं. कामनासम्बन्धनिराकृत शुद्ध विषय ही वहां प्रवेश पाते हैं. 'कामाः' शब्द का प्रयोग उपचारमात्र है. यह स्पष्टीकरण का एक रूप है.

२. **प्रतिष्ठित प्रज्ञा में कामना का नि:सत्त्व होना :** प्रज्ञा में प्रतिष्ठित व्यक्ति वस्तुतः विवेक में प्रतिष्ठित व्यक्ति होता है. यह विवेक होता है कामनाओं को, वस्तुतः समस्त मनोजैविक व्यक्तित्वतलों को विषयों की भांति अपने से अलग करके देखने का विवेक. इस विवेक में प्रतिष्ठित व्यक्ति का कामनाओं की तृप्ति-अतृप्ति के साथ कोई तादात्म्यभाव नहीं होता. अपेक्षित तादात्म्य के अभाव में, काम्यविषयों का आगम, उसमें हर्षविषादादि विकार उत्पन्न नहीं कर पाते, या यों कहें कि उत्पन्न हो कर भी वे स्वरूप में कोई विकार उत्पन्न नहीं करते. वह उन्हें अपने स्वरूप से भिन्न प्राकृतगुणों में चल रही स्वभाविक प्रक्रिया के रूप में देखता है : *गुणा: गुणेषु वर्तन्ते, इति मत्वा न सज्जते.*

३. ***'प्रवहन्ति'* और *'कामकामी'* शब्दों के व्याख्योपयोगी निहितार्थ :** काम्य विषयों का निपात तो सामान्यजन और विशेष(स्थितप्रज्ञ)सभी में होता है. अन्तर इतना है कि स्थितप्रज्ञ में काम्यविषयों की प्राप्ति अनायास होती है, बिना किसी संकल्प के बिना किसी प्रयास के, जबकि समान्यजन में वे कामना के फलरूप में प्राप्त होते है. जहां यह प्राप्ति सहज और अनायास होती है, वहां अधिष्ठान को अभिभूत करने, उसमें अपने कर्ता की पहचान तराशने, उसे फल से बांधने की न आकांक्षा होती है और न ही सामर्थ्य. **इस प्रकार स्थितप्रज्ञ में विषय का आगम एक निराकांक्ष घटना होती है, अपने अस्तित्व को साकार करने में रीती, चुकी हुई, संग्राहक उत्संग में अपनी पहचान दर्ज कराने में अक्षम. विषय के इस सहज और अनायास आगम को बताने के लिए *प्रविशन्ति* शब्द का प्रयोग हुआ है.**

सामान्यजन में काम्यविषयों का आगम सहज न हो कर कामनानियोजित होता है. इसी को श्लोक मे 'कामकामी' शब्द से कहा है. इसका अर्थ है भोगों की कामना करने वाला. फल की ओर सतत निहारता, एक असहाय याचक का बिम्ब प्रस्तुत करता है *कामकामी* शब्द. फलाकांक्षा कामकामी को निरन्तर छलती रहती है. फलागम, अभीष्ट और अनभीष्ट, उसे हर्ष और विषाद की लहरों में उछालते गिराते रहते हैं, हमेशा अशान्त बनाए रखते हैं.

***तद्वत्कामा: प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी*, इस वाक्य में *'प्रविशन्ति'* यह पद विषयागम की सहजता को उजागर करता है जो एक साथ स्थितप्रज्ञ की अविचलप्रतिष्ठा और**

उसकी शान्ति का सम्पूर्ण स्पष्टीकरण है. संग्रह के इस सहज, अनायास प्रकार के ठीक विपरीत है, संग्रह का सायास रूप जो एक कामकामी में देखने को मिलता है. 'विषय उसमें प्रवेश करते हैं,' यह कथन कामकामी के बारे में सही नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो स्वयं विषयों के पीछे भागता है.

अन्तर भोगसंग्रह की शैली में है, जो व्यक्तित्व के साकांक्ष और निराकांक्ष रूपों को परिभाषित करती है. आकांक्षा विचलन की सम्भावना का नाम है. निराकांक्ष वही हो सकता है जो अविचलभाव में प्रतिष्ठित हो. ऐसे व्यक्ति में विषयों का आगम न तो बन्धन बनता है, और न ही उसके अविचलभाव में कोई विकार ही उत्पन्न कर पाता है. दरअसल स्थितप्रज्ञ में विषयों का प्रवेश अप्रभावी होने के कारण न हुए जैसा ही होता है.

२.३. एक सम्पूर्ण उदाहरण : योगेश्वर श्री कृष्ण का चरित्र :

स्थितप्रज्ञ की पूर्णता का सटीक उदाहरण है समुद्र. किन्तु इसमें अन्तर्निहित उद्धारक साधना का जीवन्त निदर्शन तो योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण का लीलामय विग्रह ही है.

अपने आराध्य भगवान् श्रीकृष्ण के गुरू दुर्वासा ऋषि के दर्शन के लिए उत्सुक गोपियां पूजा का उपस्कर लिए यमुना तट पर खड़ी थीं. वे असमंजस में थीं कि बीच में बहती यमुना की तेज धारा को पार करके मुनि के आश्रम तक पहुंचें कैसे. भगवान् श्रीकृष्ण ने उनकी समस्या को सुन कर उनसे कहा,''श्री यमुनाजी से कहो कि यदि श्रीकृष्ण बालब्रह्मचारी हों तो यमुनाजी उन्हें मार्ग दे दें" (यदि कृष्णो बालयतिः सर्वदोषविवर्जितः। तर्हि नो देहि मार्गं वै कालिन्दि सरितां वरे - गर्ग संहिता)

इस प्रकार प्रार्थना करने पर गोपियों को मार्ग मिल गया. उन्होंने दुर्वासा मुनि की विधिवत् पूजा की. अनेक प्रकार के स्वादिष्ट पकवान अर्पित करके उन्हें तृप्त किया. ऋषि के उपदेश सुनने के बाद जब गोपियां चलने को हुईं, तो उन्होंने उनसे भी यमुना पार करने में सहायता की याचना की. दुर्वासा ऋषि ने कहा, ''श्री यमुनाजी से कहो कि यदि दुर्वासा दूर्वारस के अतिरिक्त कोई अन्नजल ग्रहण न करते हों, तो यमुनाजी उन्हें मार्ग दे दें" गोपियों ने ऐसा ही किया और उन्हें मार्ग दे दिया गया. लौट कर गोपियों ने श्रीकृष्ण से कहा, ''तुम झूठे, तुम्हारे गुरू दुर्वासा झूठे,

और वह यमुनाजी भी झूठी, जिन्होंने झूठ को सत्य मान कर हमें मार्ग दिया." "जिसे हमने अपने हाथों से भोजन कराया वह कहता है कि मैंने कुछ खाया ही नहीं, जिसके सुमधुर स्पर्श के स्मरण मात्र से हमारा रोम रोम पुलकित हो उठता है, वह अपने को बालब्रह्मचारी कहता है. ऐसा भी झूठ कहीं सुना है ?"

वास्तव में श्री यमुनाजी ने योगेश्वर श्रीकृष्ण और गुरू दुर्वासा के समस्त विकार-निमित्तों के बीच उस अविकारी स्वरूप को देखा, जिसे देख कर गोपियां तो क्या योगीजन भी उलझन में पड़ जाते हैं. भगवान् श्रीकृष्ण वृज की गोपियों के सामने अपने स्थितप्रज्ञ योगेश्वर स्वरूप के रहस्य को प्रगट करना चाहते थे. इसे समझाने के लिए यदि वे गोपियों को *'आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं --- '* सुनाते तो उनकी दशा वही होती जो उद्धवजी की हुई थी. गोपियों के पल्ले तो कुछ न पड़ता और नई समस्याएं खड़ी हो जातीं. लीला के द्वारा भगवान् ने गोपियों को उस रहस्य का साक्षात्कार करा दिया जिसे हृदयंगम करने में तत्त्ववेत्ताओं को भी लम्बी साधना का सहारा लेना पड़ता है. जगद्गुरू की यह लीला वस्तुतः जीवन्त व्याख्या है *'आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं'* श्लोक की.

३. "*विहाय कामान्यः सर्वान्...*"

शान्ति : त्याग की साधना का तार्किक विश्रान्तिबिन्दु : कामना सकामप्रवृत्ति का, सकामप्रवृत्ति फलाभिसंधि का, फलाभिसंधि व्यग्रता का हेतु होने से, कामना में ही अशान्ति के मूल का निश्चय होता है. जिसने उपयुक्त साधना के द्वारा कामनाओं के रूप में प्राप्त अशान्तिमूल का विसर्जन कर दिया है, वही शान्ति को पाता है :

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमाश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति।।७१।।

समस्त कामनाओं का परित्याग करके जो पुरुष निष्पृह हो कर विचरण करता है, निर्मम और निरहंकार, वह शान्ति को प्राप्त कर लेता है.

३.१. श्लोकार्थ की संरचना : कामनाओं का परित्याग, उससे शान्ति का अधिगम, ये श्लोक के आद्यन्त कथ्य हैं. इनके बीच में दो वाक्यांश आते हैं : *'यः पुमांश्चरति निस्पृहः'* तथा *'निर्ममो निरहंकारः'*. ये वाक्यांश बड़े ही महत्त्वपूर्ण रूप से कामनाओं के त्याग की साधना के फलस्वरूप

व्यक्तित्व के रूपान्तरण का विवरण प्रस्तुत करते हैं.

३.२. कामनाओं के त्याग का फलितार्थ :

व्यक्तित्व का रूपान्तरण : कामनाओं का त्याग, वस्तुओं के त्याग की भांति हस्तान्तरण मात्र से सम्पन्न नहीं होता. इसमें अन्तर्निहित होती है सम्पूर्ण व्यक्तित्व के रूपान्तरण की साधना, कारण कि मनोपदार्थ रूप में कामनाएं व्यक्तित्व की संरचना में सन्निविष्ट होती हैं. यह रूपान्तरण *आभ्यन्तर* और *बाह्य* द्विधा संस्कारों के रूप में प्राप्त होता है.

३.३. आभ्यन्तर संस्कार :

'*निर्ममो निरहंकारः*' का अर्थ : काम्य विषय में आसक्ति और भोगाधिकार, ये कामना के द्विधा विमर्श हैं. विषय में आसक्ति को **ममत्व** तथा विषय पर भोगाधिकार को **अहंकार** कहते हैं. ये दोनों कामनाविमर्श मिल कर व्यक्तित्व के तात्त्विक आधार में एक व्यावहारिक कल्प का सृजन करते हैं. कामना के परित्याग का अर्थ है विषयासक्ति (ममत्व) और अहंकार (भोगाधिकार) का त्याग —उस प्रतीयमान व्यक्तित्वकल्प का परित्याग जो तात्त्विक स्वरूप में एक संकुचित स्वरूपाभास का सृजन करता है. स्पष्ट है *'निर्ममो निरहंकारः'* यह वाक्यांश *'विहाय कामान्यः सर्वान्'* इस मूल कथन में कहे कामनाओं के विसर्जन से प्राप्त आभ्यन्तर संस्काररूप का विवरण है.

३.४. बाह्य संस्कार :

'*यः पुमांश्चरति निःस्पृहः*' का अर्थ : यथोक्त विमर्श से भिन्न, कर्म पर आरूढ हो कर फलोन्मुख सञ्चरण, कामना का दूसरा आयाम है, बहिर्मुख, एवं फलपर्यन्त विस्तीर्यमाण. कामना के त्याग के बाद यहां जो बच रहता है वह है निस्पृह संचरण मात्र. यह निस्पृह संचरण कामना के विसर्जन से प्राप्त बाह्य संस्कार है. निकट से देखें तो *'विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निस्पृहः'* यह कथन पूर्वोक्त *'रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्'* की ही अनुगूंज है.

ये स्थल इसलिए ध्यान देने योग्य हैं क्योंकि ये *'चरन्'* शब्द के सुविचारित प्रयोग के द्वारा उस दायरे की पहचान करते हैं, जो कामना की चपेट से मुक्त कराया जा चुका है. निष्काम कर्म के लोकप्रसिद्ध निदर्शन अनैच्छिक क्रियाओं में मिलते हैं, यथा — सांस लेना, छींकना, जमुहाई लेना, पलक झंपकना आदि. ये अनैच्छिक कर्म परतंत्र होने से नैतिक-धार्मिक गवेषणा की दिलचस्पी का विषय नहीं हो सकते. प्रकृत में *चरन्* शब्द के द्वारा जिस कामनाविमुक्त कर्मक्षेत्र की पहचान

की जा रही है, वह बन्धन से मुक्ति का आलेख है, स्वरूपनिष्ठ - स्वातन्त्र्य का निर्व्याज व्यवहार. यह साधना के द्वारा तराशी गई, ऐसी कर्मभूमि है, जिसमें समस्त स्वर्थानुबंघों से मुक्त महापुरुष ईश्वरेच्छा का साधन बनते हुए, लोकहित के लिए कर्म करते रहते हैं.

४. *'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ' ...'* :

'ब्राह्मी स्थिति' : एक साधना-निर्मित-प्रस्थानपीठ :

कामनाएं अस्थिरता का मूल हैं, और अस्थिरता अशान्ति का. कामना-निराकरण की यथोक्त साधना की तार्किक परिणति है शान्ति. *'स शान्तिरधिगच्छति'* यह बात स्थितप्रज्ञभाव के साधक के सम्बन्ध से कही गई है. जहां तक स्थितप्रज्ञ की बात है उसके लिए शान्ति 'अधिगम' नहीं स्वभाव है. कुछ लोगों के विचार में यह शान्ति ही परमार्थ है; इससे आगे और कोई प्राप्तव्य नहीं हो सकता. दूसरे ऐसे हैं, जो शान्ति को परमार्थ के पूर्वकल्प की (परमार्थ से पहले की अवस्था की) मौलिक पहचान मानते हैं. शान्तिलक्षणस्थितप्रज्ञ परमार्थ में निर्णायक समर्पण के लिए प्रस्थानपीठ है, ऐसा मानने वालों को ध्यान में रखते हुए अग्रिम श्लोक प्रवृत्त होता है :

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।।७२।।

हे अर्जुन ! यह 'ब्राह्मी स्थिति' है; इसे पा कर कोई फिर कोई मोह को प्राप्त नहीं होता. अन्तकाल में भी इसमें कोई स्थित हो जाए तो ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त कर लेता है.

साधना का अन्तिम पड़ाव है स्थितप्रज्ञ. इसी को बताने के लिए इसके लिए *'ब्राह्मी स्थिति'* शब्द का प्रयोग हुआ है. परमार्थ का पूर्वकल्प होने से यह उसके आश्वासनों का पूर्वाभास है. इनमें पहला है अपने स्थान में अविच्युति का आश्वासन *(नैनां प्राप्य विमुह्यति)*, तथा दूसरा है परमार्थावगति का आश्वासन *(ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति)*.

यह श्लोक धर्मदर्शन के परिकल्प रूप में स्थितप्रज्ञ की केन्द्रीय भूमिका को रेखांकित करता है. अतः इसकी बिन्दुवार व्याख्या होनी चाहिए.

४.१. स्थितप्रज्ञभाव की परिपक्व अवस्था : *'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ'* यह वाक्य, प्रकरण प्राप्त *स्थितप्रज्ञ* को संकेत का विषय बनाते हुए, उसी की परिपक्व अवस्था को ब्रह्मीस्थिति नाम देता

है. *'नैनां प्राप्य विमुह्यति'* यह कथन अवस्था की परिपक्वता को बताता है. *'निर्दोषं समं ब्रह्म'* इस लक्षण के अनुसार *ब्राह्मी स्थिति* का अर्थ हुआ' 'निर्दोष, समभाव में स्थिति'. यह स्थितप्रज्ञ के अर्थ का ही विवरण है.

४.२. परमार्थावगति का पूर्वकल्प :

पूर्वकल्प का अर्थ है ठीक पहले की अवस्था, जो अव्यवहित पश्चात् का पूर्वाभास भी होता है और उस तक पहुंचने के लिए प्रस्थानपीठ भी. *'एषा ब्राह्मी स्थिति: पार्थ'* इस उपक्रम और *'ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति'* इस उपसंहार के बीच यथोक्त पौर्वापर्य सम्बन्ध सुव्यक्त है. *ब्राह्मी स्थिति* अर्थात् परिपक्व स्थितप्रज्ञभाव परमार्थ का पूर्वकल्प है, उसकी प्राथमिक ज्ञप्ति. मोक्ष की पहली झलक हमें यहीं, इसी दुनियां में **'स्थितप्रज्ञ'** में देखने को मिल जाती है.

४.३. अनन्त की यात्रा का अन्तिम पड़ाव :

ब्राह्मी स्थिति (स्थितप्रज्ञभाव) साधना का अन्तिम पड़ाव है. इसे साधना की चरमोपलब्धि भी कहा जा सकता है. इसकी दो विशेषताएं बताईं. पहली, यह कि यहां तक पहुंच कर फिर मोह में विच्युति नहीं होती. दूसरी, यह कि जीवन की अन्तिम वेला में भी कोई इस में स्थित हो जाए, तो ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त कर लेता है : *स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति*

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि स्थितप्रज्ञभाव (ब्राह्मी स्थिति) ही उद्धारक पीठ है. प्राणी स्वयं अपनी साधना के द्वारा अपने भीतर इसका निर्माण करता है. ध्यान देने की बात यह है कि यहां किसी पीर पैगम्बर या अवतारी पुरुष को उद्धारक रूप में प्रस्तुत नहीं किया गया है. उद्धारक प्रज्ञा के गर्भगृह में यदि कोई अपनी श्रद्धा के मूर्त आलम्बन की प्रतिष्ठा करे तो गीता को इससे कोई अन्तर नहीं आता : *आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमाप: प्रविशन्ति यद्वत्.* गीता में इसके लिए न अनुमोदन है न विरोध. अपने साम्प्रदायिक विनिश्चयों के कोलाहलों के बीच गीता की तटस्थता स्थितप्रज्ञभाव का साक्षात् निदर्शन है. यह बात फलोक्ति विचार से और स्पष्ट हो जाती है.

४.४. *'ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति'*: फलोक्ति के निहितार्थ :

'ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त करता है', इस वाक्य में **'ब्रह्मनिर्वाण'** एक विलक्षण प्रयोग है. परम्परा में ऐसा शब्द प्रयोग देखने को नहीं मिलता. इसके बारे में ध्यान देने लायक बात यह है कि यह वेदान्त और बौद्ध मतों के मोक्षपर्यायों का संग्रह करते हुए परमार्थ को एक सम्प्रदायनिरपेक्ष

प्रस्तुति देता है. इसे अनेक तरह से समझ जा सकता है. लेकिन संग्रह के बजाय इसकी पर्युदास मान कर व्याख्या करना ही उचित होगा, क्योंकि साम्प्रदायिक विनिश्चय या विनिश्चयों का कोई भी संग्रह, कितना भी व्यापक क्यों न हो, सम्पूर्ण नहीं हो सकता.

परमार्थ न वेदान्त है न बौद्ध और न उनका संग्रह. निःसंदेह सभी साम्प्रदायिक विनिश्चय परमार्थ के ही प्रकाशन हैं; उसी में सहभाग के द्वारा प्रामाणिक बनते हैं. लेकिन किसी भी विनिश्चय में या विनिश्चयसंग्रह में यह सामर्थ्य नहीं होती कि वह परमार्थ की शाब्दिक प्रतिकृति बन जाए, उसे रीता कर दे, नाप ले और उसे संहिताबद्ध करके रख दे. *ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति* का यह अर्थ नहीं है कि वेदान्त के ब्रह्म और बौद्धों के निर्वाण को एक साथ प्राप्त करता है. इसका अर्थ है ब्राह्मी स्थिति को प्राप्त हुआ व्यक्ति, वेदान्त और बौद्धादि मतों के साम्प्रदायिक विनिश्चयों से परे, उनसे उपलक्षित जो परमार्थ है उसे प्राप्त कर लेता है. '**ब्रह्मनिर्वाण**' पद की परिकल्पना, तत्त्वदर्शन से अलग, धर्मदर्शन के शास्त्ररूप में गीता की हैसियत को रेखांकित करती है.

जो व्यक्ति यहां तक पहुंच जाता है, उसका पुनः बंधन में पतन नहीं होता (*नैनां प्राप्य विमुह्यति*), क्योंकि यहां तक पहुंचने की साधना वस्तुतः बंधन के उपादानों के क्षरण की ही साधना है.

४.५ *'स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि'* का अर्थ :

इस वाक्यांश का दो प्रकार से अर्थ किया जा सकता है. **अन्तिम समय में भी इसमें टिके रह कर** (ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त कर लेता है), यह एक अर्थ है. '**जीवन के अन्तिम काल में इसमें स्थित हो जाए तब भी**' (ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त कर लेता है), यह दूसरा अर्थ है'. इनमें प्रथम अर्थ समीचीन नहीं है क्योंकि यह ब्राह्मीस्थिति से विच्युति की सम्भावना पर आधारित है जो *'नैनां प्राप्य विमुह्यति* से बाधित है. अतः दूसरा अर्थ, *"जीवन के अन्तिम चरण में भी यदि व्यक्ति स्थित प्रज्ञता की स्थिति में पहुंच जाता है तो वह ब्रह्मनिर्वाण को प्राप्त होता है,"* ही समीचीन है.

५. संग्रह और उपसंहार :

५.१. स्थितप्रज्ञ की परिकल्पना : दूसरे अध्याय की परमोपलब्धि : मानव के बंधन और उद्धार के आधार उसी के भीतर हैं. गीता के दूसरे अध्याय का चिन्तन, धर्मदर्शन की इस मान्यता को आकार देने की ओर अग्रसर होता है. व्यक्तित्व का प्रतीयमान लौकिक मूल्यानुबंध ही बंधन

है, जब कि उसके तात्त्विक स्वरूप की अवगति का ही नाम है उद्धार. सर्वप्रथम साधना के द्वारा व्यक्तित्व को तराश कर, उसके के भीतर एक उद्धारकपीठ का निर्माण होता है. मूर्तरूप में इसे *स्थितप्रज्ञ* तथा भावरूप में इसी को *ब्राह्मी स्थिति* नाम दिया गया है.

साधना के द्वारा, जो सांख्य या योग में से कोई भी हो सकती है, यह परिष्कृत व्यक्तित्वपीठ, बद्ध और मुक्त के बीच, मुक्ति को छूता, बद्ध में मुक्ति का निकटतम पर्याय है. प्रयाग में जहां गंगा और यमुना मिलती हैं वहां अथाह जल राशि है. वहां स्नान करना आसान नहीं है. इस संगम में निरापद स्नान के लिए मल्लाहों ने जल के बीच प्लेटफार्म बना रखा है, लकड़ी के तख्त का. श्रद्धालुजन नाव से वहां तक पहुंचते है, और गंगा और यमुना की धाराओं के बीच स्थित उस प्लेटफार्म पर उतर कर संगम में स्नान का पुण्यलाभ लेते हैं. स्थितप्रज्ञ की कल्पना एक ऐसे ही प्लेटफार्म के रूप में की गई है, जो लोक और परमार्थ का मिलनबिन्दु है जहां खड़े हो कर परमार्थ को छुआ जा सकता है, जहां से उद्धार केवल समय की बात है.

जिसे चलना है, उसका जागना जरूरी है. जिस व्यक्ति का उद्धार होना है, वह अपने स्वरूप के बारे में निश्चित हो तभी उद्धार की बात सोच सकता है. जो अपने बारे में अनिश्चित है, जिसकी अपनी पहचान कामनाओं के तूफान में धूमिल हो चुकी है, विषयाभिमुखी वृत्तियों के कारण जो इधर उधर भागता रहता है, उसमें प्रयत्न की बात तो दूर उद्धार का संकल्प बनना भी मुश्किल है. अतः सर्वप्रथम गीता स्थितप्रज्ञ के रूप में व्यक्तित्वसंग्रह की बात सामने रखती है. स्थितप्रज्ञ उद्धार के लिए प्रस्तुत व्यक्तित्वकल्प का नाम है, जिसे उद्धारपीठ और उद्धारक-कल्प दोनों ही रूपों में समझा जा सकता है. साधना द्वारा परिष्कृत व्यक्तित्व ही साधक के लिए उद्धारक निमित्त बन सकता है. इंसान और उसके भगवान् के बीच किसी बाह्यनिमित्त या बिचौलिए की परिकल्पना अपरिहार्य नहीं है.

यह गीता धर्मदर्शन की, मौलिक परिकल्पना है, जो ईश्वरवादी से अनीश्वरवादी पर्यन्त, सगुण से निर्गुणोपासना पर्यन्त, हिन्दूपरिवेश को ही नहीं, वैश्विक आस्था-परिवेश को भी समेंटने की सामर्थ्य रखता है. यह मध्यस्थ परम्परा ही है (अवतारी पुरुष और अवतरित-संदेश के रूप में), जो आस्था इकाइयों के बीच भेद और असहिष्णुता को जन्म देती है. इसकी अपरिहार्यता को नकारते हुए, मनुष्य के भीतर ही स्थितप्रज्ञ के रूप में, एक साधनानिर्मित उद्धारक पीठ की

परिकल्पना एक असाधारण महत्त्व का योगदान है. धर्मदर्शन की दृष्टि से इसकी अन्य सम्भावनाओं का संज्ञान आगे लिया जाएगा.

५.२. विधि के लिए पूर्णता की भूमि :

शास्त्रों के अर्थ शुद्धान्तःकरण में ही उपपन्न होते हैं. अपेक्षित आभ्यन्तर परिष्कार के बिना शस्त्रार्थविनिश्चय जिन बुद्धि (ज्ञान) और आचरण (कर्म) के संकल्पनों को धर्मरूप में प्रस्तुत करते हैं, वे अधिकतर शब्दविभ्रम पर टिके, आस्थाभास मात्र होते हैं, उपहासास्पद की हद तक अविश्वसनीय एवं अविवेकपूर्ण. कोई आश्चर्य नहीं कि धर्मविधान का अक्षरशः पालन करने वाले, अक्सर क्रूर, विवेकहीन, अर्थलोलुप, सौविध्यपथगामी और वास्तविक शीलसम्पदा से रहित देखे जाते हैं. यदि वे विद्वान् हैं तो काम और आसान हो जाता है. वे शास्त्रों में ही सुविधाजनक आचरण की राह निकाल लेते हैं.

मन की साधना के बिना विहिताचार मिथ्याचार बन कर रह जाता है. तात्पर्य यह कि शुद्धान्तःकरणोपलक्षित स्थितप्रज्ञभाव सभी धर्मविधानों के सार्थक विनियोग की भूमि है. अपने भीतर साधना के द्वारा निर्मित इस आधारभूमि पर उतरे बिना कोई भी विधान अपनी सम्भावनाओं को पूरी तरह उजागर नहीं कर पाता; विधि कर्मकाण्डमात्र बन कर रह जाती है, विजड़ित और अपने शील के आदर्श से दूर —

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
अहंकारविमूढ़ात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।

५.३. विधि का शील में रूपान्तरण :

विधि आचरणपर्याय को जन्म दे कर उपक्षीण हो जाती है. मन का परिष्कार न तो उसका प्रयोजन होता है और न ही उसकी सामर्थ्य. अभ्यास के द्वारा यह कर्मकाण्ड का रूप लेती है. अपने कर्मविग्रह पर सम्मोहित, यथाविधि सम्पादन से कृतकृत्य, कर्मकाण्ड में चरित्र के परिष्कार की कोई आकांक्षा नहीं होती. चरित्र का संस्कार शील से होता है, विधि या कर्मकाण्ड से नहीं. दोनों में जो अन्तर है उसे ठीक से समझ लेना चाहिए.

विधि, निरोध से मूल्यवान् बनती है, शील स्वभाव से. विधि का अनुशासन बहिरंग होता है, शील आभ्यन्तर सम्पदा का नाम है. निरोध केवल आचरण का अनुशास्ता होता है, शील सम्पूर्ण

व्यक्तित्व का. विधि सदाचार है तो शील चरित्र. विधि मूल्य की एकांगी एवं निरपेक्ष धारणा है, जब कि शील मूल्य के व्यापक संदर्भों में उद्धार की गाथा. इनके अन्तर को उदाहरण से समझा जा सकता है.

धर्मानुशासन का पालन करते हुए सूद न लेना यह विधि है. जरूरतमंद लोगों की सहायता में सहज तत्पर होना, यह शील है. निरुपाधिक होने से शील मूल्यचेतना की उच्चतर कोटि है. शील में रूपान्तरित होने में ही विधि की सार्थकता है. यह रूपान्तरण एक परिष्कृत व्यक्तिक्षेत्र को परिकल्पित करता है. उसी को गीता में स्थितप्रज्ञ नाम दिया गया है. यह परिष्कृत व्यक्तिक्षेत्र साधना के द्वारा अपने भीतर विकसित किया जाता है. जिसके भीतर यह विकसित हो जाता है, उसका पुनः मोह में पतन नहीं होता (**नैनां प्राप्य विमुह्यति**). इसमें प्रतिष्ठित व्यक्ति स्वयं अपना उद्धारक होता है – ***स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति.***

५.४. विभिन्न धर्मों के बीच संवाद की भूमि :

दूसरे अध्याय के विभाग — सांख्यबुद्धि, और योगबुद्धि — दोनों ही व्यक्ति के भीतर उद्धारक-फलक के निर्माण की अलग अलग साधनाओं का निरूपण हैं. साधनानिर्मित यह व्यक्तित्वफलक, अलग अलग शास्त्रविधानों पर टिके, ऐकान्तिक वर्चस्व के लिए एक दूसरे से उलझते धर्मसमूहों के बीच संग्रह, सहभाव और पारस्परिक समझ की भूमि उपलब्ध कराता है. हिन्दुओं में योगी और सन्त, इस्लाम में सूफी, ईसाई परम्परा के रहस्यवादी, एक प्रकार से स्थितप्रज्ञ के ही पर्याय हैं. दुर्भाग्य की बात है कि हिन्दुओं को छोड़ कर, ठेठ पुस्तकपंथी ईसाई और इस्लामादि धर्मों ने आस्था की इन गैर-पारम्परिक सम्भावनाओं को सदा संदेह की दृष्टि से देखा. रहस्यवादी साधकों और सूफी सन्तों की साधना को शैतानी भटकाव मानते हुए हर दौर में उनका उत्पीडन किया गया.

सच पूछें तो इसमें इन मतों का कोई दोष था भी नहीं. इन ठेठ पुस्तकपरायण धर्मों के पास, ऐसा कोई चिन्तन, कोई मार्गदर्शन था ही नहीं जो आस्था के उस व्यापक परापुस्तकीय आधार का अनुसंधान कर सके, जिसमें अ-पुस्तकीय को मान्यता मिल सकती, या आगे चल कर, पुस्तकीय और तद्भिन्न का संग्रह हो सकता. वस्तुतः आस्था की ऐकान्तिक-पुस्तकीय अवधारणा में ऐसे किसी चिन्तन की अनुमति भी नहीं है.

इन धर्मो के पास शास्त्रविधान थे, उपासना की अपनी अपनी विहित पद्धतियां थीं, अवतारी पुरुषों के चमत्कारों से भरी पुरागाथाएं थीं, लेकिन परमात्मा की सर्वोत्कृष्ट सृष्टि मानव के आभ्यन्तर वैभव के बारे में इनमें कोई चेतना नहीं थी; इनकी पुरागाथाएं मानव को एक पापपूर्ण सृष्टि के रूप में निरूपित करती थीं. फिर मानव के आध्यात्मिक वैभव की सम्भावनाओं को साकार करती साधना के लिए इनकी आस्था में स्थान दिया जाए, यह सवाल ही नहीं उठता.

यह साधना ही है – तत्त्वज्ञान (सांख्य) के रूप में हो या योग के रूप में – जो अपने सार्वभौमिक स्वरूप के कारण विभिन्न धर्मों को जोड़ती हैं, जब कि शास्त्रविधान, उपासना की पद्धतियां, अवतारी आलम्बन, अपने मूर्त स्थानीय विग्रह के कारण, अलगाव को जन्म देते हैं, और धर्म के नाम पर समाज को बांटते हैं. इस रहस्य को निकट से समझते हुए, गीता का दूसरा अध्याय आस्था के परापुस्तकीय आदर्श की ओर आवाहन करता है : *त्रैगुण्यविषया: वेदा: निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन.*

५.५. सवाल करती बुद्धि और मौत के फतवे :

इस संसार के धर्मपरिदृश्य की यह अद्भुद् विरुद्धार्थ ग्रन्थि है कि निराकार के मूर्तिभंजक उपासकों की आस्था —सातवें आसमान में तख्त पर विराजमान परमात्मा, अवतारी पुरुष (पैगम्बर) और अवतरित किताब (शब्दविग्रह) — इन तीन मूर्त आलम्बनों पर टिकी है, इस कदर कि उनमें से किसी में भी दरार की आशंका मात्रसे आस्था का सारा का सारा महल थरथराने लगता है. उनके बारे में सवाल उठाने की मनाही है. अतः अवतरित पुरुष या ग्रन्थ के बारे में उठते सवालों का मुंह बंद करने के लिए, उग्र प्रदर्शन, मौत के फ़तवे और सवाल उठाने वालों को आतंकित करके चुप कराना, यह सब आवश्यक धार्मिक अनुष्ठान की हैसियत प्राप्त कर लेते हैं. यह इंसानी फितरत ही है कि इस सब के वाबजूद सवाल उठते रहते हैं, जवाब मांगते रहते हैं. और जवाब में कायम रहता है मौत के फतवों का सिलसिला.

भला बुत भी कभी आखिरी होते हैं, पत्थर में तराशे हों या किताब में या अवतारी पुरुष में. आखीर की हद तक तराशे ये बुत इस कदर नाजुक होते हैं कि तलवार ले कर इनकी पहरेदारी करते रहना हर पुस्तकपंथ की अफसोसनाक मजबूरी है. आखिरी किताब पर जा कर सारे रास्ते बंद हो जाते हैं, एक अंधेरी बंद सुरंग की तरह.

हिन्दू परिदृश्य क्वचिद् भिन्न है. वेद उनके आर्ष ग्रन्थ हैं जो संसार में प्रथम दिव्यवाक् होने के कारण ही उनके लिए आखिरी भी हैं, क्योंकि सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमात्मा को लिख कर काटने की, अपने लिखे में संशोधन करने की आवश्यकता नहीं पड़ती. लेकिन हिन्दू-परिदृश्य की विशेषता यह है कि वह आर्ष ग्रन्थों के समनन्तर ही तत्त्वदर्शन, योग और तन्त्र की गुह्य साधनाओं को आस्था में स्वीकार करता है. शास्त्रों के समनन्तर, साधना की ताज़ी बयार आस्था को विजड़ित होने से बचाती है, उसे अपने परा-पुस्तकीय आधार के अनुसंधान की ओर प्रवृत्त करती है.

६. धर्म-परिदृश्य की एक मुखर विरुद्धार्थग्रन्थि :

आस्था में साधना की स्वीकृति जहां हिन्दू धर्म को एकांगी, शास्त्रविजड़ित होने से बचाती है, वहीं आस्था के परापुस्तकीय परमार्थ को प्रकाशित करती है, जो निराकार होने से सभी धर्मों के बीच संवाद और सहभाग की भूमि है. **मूर्तिपूजक हिन्दू की आस्था का आधार परापुस्तकीय है, अमूर्त है, और अमूर्त होने के कारण निर्भयता की भूमि भी. इससे भिन्न मूर्तिभंजकों की आस्था मूर्त आलम्बनों में विजड़ित और सतत भयाक्रान्त रहती है. मूर्ति के टूटने का भय अगर सचमुच कहीं देखना है तो मूर्तिभंजकों की चिन्ताओं में देखिए, कभी शरियत कानून के लिए तो कभी अपनी किताब और पैगम्बर के सम्मान के लिए उनकी बेचैनी में इसे बखूबी देखा जा सकता है. आज के धर्मपरिदृश्य की यह विरुद्धार्थता आधारभूत धर्मचिन्तन के लिए मुखर आमन्त्रण है.**

७. स्थितप्रज्ञ सन्त : धर्म की सार्वभौमिकता का मूर्तिमान विग्रह :

अपनी ऐकान्तिक प्रतिष्ठा के लिए आग्रह करने से कोई धर्म सार्वभौमिक नहीं होता. किसी धर्म की सार्वभौमिकता का रहस्य इस बात में है कि उसमें दूसरों की आस्था के साथ संवाद के सैद्धान्तिक आधार मौजूद हैं. संवाद के आधार से तात्पर्य है, केवल दूसरों को बर्दाश्त करने के नहीं बल्कि आस्थाबहुत्व की स्वीकृति और उसके प्रति सम्मान के सैद्धान्तिक आधार. अपनी आस्था में दूसरों की आस्था के लिए जगह बनाने की सामर्थ्य, बिना किसी मिशनरी गतिविधि के ही उस आस्था को सार्वभौमिक बना देती है. आस्था में पर की मान्यता जिस अन्तर्विराध को जन्म देती है, उसका परिहार, अपने मूर्तिमान् विग्रह के परे, वस्तुतः समस्त धर्मविग्रहों से परे, आस्था के एक व्यापक निराकार सर्वधर्मसामान्य परमार्थ के अनुसंधान को

अपरिहार्य बना देता है. यह अनुसंधान ही धर्मदर्शन का रूप लेता है. बहुत्ववादी हिन्दू-संदर्भ में ही गीता जैसे धर्मदर्शन के शास्त्र का प्रणयन सम्भव हो सका. जो बहुत्वाद को स्वीकार ही नहीं करते, जिनके लिए अपने धर्मविग्रह के अतिरिक्त अन्य सभी धर्म शैतानी भटकाव हैं, ऐसे किसी ऐकान्तिक पुस्तकपंथ के परिवेश में गीता जैसे धर्मदर्शन के शास्त्र की कल्पना भी नहीं की जा सकती.

संयम में प्रतिष्ठित साधक सभी धर्म-सम्प्रदायों के बीच एक स्वीकृत, सर्वसामान्य सिद्धान्त कल्प है. आस्था का यह फकीरी आदर्श है जिसे संसार के सभी धर्म किसी न किसी रूप में स्वीकार करते हैं. सांख्य और योग की साधनाओं के द्वारा इसके निर्माण की सम्भावित प्रक्रिया का निदर्शन कराते हुए, स्थितप्रज्ञ नाम से आस्था के इस परातलीय, परापुस्तकीय सार्वभौमिक कल्प की प्रतिष्ठा गीता के दूसरे अध्याय की अनन्य उपलब्धि है. इसे रेखांकित करती, नीचे दी गई पुष्पिका के साथ अध्याय का उपसंहार होता है :

इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन संवादे सांख्ययोगो नाम द्वितीयोऽध्यायः।

उक्त पुष्पिका अध्याय को सांख्ययोग नाम देती है. सांख्य (ज्ञान) और योग (कर्म) आस्था के 'विस्तार' और 'गहराई' के मानदण्ड हैं जो क्रमशः उसके सार्वभौमिक और व्यक्तिप्रमाण अर्थों को निर्धारित करते हैं. इनके बीच प्रत्येक हिन्दू, वस्तुतः प्रत्येक प्रबुद्ध आस्थावान् अपने लिए प्रामाणिक आस्था का अनुसंधान करता है. गीता का दूसरा अध्याय, सांख्य-योग-विचार के रूप में उस आधारभूत आस्थाफलक को रेखांकित करता है जिस पर निर्मित है १८ अध्यायों का गीता के धर्मचिन्तन का प्रासाद.

■ ■ ■

लेखक के प्रकाशित ग्रन्थ :

1. **The Concept of self-luminosity of Knowledge in Advaita-Vedanta**

2. **Re-Visiting Sakuntalam -- A Commentary on Goethe's Sakuntala-Epigram**

3. **श्रीमद्भगवद्गीता-धर्मदर्शन-भाष्यम् (प्रथमो भागः)**

4. **श्रीमद्भगवद्गीता-धर्मदर्शन-भाष्यम् (द्वितीयो भागः)**

5. **श्रीमद्भगवद्गीता-धर्मदर्शन-भाष्यम् (तृतीयो भागः)**

प्रकाश्य ग्रन्थ :

१. **श्रीमद्भगवद्गीता-धर्मदर्शन-भाष्यभूमिका**

३. **श्रीमद्भगवद्गीता-धर्मदर्शन-भाष्यम् (चतुर्थो भागः)**